शोध
दिशा

ISSN 0975-735X

शोध अंक 8 जुलाई-दिसंबर 2009 100 रुपए

संपादकीय कार्यालय
हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ॰प्र॰)
फोन : 01342-263232
ई-मेल : giriraj3100@rediffmail.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय
दिल्ली एन॰सी॰आर॰
अनुभूति
सी-106, शिव कला
बी 9/11, सैक्टर 62, नोएडा
फोन : 09928570700

राजस्थान
अंकुर गोयल
402, यूनीक सांघी अपार्टमेंट
सांघी फार्म, महावीर नगर, जयपुर (राज॰)
फ़ोन : 0141-2722548, 09351553454

हरियाणा, हिमाचल एवं पंजाब
डॉ॰ हरिशरण वर्मा
710/35 जनता कालोनी
रोहतक (हरियाणा) 124001
फोन : 01262-248211, 09355676460

संपादक
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

प्रबंध संपादक
डॉ॰ मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक
मनोज अबोध

सह संपादक
डॉ॰ रश्मि त्रिवेदी

कला संपादक
गीतिका गोयल
अनुभूति

उपसंपादक
डॉ॰ अशोककुमार

विधि परामर्शदाता
अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता
ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी॰ए॰

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

शुल्क
वार्षिक शुल्क : चार सौ रुपए
यह प्रति : एक सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डा॰ गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी आफसैट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डा॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

डॉ. आर.पी.सिंह (पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय) प्राचार्य बरेली कॉलेज, बरेली (उ.प्र.)
डॉ. अशोक चक्रधर, प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
डॉ. हरिमोहन, प्रोफेसर हिंदी विभाग, के.एम.मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
डॉ. हरमहेंद्रसिंह बेदी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर
डॉ. रामसजन पांडेय, प्रोफेसर हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
डॉ. योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
डॉ॰ शारदा शर्मा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, मु॰ला॰एवं ज॰ना॰क॰महाविद्यालय, सहारनपुर (उ.प्र.)
डॉ. मुकेश गर्ग, रीडर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
डॉ. माया टाक, प्रोफेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
डॉ. संतराम वैश्य, प्रोफेसर हिंदी विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)
डॉ. लालबहादुर रावल, प्राचार्य, आर.एस.एम. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, धामपुर (उ.प्र.)
डॉ. मंजुलाकुमार, प्राचार्या, रानी भाग्यवती देवी महिला महाविद्यालय, बिजनौर (उ.प्र.)
डॉ. हरिशरण वर्मा, 710/35 जनता कालोनी, रोहतक (हरियाणा) 124001
डॉ. महेश दिवाकर, अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुलाबसिंह कॉलेज, चाँदपुर (उ.प्र.)
डॉ. मिथिलेश दीक्षित, अध्यक्ष हिंदी विभाग, बी.डी.एम॰एम॰ महिला महाविद्यालय, शिकोहाबाद (उ.प्र.)
डॉ. महेशचंद्र, रीडर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ.प्र.)
डॉ. शंकरलाल शर्मा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, आर.एस.एम. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, धामपुर (उ.प्र.)
डॉ. आद्याप्रसाद द्विवेदी, पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, सतीशचंद्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया
डॉ. जितेंद्र वत्स, रीडर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
डॉ. शंभुनाथ तिवारी, रीडर हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भीलवाड़ा (राज.)
डॉ. सुरेंद्र विक्रम, अध्यक्ष हिंदी विभाग, लखनऊ क्रिश्चियन कॉलेज, लखनऊ (उ.प्र.)
डॉ. श्यामधर तिवारी, प्रोफेसर हिं॰वि॰, संघटक महाविद्यालय पौड़ी, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर
डॉ. प्रवीणकुमार वर्मा, रीडर हिंदी विभाग,च सनातन धर्म कॉलेज, पलवल (हरियाणा)
डॉ. संतोषकुमार गौड़ रीडर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ.प्र.)
डॉ. उषारानी वर्मा, रीडर हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रुद्रपुर (उत्तराखंड)
डॉ. सभापति मिश्र, अध्यक्ष हिंदी विभाग, हंडिया पोस्टग्रेजुएट कॉलेज, हंडिया (इलाहाबाद)

कुछ बातें आपके साथ

‘शोध-दिशा’ का ‘शोध अंक : आठ’ आपके सामने है।

शोध निरंतर चलती रहनेवाली प्रक्रिया है। भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रति वर्ष हज़ारों शोधार्थियों का पंजीकरण होता है। किंतु शोध मात्र समीक्षा नहीं है, यह बात बार-बार बताई जाती रही है, फिर भी समीक्षा पर आधारित शोध-प्रबंधों की संख्या बढ़ती ही जा रही है।

स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद छात्रों में शोध के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है। शोध की प्रविधि और शोध-प्रक्रिया से अपरिचित होने के कारण वे शोधकार्य को भी परीक्षा उत्तीर्ण करने-जैसा ही मानते हैं। वे सोचते हैं कि शोध-उपाधि को भी येन-केन-प्रकारेण प्राप्त कर लिया जाय। वास्तविकता यह है कि शोध तपस्या-जैसा कार्य है और इसमें जिज्ञासा, चिंतन, साधना और समर्पण की भरपूर आवश्यकता होती है। यदि किसी शोधार्थी में इन गुणों का अभाव है तो वह कुछ भी कर सकता है, कम-से-कम शोध जैसे गंभीर कार्य को नहीं कर सकता। ‘शोध-दिशा’ उन्हें लेखन और प्रकाशन का मंच प्रदान कर रही है।

खेद है कि अनेक शोधार्थी अपने शोध-आलेख तैयार करते समय उसकी गंभीरता को भूल जाते हैं। उचित व सही संदर्भों के अभाव में तथा अशुद्ध भाषा के प्रयोग से उनके आलेख की गरिमा कम हो जाती है। इसी कारण अनेक बार शोध-आलेख अस्वीकृत करने पड़ते हैं।

पत्रिका के परामर्श मंडल का अपूर्व सहयोग हमें प्राप्त हो रहा है, यह हमारे लिए गौरव की बात है।

पत्रिका के शोध अंक निरंतर प्रकाशित होते रहें, इसके लिए शोध-निदेशकों, शोध-छात्रों, शोध-प्रेमियों से आग्रह है कि वे अपने शोध-आलेख निरंतर प्रेषित करते रहें। शोध-आलेख टंकित रूप में होने चाहिए। कंप्यूटर पर टाइप कराने के बाद उसकी एक सी॰डी॰ अवश्य भेजें। यदि शोध-आलेख में उचित संदर्भ नहीं दिए गए हैं तो उसे शोध-पत्र की मान्यता नहीं मिल पाएगी, अत: आलेख में उचित संदर्भ अवश्य दें।

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल
संपादक

मकड़जाल
उलझाए सबको
है विकराल

पूछा सवाल
मन से, तो उत्तर
मिला तत्काल

मोड़ ही मोड़
संघर्ष ही संघर्ष
न जोड़-तोड़

गाँव-गाँव में
ज्ञान-ज्योति जलाएँ
बैठ छाँव में

बिसरी याद
जोड़ती तन-मन
करे संवाद

पीड़ा का पानी
निकलता आँखों से
कहे कहानी

–डॉ॰ मीना अग्रवाल

अनुक्रम

‘कफ़न’ कहानी : मृत्यु नहीं, जीवन की कहानी है / **डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका** 7
आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक चिंतन / **डॉ॰ सुशीला** 14
मालती जोशी के उपन्यासों में मध्यवर्ग / **डॉ॰ कृष्णा हुड्डा** 18
प्रतिवाद-पर्व में सीता / **डॉ॰ रामसजन पांडेय** 25
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का रचना-संसार / **श्रीमती अर्चना चौधरी** 39
कुँवरनारायण के काव्य में सामाजिक सरोकार / **महेंद्रकुमार छाबड़ा** 61
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल के व्यंग्य साहित्य में आतंकवाद / **श्रीमती स्नेहलता** 75
पद्मावत में सांस्कृतिक जीवनमूल्य / **कु॰ शाहिना** 81
बहुआयामी व्यक्तित्व एवं कृतित्व के धनी : श्री शचींद्र भटनागर / **डॉ॰ रोहिताश्व अस्थाना** 93
रीतिकाव्य में अप्रस्तुत-योजना / **डॉ॰ अशोक उपाध्याय** 107
नागार्जुन के काव्य में नारी-संवेदना : पौराणिक संदर्भ / **डॉ॰ दीपा त्यागी** 135
नई कविता में भाषा-सौंदर्य / **डॉ॰ अमिता** 139
समाज-राजनीति : अंतर्संबंध / **डॉ॰ कामना कौशिक** 144
समकालीन हिंदीकाव्य : सांस्कृतिक चेतना / **डॉ॰ कामना कौशिक** 150
बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक की महिला कहानीकारों की हिंदी-कहानियों में नारी की बदलती मानसिकता / **श्रीमती सुदेशकुमारी** 155
संस्कृति, लोकसाहित्य व घाघ की लोकोक्तियाँ / **डॉ॰ जया** 164
‘सूरजमल शौर्य-गाथा’ का परिवेश-चित्रण / **डॉ॰ राजपाल** 171
डॉ॰ चंद्रशेखरन नायर के काव्य में राष्ट्रीय बोध / **श्रीमती रेनू** 179
शिक्षा के क्षेत्र में महर्षि दयानंद का योगदान / **श्रीमती गीता पांडेय** 184
वर्तमान युग की कविता-शैलियों के प्रवर्त्तक महाप्राण निराला / **डॉ॰ शारदा शर्मा** 187
हिंदी-मराठी उपन्यासों में शैक्षणिक समस्याओं का चित्रण / **डॉ॰ शिवशंकर लधवे** 198
डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ की कहानियों का भाषिक शिल्प / **श्रीमती नीलू जैन** 202
संस्कारों का जीवन पर प्रभाव / **अंशुमान** 212
हिंदी साहित्येतिहास-लेखन में डॉ॰ बच्चनसिंह कृत

‘हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास’ : एक अलग प्रयास / **नवजीत कौर** 218
तुलसीदास का जीवन-दर्शन / **डॉ॰ शिवशंकर लधवे** 227
‘राधाचरितम्’ महाकाव्य में अलंकार / **श्रीमती अर्चनाकुमारी** 234
पृथ्वी पर हिंदू-सभ्यता की प्रागैतिहासिकता : तथ्य एवं प्रमाण / **हर्षिता शर्मा** 241
राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता में महात्मा गांधी का योगदान / **श्रीमती दिव्या भट** 244
स्मृतिकालीन भारत में व्यापार एवं वाणिज्य का स्वरूप / **डॉ॰ (श्रीमती) रेखा सिंह** 248
भारत-अफगानिस्तान संबंध : मौर्यकाल में / **डॉ॰ मीनाक्षी** 253
भारत के बीमा क्षेत्र से संबंधित प्रमुख अधिनियम एवं संस्थाएँ / **कपिलदेव** 256
पर्यावरण-संचेतन में शिक्षक की भूमिका / **कु॰ संगीता यादव** 262
शोषण एवं संघर्ष की प्रतिमूर्ति : दलित महिलाएँ / **प्रवीणकुमार** 268
अस्पृश्यता उन्मूलन के क्रांतिदूत : डॉ॰ भीमराव अंबेडकर / **ललितकुमार** 274
भारतीय अर्थव्यवस्था की मूलाधार श्रमिक शक्ति पर डॉ॰ भीमराव अंबेडकर के विचार / **रीता सोनकर** 280
अनन्य हिंदीसेवी : डॉ॰ प्रतीक मिश्र / **डॉ॰ नीरू रस्तोगी** 284
बालसाहित्य के प्रतिमान : एक श्रेष्ठ संदर्भ ग्रंथ / **विनोदचंद्र पांडेय ‘विनोद’** 289
‘बातें कुछ अनकही’ की कुछ अनकही बातें / **डॉ॰ जगदीशचंद्र ‘इंदु’** 291

‘कफ़न’ कहानी : मृत्यु नहीं, जीवन की कहानी है

डॉ॰ कमलकिशोर गोयनका

‘कफ़न’ (दिसंबर, 1935) कहानी प्रेमचंद की सबसे अधिक चर्चित, विवादास्पद एवं लोकप्रिय कहानी है। ‘कफ़न’ कहानी पर जितने दृष्टिकोणों, विचारों और वादों से विचार-विवेचन हुआ है, यदि उसे यहाँ उद्‌धृत किया जाए तो एक पूरी पुस्तक ही तैयार हो जाएगी। इन सभी में राजेंद्र यादव के इस मत की विवेचन अधिक हुई है कि ‘कफ़न’ हृदय-स्तब्धता या विगड़ित संवेदना की कहानी है। इस स्थापना के दो आधार हैं—एक, आलू खाने के लालच में घीसू-माधव का बुधिया को मरने देना, और दूसरा, दोनों का कफ़न के पैसों से शराब पीना और मस्ती में झूमना-नाचना। ये दोनों ही अमानवीय एवं संवेदनशून्यता की घटनाएँ हैं, परंतु कहानी का सारा वातावरण ऐसा नहीं है। उसमें संवेदना और मानवीयता से परिपूर्ण प्रसंगों की कमी नहीं है। घीसू में हमदर्दी का भाव है। उसकी औरत मरी थी तो वह तीन दिन तक उसके पास से हिला भी नहीं था। वह माधव से प्रसव-वेदना से चीखती बुधिया को देखने-सँभालने की कहता है। बुधिया मरती है तो पड़ोसी सांत्वना देते हैं और गाँव की नर्म दिल वाली स्त्रियाँ आँसू बहाने आती है तथा गाँव की सामूहिक संवेदना का प्रमाण है। माधव का दो बार रोना भी भावावेग ही है। हँसना और रोना दोनों ही मनुष्य की संवेदनशीलता के अंग हैं। ‘गोदान’ (जून, 1936) में प्रो॰ मेहता यही बात गोविंदी से कहता है, ‘मैं कहता हूँ, अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते, तो तुम मनुष्य नहीं हो, पत्थर हो।’ प्रेमचंद की एक लेखक के रूप में यही राय है। उन्होंने ‘हंस’ के मई, 1935 के अंक में लिखा था कि साहित्य भावुकता की वस्तु है, लेकिन आदर्श साहित्य वही है, जिसमें बुद्धि और भावुकता का कलात्मक सम्मिश्रण होता है। यदि रचना में हँसने और रोने के भावुक क्षण नहीं हैं तो ऐसा सूखा साहित्य अगर अमृत भी हो तो पड़ा-पड़ा भाप बनकर उड़ जाएगा और जनता के मनोभावों का स्पर्श भी न कर सकेगा। स्पष्ट है, प्रेमचंद अपनी किसी भी रचना को संवेदनाशून्य नहीं बनाना चाहते हैं। माधव के व्यवहार और विचारों में तो मनोभावों और मनुष्यता का रंग है। वह पत्नी के प्रति कृतज्ञ है, क्योंकि उसके कारण ही उसे वह भोज मिला, जो उम्र-भर न मिला था। वह ‘दुख और निराशा’ में चीख़ मार-मारकर रोता है यह सोचकर कि बुधिया ने जीवन में कितना दुख झेला है! उसका मनुष्यत्व एक भिखारी को देखकर जाग्रत होता है और वह बची हुई पूड़ियाँ उसे दे देता है और लेखक इस पर लिखता है कि उसे पहली बार ‘देने’ का गौरव, आनंद एवं उल्लास का अनुभव होता है। यह आत्मिक गौरव और आह्लाद तो माधव को उस समय भी नहीं मिला था, जब वह मधुशाला में बैठकर जीवन की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर रहा था। माधव की यह आनंदानुभूति चाहे एक-दो क्षण के लिए ही थी, परंतु लेखक उसके व्यक्ति

के मानवीय तथा सकारात्मक पक्ष का उद्घाटन कर देता है। ये सारे प्रसंग 'कफ़न' कहानी के विगड़ित संवेदना की कहानी की स्थापना पर प्रश्नचिह्न लगा देते हैं।

'कफ़न' कहानी में तीन परिच्छेद हैं, दो पात्र और दो ही रंगमंच हैं। कहानी की प्रमुख घटनाएँ गाँव और मधुशाला में घटित होती हैं। घीसू-माधव ही दोनों स्थलों पर कथा का विकास करते हैं, लेकिन उनकी मन:स्थिति, परिवेश और क्रिया-व्यापार भिन्न-भिन्न हैं। गाँव में चीख़ है, मौत है, अमानुषीय व्यवहार है और कफ़न के लिए पैसे एकत्र करने की भाग-दौड़ है, और मधुशाला में जीवन की जगह मौत को सम्मान देने पर आपत्ति है, मदिरा है, चिर अभिलषित भोजन है, गौरव-आनंद-उल्लास है, परलोक-वैकुंठ-आत्मा-परमात्मा में विश्वास है, नशे में अस्थिरता, विस्मृति और कृतज्ञता है और अंत में कबीर का एक पद है, जो धार्मिक कर्मकांड को असत्य कहता है। माधव मधुशाला में प्रवेश से पहले एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाते हुए कहता है', कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढँकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए।' यह हमारी सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था की विडंबना पर गहरा व्यंग्य है। यह कहानी में पहला बौद्धिक हस्तक्षेप है, जो विचार के लिए एक सूत्र देता है। यह वाक्य जीवन और मृत्यु के संबंध में हमारी सामाजिक-धार्मिक धारणाओं पर आघात करता है। समाज जीवन से अधिक मृत्यु को सम्मान देता है तभी मृतक को नया कफ़न और जीवित को फटा वस्त्र भी उपलब्ध नहीं कराता है। माधव ही नहीं, कहानी भी यह प्रश्न उठाती है कि हमारे समाज में जीवन का महत्त्व एवं सम्मान मृत्यु से कम क्यों है? हमारी यह परंपरा, विश्वास और कर्मकांड जीवन-विरोधी है, क्योंकि मृत्यु जीवन से श्रेष्ठ नहीं है। वास्तव में, जीवन ही श्रेष्ठ है और वही सत्य है। जीवन है तो अभिलाषाएँ और लालसाएँ भी होंगी और उन्हें तृप्त एवं पूर्ण करने के लिए उचित-अनुचित साधनों का उपयोग होता ही रहेगा।

घीसू-माधव के अंतर्मन की दुनिया कफ़न के लिए एकत्र पाँच रुपए हाथ में आते ही बदलने लगती है। कफ़न ख़रीदने का विचार कमज़ोर होता जाता है और जीवन की सबसे बड़ी लालसा पंख फड़फड़ाने लगती है। इस लालसा के प्रकट होने से पहले वे नया कफ़न ख़रीदने के अनौचित्य पर तीन तर्क प्रस्तुत करते हैं—रात को कौन कफ़न देखता है, इसलिए कफ़न कैसा भी हो सकता है, जीवित को जब चीथड़ा भी नसीब नहीं है तो मृतक को नया कफ़न क्यों मिलना चाहिए तथा कफ़न तो लाश के साथ जल जाता है तो वह नया हो या पुराना, क्या फ़र्क़ पड़ता है। इन्हीं विचारों के साथ वे बाज़ार जाते हैं तथा कफ़न के लिए तरह-तरह के कपड़े देखते हैं, परंतु उन्हें कोई कपड़ा जँचता नहीं है और वे लेखक के अनुसार, दैवी प्रेरणा और पूर्व निश्चित व्यवस्थानुसार एक मधुशाला के अंदर चले जाते हैं। यहाँ लेखक के ये दोनों कारण बुद्धिगम्य नहीं हैं, क्योंकि कोई दैवी प्रेरणा तथा पूर्व निश्चित व्यवस्था के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करेगा, और यदि कोई दैवी शक्ति है भी तो वह क्यों मृतक के अंतिम संस्कार की अपेक्षा उन्हें क्यों मदिरालय में भेजना चाहेगी? लेखक ने प्रकट में कोई तर्कसंगत कारण नहीं दिया है, परंतु कहानी के आरंभ में हमें एक सबल कारण मिलता है। घीसू आलू खाते समय ठाकुर की बारात में खाई दावत का स्वाद ले-लेकर बखान करता है और माधव इस भोज का मन-ही-मन आनंद लेता है। इससे माधव के मन में भी ऐसे ही भोज की लालसा उत्पन्न होती है। वह कहता भी है, 'अब हमें कोई ऐसा भोज नहीं खिलाता।' माधव की यह

लालसा कहानी की भावी घटनाओं को रचती है और उसे चरम परिणति तक ले जाती है। माधव की इस लालसा को उत्पन्न होने के बाद ही बुधिया की मौत होती है, कफ़न के पाँच रुपए बाप-बेटे के हाथ में आते हैं और उनके अंतर्मन में उभरी लालसा उन्हें मधुशाला के तृप्ति-स्थल पर जैसे खींचकर ले जाती है। घीसू तो ठाकुर की दावत में भरपेट स्वादिष्ट भोज का आनंद ले चुका था, परंतु वहाँ शराब नहीं मिली थी। माधव तो इन दोनों ही आनंदानुभूतियों से वंचित था, परंतु दोनों के मन एक जैसे ही विचार से आंदोलित होते हैं। लेखक लिखता है, 'दोनों एक-दूसरे के मन की बात ताड़ रहे थे।' दोनों के मन में मधुशाला कौंध रही थी और दोनों एक-दूसरे की इस लालसा को समझ रहे थे। इस कारण वे मधुशाला के सामने पहुँचकर एक साथ अंदर चले जाते हैं।

घीसू-माधव मधुशाला में पहुँचकर ज़रा देर के लिए असमंजस में खड़े रहते हैं। उनके अंदर आने तक उनके मन में कोई ग्लानि, पश्चात्ताप, दुविधा या अपराध-बोध नहीं है, परंतु शराब की बोतल ख़रीदने से पहले असमंजस में खड़े रहते हैं। लेखक इस 'असमंजस' शब्द से उनके अंतर्द्वंद्व को प्रकट करता है कि कफ़न के पैसों से शराब पीना पाप-कर्म तो नहीं है? घीसू तो बहुत दुनिया देख चुका था, लेकिन माधव तो ऐसा कार्य पहली बार करने जा रहा था। इसलिए लेखक माधव के मन में पाप-बोध उत्पन्न करता है, क्योंकि मधुशाला का पूरा आनंद तो पापी मन से लिया नहीं जा सकता था। इसी कारण माधव अपनी 'निष्पापता' के लिए देवताओं को साक्षी बनाता है। कहानीकार ने लिखा है, 'माधव आसमान की तरफ़ देखकर बोला, मानो देवताओं को अपनी निष्पापता का साक्षी बना रहा हो।' माधव के मन में पाप-चेतना नहीं होती तो लेखक यहाँ 'निष्पापता' के लिए देवताओं तक का प्रमाण क्यों देता? माधव अपने जीवन की सबसे बड़ी लालसा की तृप्ति के इस दुर्लभ अवसर का आनंद पाप की छाया में नहीं ले सकता था। लेखक के अनुसार, मधुशाला वैसे भी अपने प्रेमियों को जीवन की बाधाओं तथा जीवन-मरण की स्मृति तक से मुक्त कर देती है। मधुशाला में जीवन का निर्द्वंद्व आनंद है और बाहरी संसार के घोर अभावों, कष्टों और पापों का विस्मरण-स्थल है। घीसू-माधव के मधुशाला में आते ही उनके मन से मृत्युशास्त्र हट जाता है। वे अब मौत का मर्सिया नहीं गाते हैं, बल्कि वे जीवन की नई सरगम छेड़ते हैं। इसमें जीवन की अतृप्त एवं दबी लालसाएँ हैं और उनकी तृप्ति का आनंद है। यहाँ की आनंदानुभूति और उल्लास मृत्यु को पराभूत करके उसे चेतना से ही लुप्त कर देता है और यहाँ तक भी अस्तित्व-बोध की चेतना भी यहीं के सुख-सागर में विलीन हो जाती है।

घीसू और माधव का मधुशाला में प्रवेश भीतरी और बाहरी सभी दबावों से मुक्ति का प्रमाण है। उनके लिए पारिवारिक दायित्व, सामाजिक मर्यादाएँ एवं नैतिक बोध जैसे निरर्थक एवं शरणहीन हैं। वे जब शराब की बोतल बीच में रखकर पीने बैठते हैं तो वे अपनी व्यक्तिगत लालसाओं की तृप्ति का अनुष्ठान करते हैं। निर्मल वर्मा ने लिखा भी है कि दो हिंदुस्तानी पियक्कड़ों का श्मशान की छाया में हुआ यह मुक्ति-समारोह है। वे जैसे ही कफ़न के पैसों से शराब का कुल्लड़ मुँह में लगाते हैं, उसी क्षण हिंदी साहित्य में व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का स्वाद चखता है उन्हें यह मुक्ति और स्वतंत्रता बौद्धिक कौशल एवं आत्मछल से मिलती है।

वे परिवार और गाँववालों दोनों के अपराधी हैं। वे पहले अपराधी अपने परिवार के

हैं। बाप-बेटे दोनों घर की बहू को मरने देते हैं और वह भी प्रसव-पीड़ा में चीख़ती-चिल्लाती बहू को, जो इनकी अपेक्षा और असहयोग के कारण पेट के शिशु के साथ मर जाती है। वे इस अमानुषी अपराध के दोषी हैं। दूसरे वे गाँववालों के दोषी हैं। गाँव के लोग उन्हें बुधिया के कफ़न के लिए पाँच रुपए एकत्र करके उनके हाथ में देते हैं, परंतु वे विश्वासघात करते हैं और मधुशाला में जाकर शराब पीते हैं। गाँव के लोग तो उन्हें पहले से ही कामचोर, आलसी, बेशर्म और झूठे मानते थे और वे भी इस सत्य को जानते थे। अत: उन्हें कोई नया विश्वासघात करने में कोई भय नहीं था। वे जानते हैं और घीसू माधव को समझाता भी है कि गाँव वाले ही दुबारा कफ़न की व्यवस्था करेंगे। इसलिए कफ़न के पैसों से शराब पीना अनुचित इसलिए नहीं है, क्योंकि बुधिया को तो कफ़न मिल ही जाएगा। उनका यह दृढ़ विश्वास उन्हें जीवन के निकृष्टतम अपराध करने के दंश से बचा लेता है। वे मृतक को नया कफ़न देने की धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक अनिवार्यता के दायित्व से भी स्वयं को मुक्त कर लेते हैं और उसके अपराध-बोध से भी अपना बचाव कर लेते हैं। इसी कारण वे निर्द्वंद्व और निश्ंचित होकर मधुशाला में पहुँचते हैं और अपने जीवन की सबसे बड़ी लालसा की पूर्ति के लिए बोतल ख़रीदकर पीने बैठते हैं। इस प्रकार उनकी छलपूर्ण तर्कशीलता उन्हें निरपराधी रूप में मधुशाला तक पहुँचा देती है।

घीसू-माधव मदिरालय में बोतल लेकर बैठते हैं तो उनके मनोभाव, व्यवहार तथा विचार में परिवर्तन होता है। इस अंश की मूल घटना यह है कि वे अपने जीवन की सबसे बड़ी लालसा की पूर्ति के लिए मन भरकर शराब पीते हैं, भोजन करते हैं, बचा हुआ भोजन भिखारी को देते हैं और आनंदविभोर होकर मस्ती में गाते, नाचते, कूदते-भटकते एवं अभिनय करते हैं तथा 'नशे से बदमस्त' होकर गिर पड़ते हैं। यह उनके जीवन की सुखानुभूति की चरमावस्था है, जब जीवन के सारे सुख-दुख मिट जाते हैं, सांसारिक चेतना लुप्त हो जाती है और रहता है केवल आत्मिक आनंद। इस अनुभूति में एक तो मधुशाला का मादक वातावरण एवं मदिरापान से होनेवाली चेतना-शून्यता सहायक बनी है, दूसरे वे धार्मिक एवं दार्शनिक विश्वासों तथा आस्थाओं के संसार में उतरकर स्वयं को पापानुभूति से मुक्त करके निश्शंक एवं निर्द्वंद्व बनते हैं। लेखक ने घीसू के 'दार्शनिक भाव' से बोलने तथा माधव पर 'श्रद्धालुता का रंग' चढ़ने का उल्लेख किया है, क्योंकि घीसू-माधव अब अपने पूर्व दुष्कर्मों और उनके दुष्परिणामों को धार्मिक-दार्शनिक शब्दावली में छिपाकर बुधिया को बैकुंठ तक पहुँचा देते हैं। वे दोनों आत्मा-परमात्मा, परलोक, बैकुंठ, पाप-पुण्य, मायाजाल आदि धार्मिक-दार्शनिक शब्दों के प्रयोग से बुधिया की मौत को गौरवान्वित करते हैं और इनकी आड़ में वे एक बार फिर अपने पाप-कर्म को छिपा लेते हैं। घीसू-माधव के वार्तालाप में बुधिया का ही गुणगान है। बुधिया पुण्यवान है, क्योंकि उसकी मृत्यु उनके लिए पुण्य-कर्म बनती है। उसकी मृत्यु से ही उन्हें शराब तथा स्वादिष्ट भोजन मिलता है, जो उन्हें उम्र-भर नहीं मिला था। इससे घीसू की आत्मा तृप्त होती है और माधव की तो जीवन की सबसे बड़ी लालसा पूरी होती है। इन दोनों के लिए इससे बड़ा पुण्य बुधिया की ओर से क्या हो सकता था? बुधिया जब जीवित थी तो इनका दोज़ख़ भरती थी और मरी तो इन्हें जीवन का सबसे बड़ा सुख दे गई। बुधिया निर्मल हृदय थी और मानवता उसकी जीवन-शैली थी। वह न किसी को सताती थी और न दबाती ही थी। अत: वह बैकुंठ न जाएगी तो कौन जाएगा? माधव इसीलिए

पूरे विश्वास के साथ घीसू से कहता है, 'वह बैकुंठ में जाएगी दादा, बैकुंठ में जाएगी।' माधव घीसू के संतोष के लिए एक और नया तर्क लाता है। वह कहता है कि बुधिया बैकुंठ न जाएगी तो क्या ग़रीबों को दोनों हाथों से लूटने वाले मोटे-मोटे लोग जाएँगे, जो अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और मंदिरों में जल चढ़ाते हैं। कहानी में इस कथन से कई अर्थ निकलते हैं। एक, ग़रीबों के लूटने वाले ये मोटे लोग सामाजिक अपराधी हैं। इनके पाप इतने भयानक और गंदगी से भरे हैं कि गंगा भी उन्हें निर्मल नहीं कर सकती है। दो, जो पापी यह समझते हैं कि गंगा पापों को धो देती हैं, वे तो अज्ञानी हैं। तीसरा, ऐसे मोटे पापियों और बुधिया में कोई समानता नहीं है। यह उनका कितना बड़ा बौद्धिक छल है कि ये मोटे-मोटे पापियों की तुलना अपने उस पाप-कर्म से नहीं करते हैं, जो उन्होंने बुधिया और उसके पेट के बच्चे को मरने देने में किया है। वे उस बुधिया के साथ तुलना करते हैं, जो निष्पापी है और इनके शब्दों में पुण्यवान है और उसे अवश्य ही बैकुंठ मिलेगा। घीसू के अनुसार वह भाग्यवान भी है, क्योंकि वह इतनी जल्दी संसार के मायाजाल के बंधन तोड़कर चली गई। इस प्रकार वे किसी धर्मगुरु अथवा पुरोहित के समान धार्मिक शब्दों और धारणाओं के द्वारा बुधिया को परलोक के सर्वोच्च स्थान पर पहुँचाकर स्वयं भी अपने जीवन का सबसे बड़ा सुख प्राप्त करते हैं। बुधिया तो इनके काल्पनिक परलोक के बैकुंठ में पहुँचती है लेकिन घीसू-माधव को अपने बैकुंठ जैसे सुखानुभव के लिए बुधिया के समान मरने की आवश्यकता नहीं है। वे जीवितावस्था में ही अपने जीवन की सबसे बड़ी लालसाओं को पूर्ण करते हैं और अपूर्व उल्लास एवं आनंद की अनुभूति करते हैं। असल में भाग्यशाली तो घीसू-माधव हैं, जो मौत की काली छाया में भी जीवन का सबसे बड़ा सुख और आनंद खोज निकालते हैं और बुधिया की मौत के अपराध-दंश से भी अपने को बचाकर रखते हैं। यद्यपि उनकी यह आनंदानुभूति अल्पावधि की है, परंतु वे उनके जीवन के सर्वोत्तम क्षण हैं। उनका यह सुख एकदम निजी है। वे ही उसके नियंता और नियोजक हैं। वे इसके लिए पारिवारिक दायित्वों एवं सामाजिक नैतिकता को नकारते हैं और लोक-परलोक आदि की धार्मिक एवं दार्शनिक शब्दावली का दुरुपयोग करके इस बाहरी दुनिया को एकदम अदृश्य कर देते हैं। प्रेमचंद की कहानियों में यह व्यक्ति की निजी सत्ता का आरंभ है।

प्रेमचंद चाहते तो कहानी का अंत यही कर सकते थे, क्योंकि मृत्यु पर जीवन की विजय का उत्सव अपनी अंतिम परिणति पर पहुँचकर मूर्छित होकर गिर पड़ता है। यह आनंदानुभूति की चरम अवस्था है। जब अस्तित्व की संज्ञा भी शून्य हो जाती है। घीसू-माधव के लिए तो यह लोक में लोकोत्तर आनंद जैसा ही है, जो बुधिया की लोक से बैकुंठ यात्रा से कहीं श्रेष्ठ एवं अनुभूतिजन्य है। घीसू-माधव का आनंद वास्तविक जगत का आनंद है और बुधिया का बैकुंठ कहाँ है, इसे कोई नहीं जानता है। प्रेमचंद इसी स्थिति को सिद्ध करने के लिए कबीर के पद की आरंभिक पंक्ति को उद्धृत करते हैं। घीसू-माधव कहानी के अंत में 'नशे में बदमस्त' होकर गाते हैं– 'ठगिनी! क्यों नैना झमकावै! ठगिनी।' कहानी में यह पद पूरा नहीं है, लेकिन 'अग्नि-समाधि' (जनवरी, 1928) कहानी में इसे इस प्रकार दिया गया है–

ठगनी! क्यों नैना झमकावै!
कद्दू काट मृदंग बनावे, नीबू काट मंजीरा,
पाँच तरोई मंगल गावें, नाचे बालम खीरा।

रूपा पहिर के रूप दिखावे, सोना पहिर रिझावे,
गले डाल तुलसी की माला, तीन लोक भरमावे।

कबीर की ठगिनी माया है, जो मनुष्य को अनेक रूपों में भरमाती है। इनमें धर्म के कर्मकांड और लोकोत्तर विश्वास भी भ्रमोत्पादक हैं। कबीर जिसे 'गले डाल तुलसी की माला' से संबोधित करते हैं, उनमें पाप-पुण्य, आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक-बैकुंठ आदि हमारी परंपरागत धारणाएँ एवं विश्वास हैं, वे सब छलनाएँ हैं जो भरमाती हैं। इस संसार के अतिरिक्त और कोई पारलौकिक संसार नहीं है, इसलिए ऐसे सभी विश्वास भी सत्य नहीं है। इसलिए बुधिया की बैकुंठ-यात्रा तथा मायाजाल का भंजन आदि में कोई सत्यता नहीं है, वे मिथ्या और भ्रामक हैं। सत्य है तो जीवन ही सत्य है। कहानी जिस कफ़न पर लिखी गई हैं, वह न ख़रीदा जाता है, न इस्तेमाल होता है। बुधिया का मृत शरीर बिना कफ़न के पड़ा रहता है, और न उसका अंतिम संस्कार ही होता है, लेकिन वह कहानी में मृत्यु और जीवन के सत्यासत्य के बड़े सवालों से रूबरू करता है। कफ़न तो मृत्यु का साक्षी है, लेकिन लेखक कफ़न से ही जीवन का आनंदरस निकालता है। इस प्रकार कहानी में दो पक्ष हैं– एक मृत्यु और परलोक (बैकुंठ) का तथा दूसरा लोक तथा जीवन का। इन दोनों के द्वंद्व में मृत्यु पर जीवन की जीत होती है। अत: 'कफ़न' कहानी को मृत्यु पर जीवन तथा परलोक पर लोक की विजय की कहानी मानना पूर्ण रूप से औचित्यपूर्ण एवं तर्कसंगत है। जयशंकरप्रसाद ने एक स्थान पर लिखा है कि दुखदग्ध धरा और आनंदपूर्ण स्वर्ग के एकीकरण का नाम ही साहित्य है। कहानी में बुधिया की जिस अमानवीय एवं हृदयद्रावक स्थिति में मृत्यु होती है, उससे अधिक दुखदग्ध घटना और क्या हो सकती है? इसी प्रकार जयशंकरप्रसाद जिसे 'आनंदपूर्ण स्वर्ग' कहते हैं, वह घीसू-माधव के मदिरापान की चरमावस्था के आनंद के अतिरिक्त और क्या है? यही विरुद्धों का सामंजस्य है और यही प्रसाद की धरा और स्वर्ग का तथा दुख और आनंद का एकीकरण है। इसमें प्रेमचंद अपनी परंपरानुसार मृत्यु को अस्वीकार तथा जीवन को स्वीकार करते हैं। 'कफ़न' (दिसंबर, 1935) से लगभग दो वर्ष पूर्व लिखी गई उनकी कहानी 'रंगीले बाबू' (26 जनवरी, 1933) में भी एक ओर मृत्यु है, जो बुधिया की मृत्यु के समान ही भयावह एवं त्रासद है और दूसरी ओर त्रासद मृत्यु की छाया में जीवन को जीने की उत्कटता एवं जीवटता है। कहानी में बाबू रसिकलाल के बेटे की बारात निकलने वाली है कि उसका देहांत हो जाता है, परंतु रसिकलाल उसकी अर्थी को दुल्हे के रूप में सजाकर, उसके सिर पर बेलो का मोर पहनाकर हाथी-घोड़े, बैंड-बाजों के साथ उसकी बारात निकालता है और अपने मित्र कथावाचक से कहता है, 'तुम भूल जाते हो लाला, यह विवाह का उत्सव है। हमारे लिए सत्य जीवन है, उसके सिवा जो कुछ है, मिथ्या है।' यह मृत्यु पर जीवन की अपराजेय शक्ति और आनंद की विजय है। जीवन के अतिरिक्त जो कुछ भी है, ईश्वर, परलोक, बैकुंठ सब मिथ्या है। मृत्यु के क्षण में ऐसी ही विजय का उल्लास और आनंद 'गोदान' (जून, 1936) में होरी की मृत्यु के समय में भी प्रेमचंद ने उद्घाटित किया है। उसके छोटे भाई हीरा के लौटने पर, जिसके कारण होरी विपत्तियों में घिरता चला गया, उसका विषाद एवं मृत्यु-बोध तथा जीवन में पराजित होने का भाव विजय के 'उल्लास, गर्व एवं पुलकता' में बदल जाता है और लेखक के अनुसार उसे स्वर्ग का सुख मिलता है। होरी अपनी इस सुखानुभूति में मौत को भूलकर, चाहे कुछ क्षणों के

लिए ही सही, जीवन के इस आनंद में मग्न हो जाता है और उसकी आत्मा आनंदमय हो जाती है। स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि स्वर्ग का मार्ग नर्क से होकर जाता है। घीसू-माधव ऐसे ही नारकीय मार्ग पर चलकर अपने जीवन की सबसे अधिक सुखद एवं आनंद की अनुभूति करते हैं, जो उनके लिए उस क्षण जीवन का सर्वोत्तम एवं आत्मलीन करनेवाला आनंद था। अत: 'कफ़न' कहानी की आत्मा के सत्य को खोजने में हमें मध्यकाल की उस भक्ति-भावना को भी ध्यान में रखना होगा, जिसमें मृत्यु-लोक के कष्टों और विपत्तियों से मुक्ति के लिए परलोक की सेवा-साधना का विधान था। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के 'किष्किंधा कांड' में सुग्रीव से यही कहलवाया है—'तजि माया सेइअ परलोका/ मिटहिं सकल भवसंभव सोका।' प्रेमचंद की 'कफ़न' कहानी इसी मध्ययुगीन भक्ति-दर्शन के विरुद्ध आधुनिक चेतना की कहानी है कि परलोक की अवधारणा एवं विश्वास मिथ्या है, इसलिए उसकी कामना एवं उपासना निरर्थक है। हमें जीवन को ही सत्य मानना चाहिए। मैथिलीशरण गुप्त जैसा वैष्णव कवि भी भूतल को ही स्वर्ग बनाना चाहता है। प्रेमचंद के समय में पश्चिम में ईश्वर की मृत्यु की घोषणा हो चुकी थी और अपने देहांत से पूर्व उन्होंने परिपूर्णानंद वर्मा से कहा था कि उन्हें ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं है, अर्थात् ईश्वर, परलोक या स्वर्ग के अस्तित्व में उनकी कोई आस्था नहीं थी। प्रेमचंद की दृष्टि यही थी कि मृत्यु एवं परलोक नहीं, जीवन ही वरेण्य है और जीवन ही इस संसार का सर्वांग सत्य है। कहानी में दो ऐसे प्रमुख आधार हैं, जिनसे कहानी का यही प्रतिपाद्य सामने आता है। कहानी में कबीर की उपस्थिति परलोक की सत्ता को चुनौती देती है और एक प्रकार से जीवन की सत्यता एवं श्रेष्ठता को स्थापित करती है और मृत शरीर को नया वस्त्र उपलब्ध कराने तथा जीवित मनुष्य को फटा चीथड़ा भी नसीब न होने का प्रश्न भी जीवन से अधिक मृत्यु को अधिक महत्त्व देने के धार्मिक विश्वास तथा पारलौकिक सत्ता का खंडन करता है। कहानी इस प्रकार ईश्वरीय विश्वास एवं पारलौकिक सत्ता के मायाजाल के तिलिस्म को निरावृत्त करके मृत्यु तथा उससे जुड़े स्वर्ग-नर्क, बैकुंठ-परलोक आदि की अवास्तविक कल्पना पर जीवन की वास्तविकता एवं श्रेष्ठता को स्थापित करती है। कहानीकार मृत्यु एवं परलोक का गौरव नहीं, जीवन का सम्मान चाहता है और इसीलिए वह 'कफ़न' कहानी को मृत्यु की कहानी न बनाकर जीवन की कहानी के रूप में रचता है। पराधीन भारत के मरणासन्न समाज को मृत्यु के अंधकार लोक एवं अस्तित्वहीन परलोक के स्थान पर जीवन के उल्लास की ही आवश्यकता थी।

❒ **ए-98, अशोक विहार**
फेज़ प्रथम, दिल्ली 110052

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक चिंतन

डॉ॰ सुशीला
प्राध्यापिका, हिंदी विभाग
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरि॰)

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी हिंदी के बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न साहित्यकार हैं। इनकी लेखनी से हिंदी-साहित्य की विविध विधाओं को समृद्ध होने का अवसर मिला है। भारतीय संस्कृति और आदर्श उनके जीवन और चिंतन का परम आधार रहा है। आचार्य जी आधुनिक युग में रहकर अध्यात्म के मार्ग के महान पथिक बने रहे हैं। समाज की उन्नति और विकास की कामना उनके चिंतन की दिशा रही है। उनके साहित्य में आद्योपांत मानवतावादी दृष्टिकोण सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय के प्रेरक भाव दिखाई देते हैं।

आचार्य द्विवेदी ने 'साहित्य में मौलिक प्रश्न' में व्यष्टि और समष्टि, आलोचना का स्वतंत्र मान, साहित्य में संप्रेषणीयता, 'साहित्य का मर्म' जैसे निबंधों में अपनी साहित्यिक दृष्टि को अभिव्यक्ति दी है।'[1] आचार्य द्विवेदी साहित्य को जीवन और समाज से जोड़कर देखते हैं। उनका उद्देश्य है—

मनुष्य को उसकी संपूर्णता में पहचानना और मानवतावादी मूल्यों की स्थापना करना। द्विवेदी जी मानव-मानव में प्रेमभाव उत्पन्न कर एक परिवार के रूप में देखना चाहते थे। उनके मन में सुखद प्रेरक परिवार की कल्पना थी। इसी भाव-प्रवाह में उन्होंने लिखा है— 'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ, जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर:दुखकातर और संवेदनशील न बना सकें, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।'[2]

द्विवेदी जी के साहित्य का लक्ष्य है—मनुष्य में पूर्णता का विकास कर उसे सफल बनाना। ऐसा मनुष्य जाति-धर्म से अलग मानव-परिवार का सदस्य होता है। वह आज के मनुष्य को, जो सुविधाभोगी और अवसरवादी वर्गों के चलते शोषण, दमन और उपेक्षा से अभिशप्त है, मुक्त करने का भाव सँजोये हुए है। द्विवेदी जी को आभास है कि आज संकीर्ण स्वार्थों ने मनुष्य को अंधा बना दिया है। वह भाई-भाई के ख़ून का प्यासा है, दोस्त ही सबसे बड़ा दुश्मन बन गया है। हर घर के आँगन में दीवार खड़ी कर दी गई है। आज जाति से मुक्त, धार्मिकता की विषम विचारधारा से मुक्त होना असंभव लगता है। फिर भी द्विवेदी जी ऐसे मनुष्य के हित की बात साहित्य में गंभीरता से उठाते हैं। ऐसे सामान्य मनुष्य, जो जाति-धर्म से निर्विशेष हैं, को राष्ट्र की मुख्यधारा से जोड़ना चाहते हैं। आचार्य द्विवेदी की मान्यता है कि साहित्यकार को ऐसे साहित्य का सृजन करना चाहिए, जो मानव-परिवार का निर्माण कर सौमनस्य का वातावरण

बनाए। आचार्य द्विवेदी राष्ट्रीयता और मानवतावाद के उपासक हैं। वे हर व्यक्ति को मुस्कराते देखना चाहते हैं, जिससे राष्ट्र को गरिमा मिले।

आधुनिक भौतिकवादी युग में साहित्यकारों की भूमिका पहले से गुरुतर हो गई है। आज राग, द्वेष, घृणा और लोलुपता बढ़ती जा रही है। इसके समाधान का एक मुख्य आधार है–उदार और सरस साहित्य का सृजन। उनका विश्वास है कि सत्साहित्य से मानव में मानवीय भाव विकसित होते हैं। उनका यह भी कहना है कि आज ज़रूरत है साहित्य को पढ़ने की तथा अच्छी भावना जाग्रत करने की। अच्छी, उपयोगी बात करने के संदर्भ में द्विवेदी का कथन उद्धरणीय है, 'आज सबसे बड़ी समस्या यह नहीं है कि अच्छी बात कैसे कही जाए, बल्कि अच्छी बात को सुनने और मानने के लिए मनुष्य को कैसे तैयार किया जाए।' [3]

आचार्य द्विवेदी साहित्य की सामाजिक उपयोगिता पर विशेष बल देते हैं। वे साहित्य को लोकजीवन से जोड़कर देखते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि लोकजीवन में जो सहजता और सरलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। लोकतत्त्व आचार्य द्विवेदी की प्रतिभा का मूलतत्त्व है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि लोकतत्त्व बड़ा जीवंत और शक्तिशाली तत्त्व होता है। उन्होंने लोक जीवन की समरसता का गंभीर अध्ययन करके कहा है कि हमारे देश के साहित्य का बहुत बड़ा स्रोत लोक-परंपराएँ, लोकतत्त्व और लोकचेतना में समाहित हैं।

आचार्य द्विवेदी का साहित्य को उपभोक्तावादी दृष्टि से देखने वालों से एकदम भिन्न मत है। यह चिंतन आज के भौतिकवादियों का है। उनके अनुसार साहित्य में प्रेरक और जीवनोपयोगी उत्तम भाव होते हैं। वे साहित्य को इतना हलका नहीं मानते। वे साहित्य को मात्र रसात्मक नहीं मानते, उनकी मान्यता है कि साहित्य में उपयोगितावादी पहलुओं का समावेश होना चाहिए। निश्चय ही साहित्य में सभी क्षेत्रों के चिंतन और उन दिशाओं में गतिशील रहने के प्रेरक भाव होते हैं।

साहित्य में अति यथार्थवाद के नाम पर चल रहे कुत्सिक प्रसंगों के भी वे कटु आलोचक हैं। साहित्य को अदृश्य और दिव्य मार्ग पर पहुँचाने का आधार मानते हैं। वे साहित्य की सामाजिक उपयोगिता पर बल देते हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी मूल विचारों को आत्मसात किए बिना आधुनिक बनने के प्रयासों के घोर विरोधी हैं। ऐसे नकलची लोगों पर तीखा व्यंग्य करते हैं उनका कथन भाव है कि वे पंख खोसकर बने हुए मोर कहलाते हैं।' [4] ऐसे नकलची लोगों की अपने निबंध 'साहित्य की साधना' में ख़बर लेते हुए कहते हैं–'यूरोप में मनोविश्लेषणशास्त्र की कोई नई थ्योरी निकली है और हिंदुस्तान का अधकचरा साहित्य उसको खाकर बिना पाए ही वमन कर देता है।' [5] वह आधुनिकता के नशे में ऐसा करता है, जबकि उसे चाहिए कि वह विदेशी सिद्धांतों और ज्ञान का ज़ोरदार स्वागत करते हैं, लेकिन बिना आत्मसात किए नकल प्रवृत्ति के वे घोर विरोधी हैं। उनकी दृष्टि में वैसे भी ज्ञान का सहज होना बहुत ज़रूरी है। यह स्थिति समाज और ज्ञानी दोनों के लिए हितकर है। उनकी मान्यता है श्रेष्ठ विचार और चिंतन चाहे प्राचीन हो या आधुनिक, देशी हो या विदेशी उसे अपनाकर जीवन को गति देनी चाहिए।

चिंतन की दृष्टि से आचार्य द्विवेदी की दृष्टि मोटे रूप से समाजवादी, मानवतावादी है, पर यह उनके चिंतन की सीमा नहीं है। प्रगतिवाद को भी ज्यों-का-त्यों न देखकर उसे आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं। वैसे मूलत: वे इस विचारधारा के घोर विरोधी हैं कि लेखक

को किसी-न-किसी मत का अनुयायी होना चाहिए। इसी कारण अपने निबंध 'साहित्य की साधना' में कहते हैं कि आज के युग में उस लेखक की कोई क़ीमत नहीं, जिसका कोई अपना मत न हो।'[6] इस प्रकार की दृष्टि से लिखा गया साहित्य सामाजिक अमंगल की आशंका को जन्म देता है। उनका कहना है कि हमारे देश में ज्ञान के प्रति गंभीर निष्ठा की परंपरा रही है—नहिं ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। फिर भी उनका झुकाव प्रगतिवाद की ओर है। वे प्रगतिशील आंदोलन के 'सामाजिक कल्याण' के महान संकल्प से अत्यंत प्रभावित हैं, लेकिन लेखन के स्तर पर पार्टी विशेष के दिशा-निर्देशों के घोर विरोधी हैं। आचार्य द्विवेदी प्रगतिशील आंदोलन के महान आदर्श (सामाजिक, मंगल) और उसकी भविष्योन्मुखी उपलब्धियों के प्रति आशान्वित हैं। वे कहते हैं—'प्रगतिशील आंदोलन बहुत महान उद्‌देश्य से चालित है, इसमें सांप्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी संभावनाएँ अत्यधिक हैं।'[7] लेकिन इसके लिए वे आवश्यक मानते हैं कि जनता को अंधविश्वास, हीन मनोवृत्तियों और कुसंस्कारों से दूर रखकर उनमें आत्मविश्वास जाग्रत करने की ज़रूरत है। आत्मविश्वास मनुष्य में जहाँ उत्तम चिंतन का अवसर प्रदान करता है, वहीं, आत्म-तोष होता है।

आचार्य द्विवेदी चाहे मानववाद हो या प्रगतिवाद, किसी भी विचार पद्धति को वे संतुलित विवेक से देखने के पक्षधर हैं। अंध-राष्ट्रीयता, निष्क्रिय सामाजिकता और विकृत मानववाद के वे घोर विरोधी हैं। अपने निबंध—'आधुनिक साहित्य : नई मान्यताएँ' में वे कहते हैं—'मानवतावाद भी आया, दलितों और अद्य: पतितों के प्रति सहानुभूति का भाव भी आया और राष्ट्रीयता भी आई। दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकतीं। एक तरफ़ व्यक्ति-मानव की महिमा पर अखंड विश्वास ने एक ही राष्ट्र में सुविधाभोगी व्यक्ति-मानवों को बढ़ावा दिया, दूसरी तरफ़ राष्ट्रीयता की देवी युवावस्था की देहली पर पहुँचकर ऐसी ईर्ष्यालु रमणी साबित हुई, जो सारे परिवार को ही ले डूबती है।'[8]

आचार्य द्विवेदी के साहित्य पर गंभीर विचार करते हुए यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उनकी साहित्यिक दृष्टि के केंद्र में मनुष्य है। उनका प्रयास है कि वर्तमान विषम परिवेश में भी मानवमूल्य का संवर्द्धन और संरक्षण हो। उन्होंने मनुष्य के कल्याण को ही साहित्य के मूल प्रयोजन के रूप में स्वीकारा है। वे साहित्यकारों के ऐसे ही मानव कल्याणकारी साहित्य-सृजन की प्रेरणा देते हैं।

निश्चय ही आचार्य द्विवेदी की दृष्टि समन्वयवादी और राष्ट्रीयता की पोषक है। यद्यपि वे किसी सिद्धांत या मत से बँधकर नहीं चलते हैं, किंतु भारतीय संस्कृति के उपासक होने के कारण उनकी दृष्टि को मानवतावादी कहना उचित ही होगा। उनका साहित्य व्यष्टि से लेकर समष्टि तक के कल्याण भाव सँजोए हुए है। उनके साहित्य में मानव-जीवन और समाज के अनुप्रेरक आधार हैं। स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदी के साहित्य में सर्वजन हिताय और सर्वजन सुखाय का मूलभाव है, जिसमें मानवमूल्यों का संवर्द्धन और संरक्षण होता है।

संदर्भ

1. आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, ग्रंथावली
2. आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, ग्रंथावली, भाग-10, पृ० 24

3. वही, पृ॰ 57
4. वही, पृ॰ 40
5. वही, पृ॰ 40
6. वही, पृ॰
7. वही, पृ॰
8. वही, पृ॰ 80

मालती जोशी के उपन्यासों में मध्यवर्ग

डॉ॰ कृष्णा हुड्डा
एसोसिएट प्रोफ़ेसर, हिंदी एवं हरियाणवी संस्कृति विभाग
चौधरी चरणसिंह कृषि विश्वविद्यालय, हिसार (हरियाणा)

मालती जोशी किसी परिचय की मोहताज़ नहीं हैं। वे समकालीन महिला कथाकारों में विशेष स्थान रखती हैं। परिवार और स्त्री-प्रश्न को लेकर उन्होंने अपना लेखन किया है। मालती जोशी का परिवार तथा स्त्री-प्रश्न मध्यवर्गीय जीवन और समाज की सच्चाइयों से संबद्ध है। उन्होंने स्वीकार भी किया है कि 'मैं मध्यवर्गीय घरेलू महिला हूँ। अत: उसी जीवन को कहानियों में उकेरती हूँ।'

वैसे तो मालती जोशी बहुआयामी साहित्यिक प्रतिभा की लेखिका हैं, लेकिन कथासाहित्य में उनकी बेजोड़ उपस्थिति है। उन्होंने लगभग 120 कहानियों तथा 13 उपन्यासों की रचना की है। उनकी रचना-यात्रा अभी जारी है। पटाक्षेप, राग-विराग, पाषाण-युग, निष्कासन, ज्वालामुखी के गर्भ में, गोपनीय, ऋणानुबंध, चाँद अमावस का, समर्पण का सुख, विश्वासगाथा, परिणय, सहमे हुए प्रश्न, सहचारिणी आदि उनके चर्चित-प्रतिष्ठित उपन्यास हैं। यद्यपि इन उपन्यासों की अंतर्वस्तु बहुविध है, लेकिन इसके केंद्र में मध्यवर्ग का जीवन ही विद्यमान है।

जहाँ तक वर्ग और मध्यवर्ग का प्रश्न है, उस बारे में ज्ञातव्य है कि समाज और वर्ग साथ-साथ चलते हैं। यदि किसी के मन में समाज का स्वरूप उभरता है तो उसके साथ ही वर्ग का स्वरूप पैदा होता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि विशेष प्रकार के सामाजिक और आर्थिक स्तर वाले व्यक्ति एक समूह में बँधकर एक विशेष वर्ग का निर्माण करते हैं। यह विशेष वर्ग मुख्यत: आर्थिक स्तर पर ही निर्भर करता है। अत: मोटे तौर पर समाज के तीन वर्ग दिखायी पड़ते हैं

1. उच्चवर्ग 2. मध्यवर्ग 3. निम्नवर्ग

उक्त तीनों वर्गों में मध्यवर्ग बहुत विशेष माना जाता है।

पाश्चात्य विद्वान ब्राउहेम ने लिखा है कि मध्यवर्ग ही देश का धन और बुद्धि माना जा सकता है।[1] कारण यह है कि मध्यवर्ग में वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं, जो आभिजात्य वर्ग (उच्चवर्ग) और श्रमिक वर्ग (निम्नवर्ग) के मध्य होते हैं। मध्यवर्ग के स्वरूप पर विचार करते हुए हिंदी साहित्यकोश में लिखा गया है कि मध्यवर्ग सामन्तवादी व्यवस्था में नहीं पाया जाता है, क्योंकि उस समय जमींदार तथा किसान का सीधा संबंध था, किंतु पूँजीवादी व्यवस्था ने समाज को इतना जटिल बना दिया है कि एक मध्यवर्ग की भी आवश्यकता हुई, जो इस जटिल व्यवस्था के संघटन-सूत्र को सँभाल सके। इस वर्ग में नौकरीपेशा, शिक्षक, क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते हैं। मध्यवर्ग विशेषत: बुद्धिप्रधान वर्ग माना गया है और सामाजिक क्रांति के प्राय: समस्त विचारों का सर्जन मध्यवर्ग में होता है। मध्यवर्ग में भी दो भाग हैं उच्च मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग।[2]

यहाँ पर यह भी संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि तीनों वर्गों में से मध्यवर्ग ही सर्वाधिक संवेदनशील और महत्त्वाकांक्षी होता है। परिवार और समाज से वही सर्वाधिक जुड़ा होता है, वही तमाम प्रकार की समस्याओं से भी सर्वाधिक ग्रस्त होता है, आदि-आदि। वास्तव में, मध्यवर्ग की इन्हीं संवेदनाओं के सूत्र को पकड़कर मालती जोशी ने अपने उपन्यासों की सृष्टि की है। उनके उपन्यासों में मध्यवर्ग का स्वरूप किस प्रकार उभरकर आया है, उसका अवलोकन इस प्रकार किया जा सकता है

स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि मालती जोशी मध्यवर्ग की लेखिका हैं। भारतीय समाज का मध्यवर्ग ही वह वर्ग है, जो सामाजिक परंपराओं और सामाजिक बंधनों की सर्वाधिक चिंता करता है और उसका पालन भी करता है। मालती जोशी के उपन्यास समाज की इस वास्तविकता को लेकर चलते हैं। चूँकि मध्यवर्गीय समाज जाति, विवाह, परंपरा, संस्कार, आर्थिक संघर्ष आदि मुद्दों से अपने को सीधे जुड़ा पाता है, इसीलिए मालती जोशी इन्हीं समस्याओं और संवेदनाओं से अपने कथ्य और कथ्य के पात्रों को जोड़ती हैं।

मध्यवर्गीय समाज में विवाह तथा वैवाहिक संबंधों की बड़ी अहमियत है। माता-पिता इसे अपने सम्मान और प्रतिष्ठा से जोड़कर देखते हैं और मध्यवर्गीय पूरा समाज भी इसे ऐसा ही मानता है। इसमें लड़का और लड़की दोनों ही आते हैं, लेकिन लड़की के विवाह को लड़के के विवाह से अधिक महत्त्व दिया जाता है। लोग लड़की का विवाह उचित समय पर तथा उचित घर और वर के साथ करना चाहते हैं। मालती जोशी इस मध्यवर्गीय चेतना से भलीभाँति अवगत हैं। 'समर्पण का सुख' उपन्यास में लेखिका ने इन समस्याओं पर प्रकाश डाला है। इस उपन्यास की कथानायिका राजेश्री को विवाह में विलंब हो जाने के कारण समाज की अनेक प्रकार की अनुचित बातों को सुनना और सहना पड़ता है। इतना ही नहीं कालांतर में उसे अनमेल विवाह का दंश भी झेलना पड़ता है। राजेश्री की शादी जब एक मैट्रिक पास लड़के से सुनिचित होती है तो उसे वर पक्ष के लोगों से कैसी प्रताड़ना सहनी पड़ती है, वह इस संवाद के माध्यम से समझा जा सकता है। यथा 'मैंने ऐसी बेनूर दुल्हन नहीं देखी। सूखी-सी देह, सूखा-सा चेहरा। कहीं कोई रौनक नहीं, लुनाई नहीं। आठ-दस साल नौकरी करते-करते लड़की एकदम बुढ़ा गई है। पिता के लंबे-चौड़े परिवार का भार ढोते-ढोते थक गई है।'[3]

मध्यवर्गीय समाज की एक विसंगति यह भी है कि लोग अपने लड़के को नहीं देखते हैं। उनका सारा ध्यान लड़की के नूर और हुनर पर टिका रहता है। लड़की सर्वगुण संपन्न होनी ही चाहिए, लड़का चाहे जैसा भी हो। इस सामाजिक सत्य को भी मालती जोशी अपने इस उपन्यास में राजू के परिवार तथा परिवेश वालों के माध्यम से उजागर करती हैं। इसी उपन्यास में लेखिका ने यह भी संदेश दिया है कि विवाह का असली सुख समर्पण में है। राजेश्री और राजू के माध्यम से उन्होंने जीवन के इस वास्तविक सत्य को व्यंजित किया है।

मालती जोशी का 'सहमे हुए प्रश्न' उपन्यास मध्यवर्गीय दांपत्य जीवन की विडंबनाओं और विसंगतियों को लेकर लिखा गया है। उपन्यास का शीर्षक इस तथ्य की व्यंजना करता है कि इसमें एक नहीं, कई प्रश्न हैं। इन प्रश्नों का सटीक उत्तर किसी के पास भी नहीं है। 'सहमे हुए प्रश्न' के प्रमुख पात्र चेतन और अनु हैं, जो प्रेम-विवाह करते हैं, दोनों एक-दूसरे को बिना समझे। इसका परिणाम यह होता है कि उनका दांपत्य-जीवन ही सहम उठता है। कारण क्या है? अनु का उसके जीजा के साथ संबंध या कोई और बात। इसी केंद्रीय समस्या को जानने में पूरा उपन्यास लगा हुआ है। 'सहमे हुए प्रश्न' उपन्यास के विषय में एक बात और भी जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि मध्यवर्गीय समाज की लड़कियों

का अपने मायके वालों के साथ ज़्यादा लगाव होता है। उपन्यास की नायिका अनु की माता का निधन हो जाता है। वह अपने छोटे भाई के साथ रहती है और विवाहोपरांत भाई को वह अपने साथ ससुराल भी ले आती है। वह भाई उसके दांपत्य-जीवन को संतप्त करने में कोई कसर नहीं छोड़ता है।

मालती जोशी ने अंतर्जातीय विवाह की समस्याओं को भी अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। वैसे तो मध्यवर्गीय समाज में माँ-बाप की यह कामना होती है कि उनका बेटा-बेटी विवाह-विषयक निर्णय को यथावत् स्वीकार कर लें, लेकिन अब ऐसा नहीं हो पा रहा है। पढ़ाई और समझदारी ने उन्हें यह विवेक प्रदान कर दिया है कि वे अपने जीवन का निर्णय स्वयं करें। परिणामत: अब प्रेम विवाह होने लगे हैं, जो सामान्यत: अंतर्जातीय ही होते हैं। अंतर्जातीय विवाह को अभी मध्यवर्गीय समाज ने खुले मन से मान्यता नहीं दी है। इन सारी धारणाओं और मान्यताओं के कारण अंतर्जातीय विवाह में अनेक परेशानियाँ दिखाई पड़ती हैं। लेखिका ने अपने उपन्यास 'सहचारिणी' में मध्यवर्गीय समाज में विद्यमान अंतर्जातीय विवाहविषयक समस्याओं-संतापों और विफलताओं को उजागर किया है। उल्लेखनीय है कि सारे उपन्यास की कहानी कथानायक मध्यवर्गीय युवक योगेश के इर्द-गिर्द घूमती है। विवाह और प्रेम विवाह की क्या-क्या विडंबनाएँ हो सकती हैं, वे इस उपन्यास में बड़ी स्पष्टता के साथ देखी जा सकती हैं। एक शादी, दूसरी शादी आदि-आदि। स्त्रियों के संदर्भ में भी ये ही समस्याएँ हैं। ये समस्याएँ केवल सेक्स से ही नहीं जुड़ी हैं, वरन् समायोजन और समन्वय से भी संबद्ध हैं। इस उपन्यास की नायिका है 'नीलू'। नीलू के माध्यम से मालती जोशी ने स्त्री-संघर्ष के अनेक रूपों को व्यंजित किया है। नीलू कितने रूपों में संघर्ष करती है, ये देखने और विचार करने योग्य है। उसका मानसिक संघर्ष, सामाजिक संघर्ष, पारिवारिक संघर्ष तथा आर्थिक संघर्ष मात्र उसका नहीं है, वरन् आज के मध्यवर्गीय समाज की तमाम स्त्रियों का भी है। यह भी देखा गया है कि यह संघर्ष अनमेल विवाह के कारण ही पैदा हुए हैं। नीलू योग्य है, लेकिन उसका विवाह-विषयक निर्णय उसे बरबाद कर देता है, उसकी सारी योग्यता पर प्रश्न लगा देता है और अंतत: उसे अपने पति का घर छोड़कर अपने मायके में आ जाना पड़ता है। उसकी बहन पूनम का यह कथन मध्यवर्गीय समाज की वास्तविकता को बड़ी स्पष्टता के साथ व्यक्त करता है। यथा 'माना कि वही घर स्त्री का स्वर्ग होता है, लेकिन उसके लिए कोई आत्मसम्मान तो दाँव पर नहीं लगा देता और पति जब स्वयं कहे कि वह ऊब गया है, मुक्ति चाहता है, तब भी क्या उसकी देहरी पकड़कर बैठना श्रेयस्कर है'।[4]

नीलू अथवा नीलम ने अपने पति के घर को छोड़ने का निर्णय यकायक नहीं लिया। उसके पहले उसने घर को बसाने के लिए पूरा प्रयास किया। पति को समझाने-बुझाने में अपनी पूरी ताक़त लगा दी, लेकिन उसका पति उसके अस्तित्व पर लगातार प्रहार करता रहा, उसे घसीटता रहा। जैसे वह कहता है कि 'क्या फायदा है तुम्हारे ग्रेजुएट होने का। सोसायटी में ठीक से 'मूव' होना भी तुम्हें नहीं आता। बड़ी मुश्किल से मैं कांटेक्ट्स बनाता हूँ और तुम सब मटियामेट कर देती हो।'[5] नीलम भी उसके ऐसे व्यवहार पर चुप नहीं रहती, लेकिन वह कुछ कर तो नहीं सकती थी, यह सोचने के अतिरिक्त कि क्या यह वही व्यक्ति है, जिसे भक्ति-भावना से मन मंदिर में प्रतिष्ठित किया था। एक-एक करके मेरे विश्वास की कितनी परतों को वह तोड़ता चला जाएगा और कब तक।[6]

नीलम को यह पूरा विश्वास हो गया था कि उसका पति उसके समझाने से नहीं सुधरेगा। लेखिका ने भी मध्यवर्गीय दांपत्य-जीवन की ऐसी वास्तविकता को जानकर ही यह टिप्पणी की है कि पति-पत्नी के बीच जब संवाद शुरू हो जाते हैं, तब दाम्पत्य जीवन कितना भयावह हो जाता है, यह

बात केवल अनुभव से समझी जा सकती है, उसे शब्दों में बाँधना संभव नहीं है।

मालती जोशी ने अपने उपन्यासों में पात्रों का चयन मध्यवर्गीय समाज से ही किया है। उन पात्रों का दांपत्य-जीवन सुखी नहीं दिखाई पड़ता है। दांपत्य-जीवन के दु:ख का कारण कहीं पति है, कहीं पत्नी है और कहीं इन दोनों के बीच में वर्तमान तीसरा व्यक्ति। दांपत्य जीवन में अवैध और अनैतिक संबंधों तथा उनसे पैदा हुई जटिल स्थितियों को जानने के लिए मालती जोशी का ‘ज्वालामुखी के गर्भ में’ उपन्यास विशेष महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि अवैध संबंध पति-पत्नी के जीवन को नारकीय बना देता है। इतना ही नहीं, अवैध संबंधों की ज्वाला में पति-पत्नी को ही नहीं, वरन् संपूर्ण परिवार को तो सुलझना ही पड़ता है और कभी-कभी उसकी आँच से पूरा परिवेश भी झुलस जाता है।

‘ज्वालामुखी के गर्भ में’ नामक उपन्यास में अवैध संबंधों की त्रासदी को व्यक्त किया गया है। इस त्रासदी से एक नहीं दो-दो परिवार जले हैं। आक्रोश और क्षोभ ने, कुंठा और तनाव ने उन परिवारों के जीवन की सहजता और मधुरता को छीन लिया है। ‘ज्वालामुखी के गर्भ में’ उपन्यास की माँ तथा मौसी तथा उनके बच्चे सभी तो अनैतिक संबंधों की ज्वाला में बुरी तरह जल रहे हैं। माँ और मौसी दोनों ही एक पुरुष की कामलोलुपता का दंड और दंश झेलती हैं। मौसी जब अपने जीजा के अनैतिक देह-संबंधों से गर्भवती हो जाती है, तब पूरे परिवार में बवंडर उठ खड़ा होता है, माँ बेचैन हो जाती है, मौसी भी अपने अधिकारों के प्रति जाग्रत। इससे डरकर पति-प्रेमी-जीजा नैरोबी भाग जाता है और अभिशाप्त जीवन जीने के लिए छोड़ जाता है शामली और उसकी बहन को। शामली का विवाह पुरोहित के बेटे से कर दिया जाता है। माँ (मीता) के पति की मौत हो जाती है, वह बच्चों के साथ नैरोबी से लौट आती है। मीता प्रायश्चित रूप में शामली को पूरा अधिकार दे देती है, जिसका विरोध उसके बच्चे करते हैं।

यहाँ पर यह बात और भी ज़्यादा उल्लेखनीय हो जाती है कि मध्यवर्गीय समाज अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा और मर्यादा के प्रति अधिक सचेत है। माँ के निर्णय पर उसका बड़ा बेटा यह कहता है कि माँ अपने अधिकार मौसी को नहीं सौंपने चाहिए। उसे पापा का स्थान लेकर हमारा पालन-पोषण करना चाहिए। वास्तव में, यह सोच मध्यवर्गीय समाज की ही हो सकती है। कथन है ‘माँ का दुख बहुत बड़ा है, मैं मानता हूँ। पर अपने शोक से उबरकर उन्होंने क्षण-भर को हम बच्चों का ख्याल किया होता, जिन्हें काल यूँ निर्ममता से छीन ले गया था, वे क्या सिर्फ उनके पति थे, हमारे पिता नहीं थे? ...चाहिए तो था कि माँ अपनी ममता का आँचल कुछ और फैलाकर पापा का स्थान लेती। ...परंतु वे तो पराये हाथों छोड़कर निश्चिंत हो गईं। [8]

यह कथन है मनीष का जो माँ का बड़ा बेटा है। जिसकी पूरी निर्भरता मौसी पर है और मौसी के बेटे से अनबन है। मौसी का बेटा उसे पसंद नहीं करता है। उसके इस नापसंद को निम्न संवाद में अनुभव किया जा सकता है। वह मनीष से कहता है कि ‘क्यों आए थे तुम लोग यहाँ। क्या उतने बड़े अफ्रीका में तुम लोगों के लिए जगह नहीं थी। आते ही तुम लोगों ने मेरा घर, मेरी माँ, मेरा सुख, सब-कुछ छीन लिया।

...छोटा सा घर था हमारा। पर उस घर में मैं राजकुमारों की तरह पलता था। उस समय मेरी हर इच्छा पर अम्मा बिछ-बिछ जाती थी। ...अब दुनिया में बस एक ही नाम रह गया है मनीष।’ [9]

‘राग-विराग’ नामक अपने उपन्यास में मालती जोशी ने मध्यवर्गीय जीवन और समाज में व्यक्त जातीयता की समस्या को बड़ी वास्तविकता के साथ उठाया है। ‘राग-विराग’ के प्रमुख पात्र

हैं कल्याणी और मनोज। दोनों अंतर्जातीय प्रेम-विवाह करते हैं। मनोज शहरी मानसिकता का युवक है जबकि कल्याणी आज की महत्त्वाकांक्षी लड़की है। वह सब-कुछ एक साथ पाना चाहती है जबकि उसका पति-प्रेमी का आकाश बड़ा सीमित है। इसके ऊपर सास की संकीर्ण मानसिकता उसे ज़्यादा विचलित किए रहती है। कल्याणी प्यार और संगीत को एक साथ लेकर चलना चाहती थी, लेकिन वैसा वह नहीं कर पायी।[10] अंततः उसे संगीत की साधना छोड़नी पड़ती है और प्रेमी के प्यार का वरण। वह सोचती है कि हर लड़की की तरह मैंने भी चाहा था कि यह बात कोई मेरे कानों में मेघवंती की मदिर स्वरावलि में गुनगुनाकर कहे। पलक-पाँवड़े बिछाकर मैं उस मदिर क्षण की प्रतीक्षा करती रह गयी और कोई जैसे मुँह पर थूक कर चला गया।[11] स्पष्ट है कि कल्याणी का जीवन अकल्याणी बन गया। कारण यह है कि उसका अंतर्जातीय विवाह और मध्यवर्गीय मानसिकता। साथ-ही-साथ इन स्थितियों में पैदा हुआ पति का व्यवहार, डरी हुई बेटी, सास का अत्याचार। ऐसी स्थिति में उसका जीवन जीना ही मुश्किल हो जाता है और अंततः वह संगीत की साधना की ओर मुड़ जाती है और उसे जीवन का एक नया आकाश और जीवन की एक नयी परिभाषा मिल जाती है।

मध्यवर्गीय जीवन और समाज के केंद्र में परिवार है। इस समाज ने प्रेम को प्रमुखता से स्वीकार किया है। मालती जोशी ने दांपत्य जीवन की कुंठा-तनाव-बिखराव और टूटन का ही चित्रण नहीं किया है, वरन् उन्होंने उन कारणों की भी तलाश की है जिनके कारण ये उत्पन्न होते हैं। वास्तव में, दांपत्य जीवन के बिखराव का मूल कारण है बेमेल विवाह। शोभा यात्रा, पाषाण युग और ज्वालामुखी के गर्भ में मालती जोशी के ऐसे ही उपन्यास हैं, जिनमें दांपत्य-जीवन के संताप और बिखराव का वर्णन किया गया है। कुछ संवाद द्रष्टव्य हैं जो दांपत्य-जीवन के संताप से संबंधित हैं। यथा

'शोभा यात्रा' उपन्यास से-

'ऐसे संस्कारशून्य व्यक्ति के साथ कोई भावुक मन कैसे जुड़ा रह सकता है।'[12]

'ज्वालामुखी उपन्यास' से-

'विवाह के रूप में उसने जिस पुरुष का वरण किया था, वह मात्र एक ऐसा रबड़ का बबुआ है, जिसके पास न अपनी कोई संवेदना है, न आस्थाएँ, न आकांक्षाएँ। वह न ढंग से प्रेम कर सकता है, न घृणा। इस तरह शून्य में कितने दिन जिया जा सकता है।[13]

'पाषाण युग' उपन्यास से-

'आप चाहते हैं कि बस मैं आपकी सेक्रेटरी बनी रहूँ। आपके पत्रों, पुस्तकों, धोबी, दूधवाले का हिसाब रखती फिरूँ। लेकिन मैं आम औरतों की तरह नहीं हूँ। इसलिए लीक से हटकर चली हूँ।[14]

भिन्न-भिन्न उपन्यासों के भिन्न-भिन्न पात्रों के माध्यम से कहला गये उक्त संवाद दांपत्य-जीवन पर प्रकाश डालते हैं। वे संवाद यह भी संकेत करते हुए चलते हैं कि किन-किन आधारों का आश्रय लेकर दांपत्य जीवन को मधुर बनाया जा सकता है। निस्संदेह, बेमेल विवाह, स्त्री-अस्तित्व की महत्त्वाकांक्षा, पति-पत्नी के बीच तीसरे की उपस्थिति, स्त्री-पुरुष के विवाहेतर संबंध जीवन-दृष्टि आदि दांपत्य जीवन को त्रासदी से भरते हैं। 'सहचारिणी' उपन्यास के योगेश और नीलू का दांपत्य जीवन इसलिए बिखरता है, क्योंकि दोनों में किसी प्रकार की वैचारिक एकता नहीं है। उपन्यास की नायिका नीलू ने स्वयं स्वीकार किया है कि शेष सभी मोर्चे पर हम बार-बार टकरा चुके थे और यह तथ्य उभरकर सामने आ चुका था कि हम दोनों में कहीं कोई सामंजस्य नहीं हैं। हमारी विचारधारा अलग थी, जीवन के हमारे दृष्टिकोण अलग थे और हमारे नैतिक मूल्यों में कोई समानता नहीं थी। दुख सहने की हमारी क्षमता एक-सी नहीं

थी। सुख भोगने की हमारी कल्पनाएँ भी आपस में मेल नहीं खाती थीं।' [15]

मध्यवर्गीय समाज जीवनमूल्यों के प्रति भी बड़ा सजग है। जीवनमूल्य विषयक भिन्नता भी दांपत्य-जीवन की सुघरता को हानि पहुँचाते हैं। 'राग-विराग' के मनोज और कल्याणी का दांपत्य-जीवन इसलिए नष्ट होता है, क्योंकि इनके बीच अर्चना नामक एक परायी स्त्री आ जाती है। यह परायी स्त्री सामान्य रूप-रंग वाली कल्याणी को उसके पति से दूर कर देती है। ऐसे ही 'शोभा यात्रा' उपन्यास के मंत्री चाचा का अपनी विधवा भाभी से अनैतिक संबंध उनके दांपत्य-जीवन को विनष्ट करता है। 'सहचरिणी' उपन्यास की गीता की कहानी भी कुछ ऐसी ही है जिसका पति विवाह के बाद उसके विवाह पूर्व अनैतिक संबंधों के कारण उससे तथा उसकी संतान से अपने को अलग कर लेता है।

मालती जोशी ने मध्यवर्गीय समाज से संबद्ध विधवाओं का भी बड़ा संवेदनामय चित्रण किया है। इसके अंतर्गत 'निष्कासन' की विधवा माया, 'पाषाण युग' की विधवा नीरजा, 'राग विराग' की जिया, 'चाँद अमावस का' की सुनीता का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। लेखिका ने मध्यवर्ग की ऐसी स्त्रियों का भी चित्रण किया है जो किसी न किसी कारण से अपना एकाकी जीवन बिताने के लिए संतप्त हैं। 'पटाक्षेप', 'पाषाणयुग', 'गोपनीय' आदि उपन्यास इस दष्टि से पठनीय हैं। 'पटाक्षेप' में स्त्री पात्र है छवि, जिसका पति उच्च शिक्षा के लिए विदेश चला जाता है। वह उसके पत्रों के सहारे अपना समय बिताती है। उसके बिना पति का घर प्रतीक्षाघर जैसा लगता है।

लेखिका मालती जोशी ने मध्यवर्ग की कामुकता और उससे उत्पन्न समस्याओं और शोषणों का भी वर्णन किया है। विस्फोट, ऋणानुबंध, पाषाणयुग आदि उपन्यास में लेखिका ने मध्यवर्ग की इनसे जुड़ी समस्याओं को अंकित किया है। 'ऋणानुबंध' की मंदा मिसरानी अपने मालिक की कामवासना की शिकार होती है औरे उसके संसर्ग से एक संतान की उत्पत्ति करती है और जीवनपर्यंत अवैध तरीके से रहने के लिए विवश हो जाती है। 'पाषाणयुग' की नीरजा की समस्या उससे थोड़ा अलग है। वह एक विधुर प्रोफ़ेसर से शादी करती है और प्रोफ़ेसर उसे मातत्व-सुख से वंचित रखता है। इतना ही नहीं, नीरजा का दुहाजू पति प्रोफ़ेसर उसकी अध्ययन एवं शोध की गतिविधियों पर रोक लगाकर उसका मानसिक शोषण करता है। इस संबंध में नीरजा की यह स्वीकारोक्ति देखने योग्य है 'वस्तुत: पति के रंगमहल में एक बौद्धिक कक्ष रिक्त था, जहाँ मेरी नियुक्ति की गयी थी।' [16]

मध्यवर्गीय समाज किंवा भारतीय समाज की एक ओर सामाजिक दास्तान है। वह दास्तान विधवा और बंध्या स्त्रियों से संबद्ध है। 'पाषाणयुग' में लेखिका ने नीरजा के माध्यम से बंध्या स्त्री की कारुणिक गाथा को उजागर किया। प्रोफ़ेसर की जननविषयक असमर्थता से नीरजा बाँझ घोषित कर दी जाती है। उसका पति जानबूझकर ऐसा करता है। उस पर उसकी ननदें उसे ताना देती हैं। ननद का कथन है कि भगवान दिया इसके भी एकाध हो जाता तो गहस्थी में मन भी लगता। अब तो क्या है जैसे होटल, वैसे घर। [17]

मध्यवर्गीय जीवन और समाज से जुड़ा हुआ एक संदर्भ और भी है, जिसे यहाँ प्रस्तुत करना जरूरी प्रतीत होता है। देवर और भाभी के अनैतिक दैहिक रिश्ते। मालती जोशी ने अपने उपन्यास 'पटाक्षेप' में इस मुद्दे को उठाया है। 'पटाक्षेप' की नायिका पद्मा अपनी देवरानी पर शक करती है। कारण है कि उसकी देवरानी का पति अर्थात् उसका देवर विदेश में है और वह किसी अन्य पुरुष (गौतम साहब) का स्वागत बहुत सज-सँवरकर करती है। उसके सजने-सँवरने का उल्लेख लेखिका इस प्रकार करती है बादमी रंग की नेट नॉयलान साड़ी, मैचिंग ब्लाउज और चूड़ियाँ, ढीला जूड़ा, जूड़े में गुलाब

छवि तो ऐसे सज सँवर कर खड़ी थी जैसे कहीं पार्टी में जाना हो।[18]

इतना ही नहीं, पद्मा की आशंका तब और पक्की हो जाती है, जब गौतम साहब उसकी देवरानी को यह रचना भेंट करते हैं

सहरा-ए ज़िंदगी में ठंठी बयार-सी तुम
उजड़े हुए चमन में फ़सलें-बहार-सी तुम
तुम कौन हो, कहाँ से आकर बरस गई हो,
जलते हुए जिगर पर भीनी फुहार-सी तुम।[19]

अंत में कहा जा सकता है कि मालती जोशी मध्यवर्गीय समाज, मध्यवर्गीय जीवन और मध्यवर्गीय चरित्रों की उपन्यास लेखिका हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में मध्यवर्ग से जुड़ी अनेक संवेदनाओं और समस्याओं को बड़ी वास्तविकता से उजागर किया है। मालती जोशी का यह सारा चित्रण उनके अनुभूत सत्य का प्रमाण है, क्योंकि उनका जीवन मध्यवर्गीय समाज से ही संबद्ध रहा है। वास्तव में, मालती जोशी न तो किसी वाद के चक्कर में पड़ती है और न ही प्रतिवाद के। यदि उनका संवाद होता है तो जीवन के यथार्थ से, जीवन की वास्तविकता से, जीवन की सत्यता से। इसीलिए उनके उपन्यास मध्यवर्ग की सजीव प्रतिमूर्तियाँ गढ़ने में समर्थ हो सके हैं और पाठकीय संवेदनाओं को अपनी तरफ आकृष्ट करने में बेजोड़ सिद्ध हुए हैं।

संदर्भ

1. जी॰ एस॰ धुरिये, कास्ट : कास्ट एंड आक्यूपेशन, पृ॰ 290 से
2. सं॰ धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्यकोश : खंड-1, पृ॰ 473
3. मालती जोशी, समर्पण का सुख, पृ॰ 121-122
4. सहचारिणी, पृ॰ 17-18
5. वही, पृ॰ 52
6. वही, पृ॰ 62
7. वही, पृ॰ 56
8. मालती जोशी, ज्वालामुखी के गर्भ में, पृ॰ 94
9. वही, पृ॰ 100
10. यह तो साधना की उमर है बेटा, शक्ति भी चाहिए और लगन भी। इस तरह दो नावों में पैर रखकर चलोगी तो बड़ी मुश्किल होगी। वही, पृ॰ 20
11. मालती जोशी, ज्वालामुखी के गर्भ में, पृ॰ 31
12. वही, पाषाणयुग, पृ॰ 15
13. वही, ज्वालामुखी के गर्भ में, पृ॰ 55
14. मालती जोशी, पाषाणयुग, पृ॰ 26
15. सहचारिणी, पृ॰ 55
16. मालती जोशी, पाषाणयुग, पृ॰ 43
17. वही, पृ॰ 68
18. पटाक्षेप, पृ॰ 6
19. वही, पृ॰ 79

प्रतिवाद-पर्व में सीता

डॉ॰ रामसजन पांडेय
प्रोफ़ेसर, हिंदी-विभाग,
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

(अ)

अनंत रामकथा के अनंत रूप-प्रतिरूप हैं। सन्तों, भक्तों, कवियों-कलाकारों ने इस रामकथा को भाँति-भाँति से गाया-ध्याया है, बखाना-बरना है। फिर भी परवर्ती रचनाकारों को यह बराबर अनुभव होता रहा कि कहीं कुछ रह गया है, कहीं कुछ छूट गया है। यह अनुभव और यह अहसास चाहे उर्मिला को लेकर उत्पन्न हुआ हो और चाहे किसी अन्य पात्र को लेकर। रामकथाकारों द्वारा उर्मिला की उपेक्षा सहृदयों को बहुत दिनों तक कचोटती रही। इस कचोट का निवारण बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और मैथिलीशरण गुप्त के प्रयासों से तो हो गया, लेकिन सीता की अंतर्पीड़ा की तरफ़ रचनाकारों का ध्यान नहीं गया। पति श्रीराम के साथ एक बार वन चली जाने पर लगा कि उसे सब-कुछ मिल गया। शायद, इसी समीपता-प्राप्ति के कारण सीता की व्यथा-कथा के प्रति कवियों का ध्यान उसकी तरफ़ नहीं गया। एक पत्नी के रूप में, एक महारानी के रूप में, एक माँ के रूप में, एक प्रजा के रूप में और एक नारी के रूप में सीता ने क्या-क्या नहीं भोगा इस अंतर्निगूढ़ित भोग और वेदना की तरफ़ कवियों का ध्यान नहीं गया है। कवयित्री डॉ॰ पुष्पा बंसल ने भारतीय नारी के अंतस् में विद्यमान गहन पीड़ा और उस पीड़ा से प्रादुर्भूत आक्रोश को बड़ी सूक्ष्मता के साथ भावित किया और उसी अनुभावना के परिणामत: 'प्रतिवाद-पर्व' की अवतारणा की। कवयित्री ने लिखा भी है कि 'प्रतिवाद-पर्व' रामकथा के उस भाग से संबंधित है जिसके विषय में प्राय: हिंदी का कवि मौन रहा है। [1]

प्रस्तुत कृति 'प्रतिवाद-पर्व' के नामकरण के संदर्भ में विलोकनीय है कि 'प्रतिवाद-पर्व' दो शब्दों से बना है 'प्रतिवाद' और 'पर्व'। 'प्रतिवाद' का अर्थ है विरोध, खंडन, विवाद, बहस, उत्तर या जवाब तथा पर्व का अर्थ है अवसर, क्षण, मौका, धर्म, पुण्य कार्य आदि। इस प्रकार कोशगत आधार पर 'प्रतिवाद-पर्व' का अर्थ हुआ विरोध का क्षण, खंडन का अवसर आदि। पर यह विरोध का क्षण, खंडन का अवसर किसका? इस प्रश्न के उत्तर के लिए कृति के प्रतिपाद्य का आश्रय लेना पड़ेगा। तो प्रतिपाद्य के आलोक में अर्थ हुआ सीता के विरोध का क्षण, सीता के खंडन का अवसर। यह विरोध है, यह खंडन है परंपरागत रामकथा का, न्यायी शासक राजा राम का, सत्य-साधक महाराघव का। या यों कहें कि 'प्रतिवाद-पर्व' में सीता के नारी रूप ने, सीता के माँ रूप ने, सीता के पत्नी रूप ने, सीता के प्रजा रूप ने पुरुष राम से, पिता राम से, पति राम से, राजा राम से प्रतिवाद किया है अपने अधिकारों को लेकर। वास्तव में, 'प्रतिवाद-पर्व' नाम रचनात्मक कथ्य और कथा के सर्वथा अनुरूप है।

'प्रतिवाद-पर्व' रामकाव्य-परंपरा की ऐतिहासिक रचना है, यानि इस कृति में सीता को भारतीय नारी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है और उस प्रतिष्ठा के साथ उसके चित्त में विद्यमान अनेक प्रश्नों को सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, वैधानिक, पर्यावरणिक संदर्भों में उठाया गया है। सामान्य रूप से, 'प्रतिवाद-पर्व' की कथा तीन खंडों में विभक्त है, फिर तीनों खंडों को चार-चार उपखंडों में विभक्त किया गया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से यह विभाजन विलोकनीय है-

खंड-एक : वाद
वनश्री
काव्य या इतिहास
भ्रांति-धूम
यदि मैं होती राजसुता
खंड-दो : विवाद
मैं अकेली
नारी-शक्ति
व्यवस्था और अवस्था
द्वेषी भाग्य
खंड-तीन : प्रतिवाद
अनागत
अभिज्ञान
उत्खनन
प्रतिवाद

कवयित्री ने इन खंडों-उपखंडों को पत्र माना है।[2] इसमें कोई संदेह नहीं है कि पूरी रचना पत्रात्मक शैली में विरचित है। इस प्रकार, इस कृति में तीन पत्र बारह उपखंडों में प्रस्तुत किए गए हैं।

'प्रतिवाद-पर्व' में कवयित्री का उद्देय परंपरा से चली आ रही कथा का न तो पुन:वर्णन करना है और न सीता-चरित का महिमा-गान करना ही है। कवयित्री ने इस कृति में सीता के गतानुगतिक रूप को परंपरापथक् रूप प्रदान किया है। 'प्रतिवाद-पर्व' की सीता वाल्मीकि और तुलसी की सीता नहीं है, वरन् वह बीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों की भारतीय नारी है, जो अपने कर्त्तव्य और अधिकार को भली-भाँति जानती है, वह पति राम, रामराज्य के राजा राम, पिता राम को उनकी दायित्व-पराङ्मुखता का अहसास कराना चाहती है। हाँ, यह अवश्य है कि 'प्रतिवाद-पर्व' की सीता उसे किसी न्यायालय में नहीं ले जाती है, वह राम को जनता की अदालत में ले जाने का उपक्रम करती है। इस वस्तु-सत्य को उजागर करते हुए कवयित्री ने लिखा है कि 'प्रतिवाद-पर्व' में सीता ने चुप रहने के स्थान पर मुख खोलना श्रेयस्कर समझा है। यह ठीक है कि वह पति को उसके कृत्यों के लिए अदालत में नहीं घसीटती, पर एक बड़ी अदालत है, जहाँ वह मुकद्दमा ले गई है जनचित्त की अदालत। उसने जनता के समक्ष अपना पक्ष, कथा का वह पक्ष जिसे वह जानती है पर जनता नहीं जानती, या जनता को जानने नहीं दिया गया, प्रस्तुत करती है।[3]

'प्रतिवाद-पर्व' सहृदय समाज को नई सोच और नया चिंतन प्रदान करता है। वास्तव

में, 'प्रतिवाद-पर्व' चिंतन और चित्रण का महापर्व है। इस कथाकाव्य में भावना और विचारणा के नाना आयामों का उद्घाटन-उद्भावन हुआ है। कवयित्री ने बड़े सुविचारित ढंग से काव्य, इतिहास, दर्शन, सत्य, राजनीति, संस्कृति, प्रकृति आदि की प्रस्तुति के साथ सीता के नारी रूप को बड़ी सहजता से रूपित-व्यंजित किया है।

(आ)

भारतीय साहित्य और संस्कृति में नारी को अद्भुत गरिमा प्राप्त है। कवियों-कलाकारों, चिंतकों-चित्रकारों ने उसके नानाविध रूपों को रूपित किया है। पत्नी, प्रेयसी, माँ, बहन, पुत्री, रानी, दासी आदि-आदि उसके रूप-स्वरूप के उल्लेख्य पक्ष हैं। सामान्य रूप से, यह कह दिया जाता है कि 'नर से भारी नारी', लेकिन समाज में व्यावहारिक दृष्टि से नारी कितनी भारी है यह एक विचारणीय विषय है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि नारी का प्रकृत रूप शक्ति का रूप है, लेकिन शक्तिस्वरूपा नारी को पुरुष-प्रधान समाज ने अशक्त बना दिया है। नारी के अशक्त-अबला रूप का हेतु उसका नारीत्व नहीं, वरन् उसका पुत्री, उसका पत्नी, उसका माँ रूप रहा है। उसे मानवी रूप में नहीं, वरन् संबंधों के रूप में जाना जाता है। इसलिए वह निरंतर पिता, पति, पुत्र की इच्छा-वेदिका पर अपने को उत्सर्ग कर अबला बनती चली आ रही है। हाँ, नारी यदि अपने को संबंधों से अलग कर ले और अपने स्वाभाविक नारीत्व का ही परिचय देती चले तो वह कहीं पर भी अबला नहीं है। वह सचमुच एक नहीं दो-दो मात्राओं भारी नारी सिद्ध हो सकती है।

डॉ० पुष्पा बंसल भावप्रवण और विचारविदग्ध महिला हैं। उन्होंने अपनी रचना 'प्रतिवाद-पर्व' में सीता के बहाने से नारी-स्वरूप की अनेकशः व्यंजना की है। सीता ही 'प्रतिवाद-पर्व' का केंद्रीय चरित है। वही इस कृति का एकमात्र मुखर पात्र है। ऐसी स्थिति में, सीता की वाणी, सीता की सोच, सीता के स्वर, सीता की धारणा, सीता की कल्पना, सीता की विचारणा से ही 'प्रतिवाद-पर्व' प्रतिरूपित हुआ है। उसी के चारों तरफ़ प्रतिवाद-पर्व की कथा घूमती है या वही मनचाहे ढंग से प्रतिवाद-पर्व के वस्तुतत्त्व को घुमाती है।

नारी को सौंदर्य का पर्याय, धरती का सार माना गया है। उसे सवाक् सुमन की संज्ञा प्रदान की गयी है। सौंदर्य ही नारी का रूप है और वही उसकी शक्ति भी। कवयित्री ने अपनी रचना में नारीविषयक इसी सत्य का प्रतिपादन किया है। जहाँ तक सीता का प्रश्न है, उस संदर्भ में ज्ञातव्य है कि सीता शक्ति और सौंदर्य की जीवंत सर्जना थी। सौंदर्य तो उसका ऐसा कि शोभा भी शोभित हो उठे और शोभा ऐसी कि उसको प्राप्त करने के लिए सारा संसार मचल उठे [4] तथा शक्ति ऐसी निजी कि जो शिवचाप बड़े-बड़े भूपतियों के सँभालने से नहीं सँभला, उठाने से नहीं उठा, सीता उसको उठाने में सहज सक्षम थी

> बल की मुझमें कमी नहीं थी
> मैं तो अबला कभी नहीं थी
> शिव-धनुष सहज उठाती थी मैं
> इधर-उधर सरकाती थी मैं। [5]

पुष्पा बंसल ने 'प्रतिवाद-पर्व' में सीता के बहाने नारी रूपों-दायित्वों-कामनाओं-संत्रासों को सुरेखित किया है। कवयित्री ने पुत्री सीता, प्रजा सीता, पत्नी सीता, रानी सीता, माँ सीता तथा नारी सीता की चिंता और चिंतन को एक साथ इस रचना में अभिव्यक्त किया है। कहने की आवश्यकता नहीं है

कि प्रतिवाद-पर्व का वस्तु-विधान सीता-निर्वासन से संबद्ध है, लेकिन वह परंपरागत नहीं है। वह निर्वासन के आदेश को तो वहन कर लेती है, लेकिन परिवेश-पराङ्मुख हो चुप नहीं रहती है। कवयित्री बंसल की पतिपरायणा सीता अपने सत्य-साधक, मर्यादा-पुरुषोत्तम, न्यायी राजा, पति श्रीराम से यह अवश्य जानना चाहती है कि जब उसने मनसा, वाचा, कर्मणा पत्नी-धर्म का निर्वाह किया, तब उसे निर्वासन का कठोर दंड क्यों दिया गया? वह श्रीराम से पूछती है कि

सत्यसाधक! मर्यादा पुरुषोत्तम! राजा राम।
मेरा अपराध?
हे न्यायी राजन्! इस सत्त्वा पत्नी का अपराध?
पत्नी-धर्म का मैंने तो सविधि निर्वहण किया
कर्मणा-वाचा-मनसा, इसका लंघन नहीं किया।
उसकी यह परिणति, यह पारितोषिक?[6]

प्रजा की रक्षा का दायित्व राजा का होता है। राजा राजा होता है। वह संबंधों से निरपेक्ष-स्वतंत्र होता है। न्याय के सिंहासन पर बैठने के उपरांत उसके लिए सभी प्रजा होते हैं। सीता भी रानी-पत्नी होते हुए भी राजा राम की प्रजा है। राम ने सीता को निर्वासन का आदेश देते हुए उसे केवल पत्नी माना, प्रजा नहीं। न्याय की दष्टि से राम का यह मानना सर्वथा असंगत था। यदि राजा राम ने किसी के द्वारा सीता-चरित्र का लांछन सुना तो न्याय की माँग के अनुसार सीता को अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाना चाहिए था और यदि किसी कारण अवसर नहीं दिया गया तो राजा राम का यह दायित्व था कि एक विशेष प्रजा पर विशेष प्रजा द्वारा लगाये गए आरोप की वास्तविकता की विवेचना करने के बाद दंड-विधान निर्धारित करते। हमारे पुरातन कवियों की सीता प्रकृत न्याय के इस प्रकरण पर बिलकुल मौन रही है, लेकिन कवयित्री बंसल की सीता ने अपने को प्रजा मानकर राजा राम से अपनी रक्षा, अपने प्रति न्याय तथा राजा के कर्त्तव्य का प्रश्न उठाया है। प्रजा सीता ने शासक राम से जिन प्रश्नों का उत्तर जानना चाहता है, वे अत्यन्त सार्थक और न्यायोचित हैं। वह राम से जानना चाहती हैकि

और आर्यपुत्र! तुम!
माना तुम राजा हो, प्रजा के पालक, वत्सल राजा हो!
पर मैं, मैं सीता, क्या प्रजा नहीं थी?
मेरी रक्षा, मेरा न्याय, क्या राजा का कर्त्तव्य नहीं था?[7]

निर्वासन के निर्मम दंड से सीता बिलकुल टूट जाती है। उसे अपने अकेलेपन का तीखा और गहरा अहसास होता है, अपने संबंधों-रिश्तों-नातों की यथार्थता-सार्थकता का अनुभव होने लगता है। जगजाहिर है कि सीता धरितीसुता थी। जनक और सुनयना की आत्मजा औरस संतान नहीं। निर्वासन के कारण सीता को अपनी उत्पत्ति बड़ी पीड़ादायिनी प्रतीत होती है। 'विवाद' खंड के 'मैं अकेली' नामक कविता में कवयित्री ने सीता की असहाय और एकाकी स्थिति का बड़ा करुणोज्ज्वल और मर्मोज्ज्वल व्यंजना की है। अपनी इस दारुण विपत्ति में सीता यह सोचने के लिए विवश होती है कि यदि मैं राजसुता-जनकसुता होती, राजा-रानी की औरस संतान होती तो यह कथा न होती [8], निर्वासन का इतिहास न घटता, क्योंकि यह समाचार जैसे ही मेरे पिता को प्राप्त होता, वैसे ही इस अन्याय-अनौचित्य के प्रतिकार के लिए वे क्रोधाविष्ट हो जाते, महाराजा विदेह 'विदेह' होते हुए भी पुत्री की पीड़ा से विकल

हो उठते[9] और माँ सुनयना भी निर्वासन-संदेश से चुप नहीं रह पातीं। वे पुत्री को बिना न्याय दिलाये हुए न तो खुद चैन लेतीं और न दूसरों को लेने देतीं।[10] और यदि कोई भाई भी होता तो निर्वासन का घटनाक्रम यूँ नहीं बन सकता था। वह आसन्न प्रसवा, अग्निपरीक्षिता, निरपराध बहन के निष्कासन-संवाद से विक्षिप्त हो कोल-राजभवन को मनमानी नाटक रचने का अवसर न देता

यदि मेरा कोई भाई होता,
तो आर्यपुत्र! यह घटनाक्रम यूँ न बनता,
न ही कोल राजभवन में यूँ मनमाना नाटक रचता!!
बहिन निरपराध! आसन्नप्रसवा! अग्निपरीक्षिता!!
महलों से वन में निष्कासित ?
यह सुनते ही वह हो जाता विक्षिप्त,

हा भाग्य! न दिया एक सहोदर भ्राता।
पितृकुल का दीपक, उत्सव पर्वों की शोभा। [11]

लेकिन सीता के पितृगृह मिथिला में सीता-निर्वासन संवाद से कुछ विशिष्ट नहीं हुआ। माँ सुनयना, पिता जनक एवं अन्य सब के सब आत्मस्थ रहे, उनकी आत्मस्थता का कारण सीता का पालिता रूप था। कवयित्री ने सीता से कहलवाया है कि पुत्री के निष्ठुर गृह-निष्कासन पर जनक जननी, मिथिला की राजसभा और ओष जनता की मूकता का कारण उसका औरस संतान न होना था। उनके व्यवहार से विगलित वह अति पीड़ित मन से कहती है

भूमिहर, अनाम, अनाथ, खेतों में छोड़ी बाला
राजा रानी ने कृपाभाव से उसे पुत्रीवत् पाला।
पुत्री नहीं थी वह, औरस, कोखज, आत्मजा,
न ही वह मिट्टी में खेतों में सोई बाला, थी सामंतसुता। [12]

सीता का निर्वासन मानवीय संवेदना पर बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न और बहुत बड़ा आघात है। वैसे तो नारी सर्वथा रक्षणीय मानी गयी है, लेकिन आसन्नप्रसवा सीता की रक्षा तो दरकिनार, निर्वासन देना पुरुषोत्तम राम की सम्वेदनाशून्य जड़ता को उजागर करता है। निर्वासिता सीता वन में भी न तो अपने लिए जीती है और न अपने बारे में ही सोचती है। वहाँ पर वह अपने भीतर निहित, उगने के लिए उद्यत अंकुर के बारे में विचार करती रहती हैं कि मेरे अविचारपूर्ण निष्कासन के आघातों का अमोघ उपचार प्राणों में पलने वाले जीव का स्वागत और उसके प्रति दायित्व-निर्वाह है

यह सब था मेरा दायित्व
मेरा कर्त्तव्य, मेरा प्रतिशोध
अविचारपूर्ण निष्कासन के
आघातों का उपचार अमोघ। [13]

सीता माँ बनती है। एक नहीं, दो-दो पुत्रों की माँ। [14] वह माँ के गुरुतर दायित्व की संवाहिका बनती है। [15] पुत्रों के जन्म से माँ सीता का मन आनंद से पुलकित हो उठता है। पुत्रद्वय सीता के मस्तक के माणिक साबित होते हैं। इतना ही नहीं, उनकी तोतली वाणी माँ के लिए परम कल्याणी साबित होती है

माणिक हैं मेरे मस्तक के, आह्लादों से झोली भरते।
इनकी वाणी कल्याणी, इनके तुतले लड़ियाते बोल,
ठुमठुम इनकी चलन गति है ावि सम्पद् का मोल
मन के सारे आघातों–चोटों की मदु औषध हैं ये
कल के ब्रज का मधुलेप, आज के सुख का स्त्रोत हैं ये। [16]

माँ सीता बच्चों के अनुपालन और भविष्य को लेकर भी ६ःचतित है। माँ की भूमिका में रहकर उसने यह प्रन उठाया है कि यदि राम का दायित्व अपनी पत्नी के प्रति नहीं था, तो क्या उनका दायित्व अपनी संतति के प्रति भी कुछ नहीं था[17] जबकि अबोध ाव सँभाल और पालन की अपेक्षा करता है। सीता ने बड़ी स्पष्टता और दढ़ता के साथ ाािु के प्रति दायित्वबोध के प्रन को उठाया है और दायित्वहीनता तथा दायित्वपराङ्मुखता की दाा में भविष्य की भयंकरता को भी संकेतित किया है। वह कहती है कि ाािु के प्रति दायित्वहीनता की स्थिति में अपार–अपूरणीय क्षति होगी, विवास ध्वस्त होगा, मन आहत होगा तथा आदर–स्नेह–संबंध तार–तार हो जाएँगे

क्षति होगी अपार, अपूरणीय
विवास डुलेगा, मन कडुआएँगे
ुर्कि
संभार, मनुहार
नहीं मिला तो
समाज में
संबंधों का आदर, स्नेह का मान मिट जाएँगे,
स्वीकृति, उदारता, सहनालता होंगे ग़ायब
रितों के सूख व्रण पपड़ाएँगे। [18]

पुष्पा बंसल ने अपनी 'प्रतिवाद–पर्व' नामक कृति में सीता के माध्यम से जहाँ नारी के विविध रूप–स्वरूप की अवतारणा की है, वहीं पर उन्होंने उसके चरित्र के अनेक स्पहणीय और नवीन पक्षों को भी उद्घाटित किया है। रामकथा की जो सीता परम पतिपरायणा थी, पति के प्रति अंधविवास रखती थी, निर्वासन के प्रति बिलकुल मूक–मौन थी, कालांतर में, 'प्रतिवाद–पर्व' में वह अपनी मूकता को उतारने के लिए विवा दिखाई पड़ती है। युग–युग से और जन–जन द्वारा आराधित–पूजित श्रीराम पर; उनके न्याय–सुाासन–जनरंजन और भगवत्ता पर वह अनेकानेक आरोप लगाती है। [19]

सीता ने राम पर इन आरोपों को एक विोष मानसिक स्थिति में लगाया है। वह मानसिक स्थिति थी राम के द्वारा सीता का बड़ी निर्ममता के साथ परित्याग–निर्वासन, उसके जीवन–मरण और कुालक्षेम से पराङ्मुखता–उदसीनता, [20] वसुरगृह और पितागृह की निर्वासन–समाचार के प्रति तटस्थता। इन सारे संदर्भों, इन सारी स्थितियों के कारण विरहिणी–परित्यक्ता सीता अत्यन्त अकेली पड़ जाती है। सीता का यह अकेलापन उसके व्यक्तित्व को अनोखा विस्तार दे देता है। निर्वासनावस्था में राजमहल से हटकर, राजमहल की सुविधाओं से विरहित होकर वह विाष्टि वैभव को प्राप्त करती है। वह आत्मस्थिति, आत्मप्रसन्नता तथा आत्मावलंबन से अनुप्राणित हो उठती है। वास्तव में, सीता का यह आत्मावलंबन क्रूर निगति का परिणाम है

आर्यपुत्र!

अब मैं प्रसन्न हूँ
परम प्रसन्न।
राजमहल को पीछे छोड़
स्मृति-कपाट कर दिए हैं बंद
अब मैं जीना सीख गई हूँ, अपने बल पर।[21]

दुख मानव के लिए शाप है। इससे जो लड़ता है, इसका जो धीरता से सामना करता है, वह निखर उठता है, विजयी हो जाता है; जो डर जाता है, वह मर जाता है। सीता ने इस दुख का सामना बड़ी धीरता से किया, इसीलिए वे विजयी रहीं। हरण-निर्वासन सीता के लिए कितना पीड़ादायी रहा। जो सीता गोद छोड़ने के बाद, हिंडोरे पर रहीं और हिंडोरा छोड़ने के बाद पलंग-पीठ पर ही रहीं, कठोर पृथ्वी पर चरण ही नहीं रखे, उस सीता ने कितना संताप झेला, लेकिन इन सारे संतापों से सीता ने नयी दृष्टि तथा नई ऊर्जा प्राप्त की। शक्ति-स्रोत के इसी संदर्भ में प्रतिवाद-पर्व की सीता ने कहा है कि

मैं दुखियारी
अपनों के षड्यंत्र की मारी
दुख ने मुझको माँज माँज
दृष्टि नयी दे दी है
कालोदधि के वार-वार
इच्छा गति दे दी है।[22]

स्वावलम्बन का आनन्द और दुख की दृढ़तापूर्वक सहन सीता को अबला नारी नहीं बनने देता है। उसे यह अहसास ही नहीं होता है कि वह कभी अबला भी थी।[23] वैसे तो उसकी यह धारणा है कि नारी का बल शरीर में नहीं, वरन् उसके सौंदर्य में होता है। नारी-बल उसका सौंदर्य होता है। कवयित्री ने गोस्वामी तुलसीदास की भाँति[24] सीता-मुख से सीता का सौंदर्य निरूपित किया है। सीता अपने सौंदर्य का भावन-वर्णन करती हुई कहती है

कहते हैं नारी बल है सौंदर्य
उसकी भी मुझमें कमी नहीं थी
कला भरा था, छलक उठा था,
शोभा को शोभित करने वाली
छविगृह में लौ-सी जलने वाली
मैं भी सीता, मुझको पाने को
अग-जग सारा मचल उठा था।[25]

निर्वासन-आत्मावलंबन-दुःखदाघनिदाघ से सीता को अपनी मूकता का आवरण हटाना पड़ता है। वह मुखर-तर्कप्रवीणा बन जाती है। वाल्मीकि, तुलसी, मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियों की जो सीता परम भोली-भाली है, अपने अधिकारों के प्रति सोई है, अपने प्रति हो रहे अत्याचार के प्रति बिलकुल मूक एवं मौन है, वही 'प्रतिवाद-पर्व' की सीता श्रीराम से निर्वासन का दंड पाकर तर्कशीला बन जाती है। अपनी इसी तर्कप्रवीणता के आधार पर वह श्रीराम से भाँति-भाँति से प्रश्न करती है। एक तरफ़ तो वह राज्य हित और प्रजाहित रखती है तथा दूसरी तरफ़ निष्पाप पत्नीहित और सन्तति-हित रखती है। इन दोनों की तुलना के माध्यम से वह श्रीराम से यह जानना चाहती है कि इनमें क्या रक्षणीय था?

[26] वह राम से यह भी जानना चाहती है कि क्या कोई अकेली आवाज जनप्रतिनिधि बन सकती है। वह जन-प्रतिनिधित्व का पद तभी प्राप्त कर सकती है, जब उसका चयन या तो जनगण ने किया हो या शासन के द्वारा उसका मनोनयन हुआ है, [27] लेकिन न्याय-प्रक्रिया की समस्त स्थितियों को अस्वीकार करते हुए आपने मुझे निर्वासन का कठोर दंड दिया। यह व्यवहार अनुचित था। सीता कहती है कि मुझे पत्नी न मानकर प्रजा मानकर मेरे साथ न्याय किया जाना चाहिए। वास्तव में, सीता का यह कथन उसकी बौद्धिक क्षमता और राजनीतिक समझ को उद्घाटित करता है

और आर्यपुत्र! तुम!
माना तुम राजा हो, प्रजा के पालक, वत्सल राजा हो!
पर मैं, मैं सीता, क्या प्रजा नहीं थी?
मेरी रक्षा, मेरा न्याय, क्या राजा का कर्त्तव्य नहीं था? [28]

इतना ही नहीं, वह अपने निर्वासन के औचित्य का भी प्रश्न उठाती है। निर्वासित सीता राम से उन संहिताओं और विधिशास्त्रों की भी जानकारी प्राप्त करना चाहती है जिसमें उसके निष्कासन का प्रावधान है। वह अपने परित्याग के प्रस्तावक और अनुमोदक का प्रश्न उठाती है जो न्याय-प्रक्रिया की दृष्टि से अत्यंत सार्थक-समीचीन है

कौन था प्रस्तावक बोलो इस दंड का?
था अनुमोदक कौन?
किस संहिता के अंतर्गत यह निर्धारित किया गया था?
कौन धर्म, कौन संहिता, कौन-कौन से विधिशास्त्र
पति के पत्नी-परित्याग का प्रावधान करते हैं? [29]

उपेक्षा और अवमानना का अभिशाप झेलते-झेलते सीता बड़ी बौद्धिक तर्कशीला हो जाती है। इसी तर्कनिपुणता के आधार पर वह राम से उनकी व्याप्त महत्ता और गरिमा से सम्बन्धित अनेक प्रश्न पूछती है। सीता ने अपने परित्याग के कारण मुनि पत्नी अहल्या और तारा का भी सन्दर्भ उठाया है। उसे राम के दोहरे व्यवहार, राम के अनुचित व्यवहार पर आक्रोश है - आचर्य है। वह राम से कहती है कि हे राम! तुम्हारी लीला बड़ी विचित्र है। पातकी को तो आप मुक्त कर शिला से सप्राण नारी बना देते हैं और सप्राण नारी को निर्जीव शिला बना देते हैं

वाह रे राम! विचित्र तुम्हारी लीला!
पगधूलि के स्पर्श मात्र से निर्जीव शिला को नारी सप्राण बनाते हो,
और हाथ के संकेत मात्र से जीवित नारी को निर्जीव शिला कर देते हैं। [30]

पर-पुरुष के साथ रही नारी को आप दण्डमुक्त कर देते हैं तथा निष्पाप पत्नी को आप दण्ड की दाहकता में झोंकते हैं

राजन्!
पति-पत्नी संबंधों की गरिमा, तुम भली प्रकार जानते थे
कुसमयग्रस्त नारी की सामर्थ्य-सीमा पहचानते थे।

क्या सुग्रीव ने पर संग पत्नी सम रही
भार्या को स्वीकार नहीं किया था?

क्या वानरराज को राज्य लेने, पत्नी त्यागने का आदो दिया था?
क्या पर पुरुष संग रही पत्नी को अग्नि प्रवो का दंड दिया था? [31]

दुखियारी तथा अपने लोगों के षड्यंत्रों की मारी सीता [32] विवा हो भाग्य पर भरोसा करने के लिए लाचार हो जाती है। वह अपने भाग्य को कोसने लगती है। सीता को यह समझ में नहीं आता कि अयोध्या के राज-भवन को उसके भाग्य से द्वेष क्यों है। राजतिलक के समय चौदह वर्ष का काननवास, [33] माँ बनने के क्षण परित्याग का पहाड़ उसके ऊपर क्यों टूटा[34] यह सब क्या है, क्यों है?

अयोध्या के राजभवन को
क्यों है द्वेष भाग्य से मेरे,
मेरे नक्षत्रों और बनबीहड़ का क्या है संबंध? [35]

इन सारी विषम और कठिन परिस्थितियों के बावजूद 'प्रतिवाद-पर्व' की सीता का मनोबल कहीं भी मंद नहीं पड़ता है, वह हताा-निराा नहीं होती है तथा रामकथाकारों की सीता की भाँति न तो वह धरती में ही प्रवो करती है। इस घटना पर कवयित्री ने सविस्तर विचार भी किया है। उसका अभिमत अवलोकनीय है 'रामकथा में सीता का भूमि फटने की प्रार्थना करके भूमि में समा जाने का प्रसंग संभवत: सीता के क्रोध या निराा या मोहभंग की स्थिति का संकेतक है। एक गहन अपमान व आत्म-तिरस्कार के भाव से गुजरकर उन्होंने सोचा होगा हे भगवन् मैं कहाँ जाऊँ काा यह धरती फट जाती तो मैं इसी में समा जाती। सचमुच धरती में प्रवो किया हो ऐसा नहीं लगता। यदि कोई भूचाल आता, तो अकेली सीता नहीं, यज्ञमंडप में उपस्थित अनेक व्यक्ति भू-प्रवो करते।" [36]

कवयित्री की यह बौद्धिक सोच है। धरती में प्रवो करनेवाली बात तो भावुक भक्तों द्वारा गाई गई है। सारी विपत्ति झेल लेने के बाद सीता ने धरती में क्यों प्रवो किया? उसे यदि आत्मघात करना ही था तो वह पहले ही कर लेती। विपत्तियों ने तो माँज-माँजकर उसे स्वच्छ निर्मल बना दिया, दो पुत्रों की माँ बना दिया; यह उसके लिए कम गौरव और अवलंब की बात नहीं है। 'प्रतिवाद-पर्व' की सीता इन तथ्यों को सम्यक् रूप से जानती है। उसे अपने पुत्रों पर गर्व है,[37] लेकिन वह उनके अधिकार के लिए अवय ६ंचतित व सचेत है। [38]

समय चाहे जैसा हो, बीत जाता है। सीता का भी समय बीत जाता है। उसके पुत्र युवा बनते हैं। वह अयोध्या के चक्रवर्ती सम्राट राम को दोनों पुत्र सौंपकर [39] वनवासी साथियों के बीच लौट आती है और ोष जीवन को नया अर्थ देने के लिए संकल्प लेती है। यह संकल्प है ोषण-दोहन के विरोध का, उपेक्षित-ोषित लोगों के संरक्षण का। सीता संकल्प रूप में घोषणा करती है

ोष जीवन को अपने, दूँगी अर्थ
प्रगति-विकास व ोषण-दोहन के मध्य रेखा खींचूँगी
विरोध करँगी ाासन के मदमत्ती ोषण का
इन पर आँच न आने दूँगी,
इनकी निजता, इनके घर, इनका बन-संसार,
किसी प्रकार न उजड़ने दूँगी। [40]

वास्तव में, कवयित्री पुष्पा बंसल ने सीता और 'प्रतिवाद-पर्व' कृति की जो प्रसन्न और उदात्त परिणति दिखलायी है, वह सर्वथा सराहनीय-मानवीय है। जो बुद्धि का वैभव हो, सौंदर्य का सागर हो, स्वावलंबन से संवलित हो, दुखों की दाहकता को झेल लिया हो, वह किसी के अत्याचार से पस्त-परास्त

हो आत्महनन करे, आत्म गोपन करे, यह उसके बल-बुद्धि की सार्थकता-सम्मान नहीं है। सार्थकता और सम्मान तो डटकर सामना करने में है। प्रतिवाद-पर्व की सीता इसी महाभाव से पुलकित है, इसी से वह अपने जीवन-पथ की सर्जना करती है।

उपरि-विवेचित बिन्दुओं के आलोक में यदि हम 'प्रतिवाद-पर्व' की सीता पर दृक्पात करें तो बड़ी स्पष्टता के साथ यह तथ्य उभर कर आएगा कि सीता-चरित के पक्ष हैं-

1. बौद्धिक पक्ष
2. संवेदनात्मक पक्ष

अपने बौद्धिक स्वरूप के कारण ही सीता व्यक्ति-वस्तु-घटना-परिस्थिति पर तीव्र प्रतिक्रिया करती है, उनका गहन-गंभीर विश्लेषण करती है, चिंतन और तर्क करती है, परिस्थितियों को स्वीकार करते हुए उनके उद्भव-हेतुओं का संधान करती है। इतिहास, काव्य, दर्शन, सत्य, काल, अर्थ, राजनीति आदि विषयों की शास्त्रसम्मत व्याख्या करती है। इतना ही नहीं, अपनी बौद्धिक पटुता के कारण सीता महाराज दशरथ की मृत्यु के कारण को एक नया आयाम प्रदान करती है। 'प्रतिवाद-पर्व' की सीता की धारणा है कि महाराज दशरथ के निधन का हेतु पुत्र-शोक नहीं था, वरन् अयोध्या की जनता का संभावित विद्रोह और प्रतिरोध था। इस दृष्टि को रूपित करने वाली ये पंक्तियाँ भावनीय हैं

> ओफ !
> सत्यशोधी, परम विवेकी, कोशल जनता
> सामना इसका करना होगा
> अब मुझसे करेगी प्रश्न, माँगेगी उत्तर,
> खोजेगी सत्य, परिणय शर्त की गाथा जानेगी
> अनुचित शर्त और फिर रखी गई गुप्त!
> अपराध, अविवेक, अनौचित्य!
> सूर्यवंश की रीति और यह कृत्य?
> अपराध-बोध से ग्रस्त, शंकित-कंपित राजा के ऊपर वज्र गिरा
> जन-विद्रोह, जन-घृणा का सामना? बूढ़ा हृदय दरक गया। [41]

उक्त पंक्तियाँ में कवयित्री की नई उद्भावना, सीता का चिंतनप्रधान स्वरूप संलक्ष्य है।

अपने बौद्धिक स्वरूप के ही कारण सीता ने राजनीति के छल-छद्मों, व्यक्ति की स्वार्थलिप्सा, अर्थ के अनर्थकारी प्रकृति और प्रभाव की व्यंजना की है। अपनी इसी बौद्धिकता के कारण उसने राम के अवतारी रूप पर भी अँगुली उठाई है, जीवन और साहित्य की वास्तविकता तथा मानव की पूर्णता की चर्चा की है। उसका विचार है राज्यों-नगरों का विस्तार प्रकृति के शोषण और दोहन का परिणाम है। प्रकृति के शोषण-दोहन से मानवता, उदारता, शांति आदि उच्च मानवीय सद्गुणों का नाश होता है, और तो और पर्यावरण का संतुलन भी लड़खड़ा उठता है। अस्तु, पर्यावरण की सुरक्षा और प्रकृति-राज्य का विस्तार सर्वथा अपरिहार्य है। [42]

'प्रतिवाद-पर्व' की सीता जितनी बुद्धिमती है उतनी ही संवेदनशीला भी। बुद्धिमती सीता के प्रश्न, तर्क और विरोध उसकी सजल संवेद्यता को खंडित-शोषित नहीं कर पाये हैं। वास्तव में, अपनी संवेदनशीलता के ही कारण सीता मानवीय संबंधों की जाग्रत स्थिति की कामना करती है वह मानवीय संबंधों की भूखी-प्यासी है। पिता, माँ, भाई, पति, सास, ससुर सबके स्नेह को मूल्य देती है, मान देती

है, उनकी आकांक्षा करती है। लव-कु के प्रति ममतालु वात्सल्य, वाल्मीकि के प्रति आदरभाव, वनवासियों के प्रति सहज प्रेम और कृतज्ञता उसकी संवेदनीलता के नाना रूप-प्रतिरूप हैं। एक उदाहरण देखें जिसमें उसका सहृदय-संवेदनील रूप छलक पड़ा है

यदि मेरा भी इक भाई होता
राखी बँधवाता, तिलक कराता,
बहन का मान बढ़ाता,
मेरे ुिओं का मामा,
उनके संग आमोद मनाता।[43]

सीता के समग्र-चरित्र और जीवन-वत्तांतों को भावित करके कहा जा सकता है कि 'प्रतिवाद-पर्व' की सीता जन्म से ही उपेक्षा, पीड़ा, प्रताड़ना, तिरस्कार आदि संतापों को झेलती रही है। उसे सुख और ांति, समद्धि और संबंधों की सघन छाया कभी नहीं मिली। जलना ही उसका जीवन रहा, चाहे वह साक्षात् अग्नि में जलना हो और चाहे क्रूर निष्कासन-परित्याग की ज्वाला में जलना हो। जलना ही सीता की नियति रही। उसकी पीड़ा, उसकी वेदना, उसका संताप उसी के व्याकुल-व्यथित ब्दों में भावित करते बनता है। भावनीय है

ओ स्रष्टा, ओ जगन्नियंता, क्या तेरा अपकार किया था?
क्यों तूने मुझको मेरे मात-पिता से विलग किया था?
मेरी पीड़ा, मेरा दाह, क्या तुझको अनुभव होता है?
एकाकी छोड़ दिए जाने का अर्थ क्या अवगत होता है?
मुझको देखो, समझो मुझको,
माँ की गोदी से, पतिगह से फेंकी, निष्कासित
गर्भ-भार से, राजा के धवल नाम की गरिमा रक्षा
के अतुल भार से नत, मुझको देखो
कर्म-चक्र के भारी पोथी के पष्ठों को पलटो,
मेरे कर्मों, दुष्कर्मों, परिणामी फल का संबंध बताओ,
हल की मिट्टी, अपहरण, जलती अग्नि में जीवित झोंक
गर्भावस्था में गह-निष्कासन का कोई आधार बताओ।[44]

इन पंक्तियों में सीता ने क्या कुछ नहीं कहा! सब-कुछ तो कह दिया, सब कुछ तो पूछ लिया, लेकिन उत्तर किसी का नहीं मिला। प्रन भीतर ही भीतर उठे-सुबके, भीतर-ही-भीतर वे अनुत्तरित रह गये। इन पंक्तियों में सीता का सजल हृदय भी अनावत्त हुआ है और बुद्धि का सचेत द्वार भी। वह जितनी बुद्धिमयी-बौद्धिक है, उतनी ही भावनामयी-भावुक भी-उक्त अवतरण से इस भावसत्य, सीता-चरित के सत्य की स्वच्छ प्रतीति हो जाती है।

संदर्भ-सूत्र

1. पुष्पा बंसल, प्रतिवाद-पर्व, अपनी बात, प॰ 19
2. सीता ने तीनों पत्रों को जतन से वस्त्र-खंड से बाँधा, प्रतिवाद-पर्व, प॰ 120
3. प्रतिवाद-पर्व, अपनी बात, प॰ 15
4. कहते हैं नारी बल है सौंदर्य

उसकी भी मुझ में कमी नहीं थी
कला भरा था, छलक उठा था,
शोभा को शोभित करने वाली
छविगह में लौ-सी जलने वाली,
मैं थी सीता, मुझको पाने को
अग-जग सारा मचल उठा था, प्रतिवाद-पर्व, प॰ 92

5. प्रतिवाद-पर्व प॰92
6. वही, प॰ 71
7. वही, प॰ 40
8. और मैं? मैं सीता?
यदि मैं भी होती राजसुता, राजा-रानी की औरस संतान
आर्यपुत्र! तो कथा न यह होती, इतिहास दूसरा होता, प्रतिवाद पर्व, प॰ 46
9. यदि मैं होती राजसुता
इतिहास आज न यह होता!
होते ही ज्ञात पुत्री का पति द्वारा त्याग
जनक-राजा का हृदय उबल पड़ता,
माथे की नसनस चटक पड़ता, आँखों में रक्त टपक पड़ता, प्रतिवाद पर्व, प॰ 50
10. पुत्री को न्याय दिलाए बिना, न लेतीं चैन न लेने देतीं !
पति राज्य, राजसभा, सेना सबको कम्पित कर देतीं
रो-रोकर सूजी आँखों से व्यथा को मूर्तित कर देतीं, प्रतिवाद पर्व, प॰ 46
11. प्रतिवाद पर्व, प॰ 52
12. वही, प॰ 50
13. वही, प॰ 23
14 मैं वनवासिनी दो-दो पुत्रों की जननी,
मैं प्रसन्न हूँ, प्रतिवाद पर्व, प॰ 21
15. तुम्हारी संतति पर कुछ
आँच न आने दूँगी।
जो भी करूँगी, केवल
सुत रक्षार्थ करूँगी, प्रतिवाद पर्व, प॰ 55
16. प्रतिवाद-पर्व, प॰ 63
17. मात्त्व का ज्वलन प्रश्न
माँग रहा है विश्लेषण।
शासन, समाज, घर-परिवारों
का शैशव के प्रति क्या दायित्व?
पालन की सुविधा, ममता
का अधिकारी है शैशव अबोध, प्रतिवाद पर्व, प॰ 77
18. प्रतिवाद पर्व, प॰ 78

19. आर्यपुत्र!
सुनो! मैं तुम पर आरोप लगाती हूँ
तुमने तथ्यों पर पर्दा डाल, छद्म राजनीति का आश्रय लिया।
तुमने न्याय, सुशासन, जनरंजन का नाट्य किया है।
भगवान नहीं हो तुम, तुम मानव हो, प्रतिवाद पर्व, पृ० 25

20. राजन्
तुमने मुझको फेंका
ज्यों उच्छिष्ट अन्न, चूषित गन्ना
मुड़कर भी तुमने न देखा
जीवन-मरण क्षेम-कुल
सबसे मनसा नाता तोड़ा, प्रतिवाद पर्व, पृ० 30-31

21. प्रतिवाद पर्व, पृ० 19

22. वही, पृ०

23 बल की मुझ में कमी नहीं थी,
मैं तो अबला कभी नहीं थी, प्रतिवाद पर्व, पृ० 72

24. सुन्दरता कहँ सुंदर करई।
छबिगृह दीपसिखा जड़ बरई, मानस।

25. प्रतिवाद पर्व, पृ० 72

26. राजन् यदि राज्यहित, प्रजाहित आवश्यक हो आया था
निष्पाप पत्नी का परित्याग
तो क्या पत्नी हित, दांपत्य-हित
आगामी संतति के अधिकारों हित
अविचारी प्रजा, जड़-स्वर्ण-सिंहासन
ठुकराए नहीं जा सकते थे? प्रतिवाद पर्व, पृ० 35

27. वह एक आवाज! कैसे थी बनी जन-प्रतिनिधि?
क्या उसको ऐसा कुछ अधिकार मिला था?
क्या उस मन का जन-गण ने चयन किया था?
या शासन ने इस कार्य हेतु उसका मनोनयन किया था?, प्रतिवाद पर्व, पृ० 32-33

28. प्रतिवाद पर्व, पृ० 35

29. वही, पृ० 82

30. वही, पृ० 83

31. वही, पृ० 84

32 मैं दुखियारी
अपनों के षड्यंत्र की मारी, प्रतिवाद पर्व, पृ० 25

33 बेला थी राजतिलक की
और मुझको बनवास मिला था
चौदह लम्बे वर्षों का काननवास मिला था, प्रतिवाद पर्व, पृ० 80

34 अब जब मेरे माँ बनने का क्षण निकराया है,
राजमहल फिर बौराया है,
वन से फिर न्यौता आया है, प्रतिवाद पर्व, प॰ 80

35. प्रतिवाद पर्व, प॰ 80

36. वही, अपनी बात, प॰ 16

37 मेरे आत्मज, साथ हैं मेरे दो-दो पुत्र
जो आज की हैं मेरी पहचान और कल की जय का मन्त्र हैं।
मैं प्रसन्न हूँ, प्रतिवाद पर्व, प॰ 20

38. चिन्ता छोड़ो, भयभीत न हो, मैं पत्नी धर्म निबाहूँगी,
पुत्रों को इनका प्राप्त दिलाकर दूर कहीं खो जाऊँगी, प्रतिवाद पर्व, प॰ 24

39. अच्छा राजन! ये रहे तुम्हारे पुत्र-युगल
संभालो इनको! स्वर्ण के कण के स्पर्श बिना
निसर्ग शुद्ध तप वायु में साँसें लेकर
यह पले हैं
युवा हुए हैं
पुरुष बने हैं, प्रतिवाद पर्व, प॰ 115

40. प्रतिवाद पर्व, प॰ 119

41. वही, प॰ 45-46

42. वही, द्रष्टव्य, प॰ 96-118

43. वही, प॰ 52-53

44. वही, प॰ 54

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का रचना-संसार

श्रीमती अर्चना चौधरी, शोध-छात्रा
डॉ॰ अनिलकुमारी, शोध-निदेशिका
रीडर, हिंदी विभाग, मेरठ कालेज, मेरठ (उ॰प्र॰)

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का रचना-संसार बहुत व्यापक है और साथ ही है बहुत समृद्ध। उन्होंने हिंदी-साहित्य की प्राय: हर विधा में बड़े विश्वास के साथ अपनी लेखनी चलाई है। इसीलिए हिंदी-साहित्यकारों में उनका एक अलग स्थान है। उन्होंने कविता, कहानी, गीत, ग़ज़ल, निबंध, लघुकथा, व्यंग्य, शोध, समीक्षा, एकांकी, नाटक व अन्य समस्यापूर्ण लेखन पर चिंतनपरक आलेख लिखे हैं। उन्हीं के शब्दों में– 'कविता से शुरू करके साहित्य की लगभग प्रत्येक विधा में मैंने लिखा है, यथा–कविता, लेख, निबंध, कहानी, एकांकी, बाल-साहित्य, नाटक, गीत, व्यंग्य एवं ग़ज़लों आदि के साथ ही संस्मरण एवं स्मृतिचित्र भी मैंने लिखे हैं। लेकिन मेरी विशेष रुचि व्यंग्य-लेखन एवं ग़ज़ल के प्रति रही है। ग़ज़ल पर मैंने विशेष कार्य किया है। अपने साहित्यगुरु श्री निश्तर ख़ानक़ाही जी के साथ मिलकर ग़ज़ल के स्वरूप, व्याकरण एवं विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने के लिए 'ग़ज़ल और उसका व्याकरण' तथा 'ग़ज़ल-यात्रा एक दो' आदि पुस्तकों को सामने लाकर नवोदित ग़ज़लकारों को सही रास्ता दिखाने तथा ग़ज़ल के सही रूप से परिचित कराने की भी कोशिश की है।' [1]

डॉ॰ अग्रवाल ने अपने सृजन व लेखन का पाठक केवल बड़ों की ही नहीं बनाया है, बल्कि बच्चों को भी अपना पाठक बनाया है।

(1) ग़ज़ल-साहित्य :

यूँ तो डॉ॰ अग्रवाल ने साहित्य की प्राय: हर विधा में अपने जौहर दिखाए हैं, लेकिन हिंदी-ग़ज़ल के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का विशेष परिचय दिया है। विशेष इसलिए कहा जाएगा, क्योंकि यह विधा साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक श्रमसाध्य और नाजुक है। अन्य विधाओं की अपेक्षा ग़ज़लकार को इस विधा में अपनी बात कहने के लिए कम जगह और गिने-चुने शब्द प्राप्त रहते हैं। साथ ही ग़ज़ल उर्दू में पुष्पित-पल्लवित हुई है और हिंदी में इसकी आयु अधिक नहीं है। इन तमाम बंधनों व शर्तों के उपरांत भी डॉ॰ अग्रवाल ने ग़ज़ल के क्षेत्र में निश्चित ही मील के पत्थर गाढ़े हैं। इसीलिए तो ज़हीर कुरैशी कहते हैं कि–

'डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल हिंदी के ऐसे मुट्ठी-भर ग़ज़लकारों में से एक हैं, जो ग़ज़ल की संस्कृति की रक्षा करते हुए शेर कहना चाहते हैं। [2]

डॉ॰ अग्रवाल के अब तक पाँच ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित हुए हैं– 'सन्नाटे की गूँज',

'भीतर शोर बहुत है', 'मौसम बदल गया कितना', 'रोशनी बनकर जिओ' और 'शिकायत न करो तुम' है। इन संग्रहों की ग़ज़लों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि डॉ॰ अग्रवाल की ग़ज़लों में सामायिक जीवन की अभिव्यक्ति के अध्ययन, अवलोकन को अंकित किया है। उनकी ग़ज़लों में और उनके ग़ज़ल-संग्रहों में दर्ज उनकी स्वीकारोक्तियों से यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी सृजनात्मक छटपटाहट की अभिव्यक्ति के लिए ग़ज़ल जैसी दुरूह विधा का चयन काफ़ी सूझबूझ के उपरांत ही किया है।

डॉ॰ अग्रवाल के तमाम ग़ज़ल-संग्रहों के नाम, मात्र शीर्षक-भर नहीं हैं, बल्कि ग़ज़लकार के समूचे परिवेश तथा अंतर्मन की परिवर्तनशील स्थितियों के संकेत भी हैं। उनकी ग़ज़लों में समसामयिक जीवन के अनुभवों की विविधता और व्यापकता तो है ही, इससे भी महत्त्व की बात यह है कि इनमें रचनाकार और पाठक के अनुभवों का विलीनीकरण भी है। उनकी ग़ज़लों में समसामयिकता एवं युगीन संदर्भों के संबंधों को व्यक्त करने में उनका यह एक शेर ही पर्याप्त होगा कि–

अब तुझे दिखलाऊँ, जंगल का कोई ऊँचा दरख़्त,
अपनी ही परछाई की दूरी से घबराया हुआ। [3]

डॉ॰ अग्रवाल ने वैयक्तिक, पारिवारिक समस्याओं से लेकर सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय स्थितियाँ, समस्याओं, घटनाओं, दुर्घटनाओं को शब्दों के माध्यम से आनेवाली नस्लों के लिए साकार किया है। उनकी ग़ज़लों में ऐसे अनेक शेर हैं, जो उपर्युक्त कथन के संदर्भ में उद्धृत किए जा सकते हैं। यथा–

रेत केवल रेत मेरी दृष्टि के विस्तार तक,
आदमी शायद यहाँ आँखों का पानी पी चुका।

उसके हाठों पर बिछुड़ते वक़्त भी मुस्कान थी
वह मुझे आघात से बढ़कर अचंभा दे गया। [4]

उन्होंने आदमी को हर कोण से देखने-परखने व तराशने का प्रयास किया है। डॉ॰ अग्रवाल आदमी को आदमीयत पैदा करने के लिए आवाहन करते हैं। डॉ॰ अग्रवाल का कहना है कि यूँ तो आदमी की राह में तमाम बाधाएँ आती ही हैं, लेकिन यदि आदमी इन परेशानियों से घबराकर हार मान बैठे तो वह आदमी ही क्या! उनका आदमी तो फ़ौलाद है जो हर मुश्किल का मुँह फेर देता है अपनी आदमीयत के बल पर। उनकी ग़ज़लों में इसी प्रकार के शेर भरे पड़े हैं, यथा–

आदमी के रूप में पैदा हुए तो क्या हुआ?
बात तो तब है कि सचमुच आदमी बनकर जिओ। [5]
आपको जीवन में क्या होना है यह मत सोचिए,
दुख में डूबे आदमी की ज़िंदगी हो जाइए। [6]
सोचता हूँ आदमी तब आदमी होने लगे
दर्द जब इक-दूसरे का ज़िंदगी होने लगे। [7]
आदमी के रूप में फ़ौलाद बन, शीशा न बन,

जो न टूटे चोट से शीशा कोई ऐसा नहीं। [8]
किसकी हिम्मत है कि इस मिट्टी के पुतले से भिड़े,
आदमी ही कर सकता है आदमी का सामना। [9]

वर्तमान भौतिकवादी विकास में मानवीय संबंध परस्पर ढीले हुए हैं। इस बात को डॉ॰ अग्रवाल ने बड़ी शिद्दत से महसूस किया है। समाज में बढ़ते अलगाववाद तथा सामाजिक नैतिक परिवर्तनों को उन्होंने अपनी ग़ज़लों में बख़ूबी अंकित किया है। इस आशय के शेरों की बानगी देखते ही बनती है कि–

भीड़ के बीच में आदमी किस तरह
टुकड़े-टुकड़े हुआ, लापता हो गया। [10]
ये क्या हुआ कि फ़ासले इतने बढ़ा लिए,
इन दो घरों के बीच में दीवार ही तो है। [11]
किस कदर अलगाव का खंजर कटीला हो गया
जातियाँ बँटने लगीं, घर-घर कबीला हो गया। [12]
ज़िंदा रहने के लिए चेहरे बदलना सीख लूँ,
यानी धोखा सीख लू मैं भी दिखावा सीख लूँ। [13]

डॉ॰ गिरिराजशरण की ग़ज़लों के लिए जो एक बात बड़ी सशक्त रूप में कही जा सकती है कि उनकी ग़ज़लें आदमी को उजाला प्रदान करनेवाली ग़ज़लें हैं। यद्यपि जीवन की त्रासदपूर्ण स्थिति के कारण उनमें अन्य ग़ज़ल साहित्य में तमाम निराशा-हताशा ही प्राप्त होती है। वहाँ डॉ॰ अग्रवाल अपने पाठक को उम्मीद की ज्योत्स्ना से सरावोर रखते हैं। वे संदेश देते हैं कि निरंतर संघर्ष का ही नाम जीवन है, इसलिए संघर्षों से घबराकर रुक जाना जीवन नहीं है। यथा–

घबराके कभी आस का दामन नहीं छोड़ो
बीमार यहाँ है तो दवा भी तो यही है। [14]
कहने के लिए यों तो यह छोटा-सा दीया है
पर इसके मुकाबिल में अँधेरा नहीं रुकता। [15]

(2) हास्य-व्यंग्य-साहित्य :

हास्य-व्यंग्य का मुख्य ध्येय विविध अव्यवस्थाओं, अनीतियों, सामाजिक-राजनीतिक विद्रूपताओं आदि पर करारी चोट करते हुए पाठक के भीतर गुदगुदाने तक की स्थिति पैदा कर देना है। साथ तमाम वर्जनाओं की तरफ़ पाठक का ध्यान भी केंद्रित करके उस समस्या के प्रति उसे तैयार भी करना है। डॉ॰ अग्रवाल स्वयं लिखते हैं कि–

'मैंने कई बार विचार किया है कि आधुनिक समाज में जहाँ संवेदनशून्यता बढ़ती जा रही है, बिखराव और आडंबर की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं, राजनीति के शिखर पर स्थापित राजनेता भी नीति के शास्त्र और नियमों को भूलने जा रहे हैं, स्वार्थ और स्वयं की सेवा ही जीवन का लक्ष्य बनता जा रहा है, परिवारवाद के तत्त्व हर क्षेत्र में विस्तार पाते जा रहे हैं, घर-घर के बीच दीवारें खिंच रही हैं, फ़ासले बढ़ रहे हैं, तब हास्य और व्यंग्य के प्रसाद की अत्यधिक आवश्यकता है।' [16]

जहाँ तक डॉ॰ अग्रवाल के व्यंग्य-साहित्य का प्रश्न है तो उनका हास्य-व्यंग्य साहित्य भी जनजीवन और समाज में इस हद तक बाबस्ता है कि पढ़ने पर हमेशा तरोताजा लगते हैं और पाठक को भी तरोताजा कर देते हैं। उनके हास्य-व्यंग्य के विषय समाज के कुछ ऐसे पात्र बने हैं, जिनमें दैनिक जीवन हमारा वास्ता क़दम-क़दम पर पड़ता रहता है। इस संदर्भ में हरीशकुमार सिंह लिखते हैं कि–

'लेखक, मास्टर, बाबू, साधु, गुरुजी, साहित्यकार, चोर, डकैत, मक्खीचूस, दीवाजी, ज्ञानी जी, शायर, मेहमान, पत्नी, मित्र आदि ऐसे पात्र हैं, जिन्हें केंद्र में रखकर डॉ॰ अग्रवाल ने व्यंग्य-लेखों का रचना-संसार बनाया है। ये पात्र इतनी विसंगतियों के शिकार हैं कि उन पर व्यंग्यात्मक प्रहार की हर गुंजाइश को डॉ॰ अग्रवाल ने अपने व्यंग्य में स्थान किदया है। इसलिए डॉ॰ अग्रवाल की व्यंग्य-रचनाओं में क्षणभंगुरता नहीं है तथा उनके व्यंग्य शाश्वत व्यंग्य की श्रेणी में बख़ूबी रखे जा सकते हैं।' [17]

डॉ॰ अग्रवाल की व्यंग्य-रचनाओं का परिवेश व्यापकता से भरा हुआ है और विसंगतियों पर उनके प्रहार व्यंग्य को सशक्त बनाते हैं। उनकी स्वयं की मान्यता है कि काफ़ी हद तक बात साफ़ हो जाती है कि असमानता हास्य और व्यंग्य का कारण है। समाज में जितनी अधिक असमानता बढ़ेगी–बुद्धि -विचार अथवा क्रिया के स्तर पर उतना ही अधिक प्रखर व्यंग्य जन्मेगा। [18]

राजनीतिक क्षेत्र में इतनी अनियमितताएँ पनपती जा रही हैं कि क़दम-क़दम पर राजनीतिक क्षेत्र हास्य का पिटारा बनता जा रहा है। इस क्षेत्र में डॉ॰ अग्रवाल ने भरपूर क़लम चलाई है। 'राजनीति में गिरगिटवाद' नामक पुस्तक इस क्षेत्र की, उनकी सशक्त हास्य-व्यंग्य रचनाओं की कृति है। वे लिखते भी है कि– 'आधुनिक युग में सर्वाधिक विकार राजनीति के स्तर पर आया है, अत: हमारी रुचि के क्षेत्र में राजनीतिक व्यंग्य ने सर्वाधिक प्रसार पाया है, फिर भी घर-पविार, शिक्षा-संस्थान, न्याय-व्यंस्था, कार्यालय-प्रबंध, पुलिस-तंत्र एवं चिकित्सा क्षेत्र से संदर्भित व्यंग्य भी प्रचुर मात्रा में लिखे गए हैं। स्वाभाविक है कि इन क्षेत्रों में भी अपसंस्कृति ने अपना विस्तार किया है।' [19]

संपूर्ण वातावरण असंतुलन एवं विसंगतियों से भरा पड़ा है। राजनीति हो या समाज, व्यक्ति हो या परिवार, शिक्षा का क्षेत्र हो या न्याय का, प्रशासनिक व्यवस्था का मामला हो या देश के सांप्रदायिक ढाँचे का, ये विसंगतियाँ एवं असमानताएँ हर जगह, हर क़दम पर मुँह-बाए खड़ी हैं। डॉ॰ अग्रवाल की दृष्टि से ये अव्यवस्थाएँ व असंतुलन बच नहीं पाता, उनकी पैनी नज़र हर भद्देपन को अंदर तक कुरेदती है। वह समाज और जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त विसंगतियों को ढूँढकर बाहर निकालते हैं। वस्तुत: डॉ॰ अग्रवाल का व्यंग्यकार प्रत्येक उस स्थिति पर चोट करता दिखाई देता है, जो मानवता की दृष्टि से स्वीकार्य नहीं है। वे लिखते हैं–

'इस देश में खाने के लिए बहुत साधन हैं सरकार! चंदा है, शिक्षा है, क़र्ज़ा है, चकमेबाज़ी है और बहुत से धंधे हैं साहब! ये सब अप्रत्यक्ष आय के स्रोत ही तो हैं, पर इन्हें आय-प्रमाण-पत्र में दिखाया तो नहीं जा सकता।' [20]

कोई भी व्यंग्यकार अपनी रचना की सार्थकता में तभी सफल हो सकता है, जब उसके मन में आम आदमी के लिए गहरी संवेदना मौजूद हो। उसके मन में समाज के लिए

हमदर्दी का भाव हो। यदि व्यंग्यकार इस भाव से ख़ाली है तो निश्चित ही उसका व्यंग्य, व्यंग्य न होकर तिस्कार तथा उसके द्वारा दी गई चोट प्रतिशोध के दायरे में आ जाती है और तिरस्कार अथवा प्रतिशोध किसी भी रूप में साहित्यिक रचना नहीं हो सकती।

डॉ॰ अग्रवाल एक अन्य स्थान पर साहित्यकारों की दुर्गति व सरकारी तंग की व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य करते हुए लिखते हैं कि– 'गिनती तो याद नहीं लेकिन हज़ारों-लाखों बार सोचा कि काश हम साहित्यकार न हुए होते, किसी कार्यालय में अहलकार हो गए होते, किसी अधिकारी के पेशकार हो गए होते, और यह भी संभव नहीं था तो किसी धनपति राजा-महाराजा के दरबार में चाटुकार ही हो गए होते। चाटुकारिता कुछ भी हो लेकिन साहित्यकारिता की तुलना में कहीं अधिक लाभदायक होती है।' [21]

डॉ॰ अग्रवाल ने अपने व्यंग्य-लेखन में अपनी पैनी दृष्टि से समाज के भीतर झाँककर जिन भावों को प्राप्त किया है, उनको अभिव्यक्ति प्रदान करके स्वस्थ व्यंग्य की रचना की है। अभिव्यक्ति के लिए आपने जिस भाषा शैली का प्रयोग किया है वह उनके भावों को लेकर व्यंग्य-साहित्य के ध्येय तक पहुँचने में सर्वदा सफल रही है।

(3) **नाट्य-साहित्य :**

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने हिंदी-साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में अधिकारपूर्वक अपनी लेखनी चलाई है। 1994 में उनके एकांकियों का प्रथम संग्रह 'नीली आँखें और अन्य एकांकी' शीर्षक के रूप में पाठकों के सामने आया। इसी क्रम में उनके पाँच नाट्य-संग्रह सन् 2003 तक प्रकाशित हुए। इस प्रकार उनके छह नाट्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

'नीली आँखें और अन्य एकांकी' उनका प्रथम नाट्य-संग्रह है, जिसमें कुल ग्यारह एकांकी सगृहीत हैं। इन तमाम एकांकियों की विशेषता है कि वे अलग-अलग विषयों व समस्याओं पर केंद्रित है। इस संकलन में–देवदासी, वेतन, मैं अपराधी नहीं हूँ, मुंडन, नीली आँखें, अंतिम निर्णय, गीत पूरा हो गया, दर्पण आवाज़ों का, पेशकार सा'ब, श्रीमान एक्स-21 और परंपरा टूटती हैं, महत्त्वपूर्ण है।

डॉ॰ अग्रवाल के इन नाटकों को पढ़कर प्रतीत होता है कि उन्होंने जिस कथावस्तु को चुना है वे हमारे ही बीच से उठाई गई हैं और उनमें हममें से ही किसी-न-किसी की समस्या को उकेरा है।

सन् 1994 में ही उनका दूसरा नाट्य-संग्रह 'बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में कुल बाईस नाटकों को संगृहीत किया गया है। यूँ तो जो कुछ भी डॉ॰ अग्रवाल की क़लम से सृजित हुआ है, उसका कोई-न-कोई ध्येय अवश्य रहा है, वह किसी-न-किसी रूप में अपने पाठक को प्रेरित करता है तथा शिक्षा प्रदान करता है, लेकिन बाल-साहित्य के रूप में डॉ॰ अग्रवाल ने जो लिखा है वह तो निश्चित ही हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में मील का पत्थर है। डॉ॰ अग्रवाल ने स्वयं भी स्वीकार किया है कि नाटक-विधा ने 'जनमानस को गहराई तक प्रभावित किया है।' [22]

हिंदी-बाल-साहित्य में एक और स्तंभ कृति 'बच्चों के हास्य नाटक' है। इसमें संकलित नाटकों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उन्होंने इन नाटकों का सृजन बाल-

मनोविज्ञान को दृष्टि में रखकर किया है और उन्होंने अनेक प्रसंगों के माध्यम से अपने बाल-पाठकों का मनोविनोद करने का भरपूर प्रयास किया है। इस नाट्य-संग्रह में कुल सोलह बाल-नाटकों का संकलन किया गया है, जिनमें—आधार सेर रबड़ी, एक चोरी ऐसी भी, मैं धनकलाल हूँ, धनकू नहीं, अति की भली न तोंदवा, यमराज की भूल, चुटकुला प्रतियोगिता, मक्खीमार से वार्तालाप, रिश्वतकांड, क़िस्सा एक अपराधी का, जीवन का प्रमाण, ठलुए कवि, दूधियों से इंटरव्यू, दो ठग, आग का तमाशा, मुंडन और हाँ मैं चौकीदार हूँ।

'बच्चों के रोचक नाटक' शीर्षक से डॉ॰ अग्रवाल का एक और बाल-नाट्य संग्रह की प्रथम संस्करण 1999 में प्रकाशित हुआ। संग्रह में संकलित तमाम नाटकों में बालसुलभ चेष्टाओं को रेखांकित किया गया है और बाल-मनोविज्ञान की दृष्टि से तमाम नाटक बच्चों के लिए अत्यंत रोचक हैं। इस संग्रह के पंद्रह नाटकों में साधु की सीख, एक कछुवा : दो हंस, आम का पौधा, चुंबक का टुकड़ा, चिड़िया चुग गईं खेल, नींद न जाने टूटी खाट, बेरी को सजा, साधु भगतराम, राख का महल, वह परदेश कमाने चला, विद्वान और व्यापारी, सच बड़ा बलवान, समय समय का इंसाफ़, दो दर्पण, गुदड़ी के लाल, डॉ॰ अग्रवाल ने इन नाटकों में निरंतर रोचकता को बनाए रखा है।

कहना न होगा कि डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने बच्चों के लिए इतने नाटक लिखकर अभूतपूर्व कार्य किया है। उनके ये नाटक हिंदी बाल-साहित्य का अनमोल भंडार हैं।

डॉ॰ अग्रवाल का एक और नाट्य-संग्रह 'ग्यारह नुक्कड़ नाटक' नाम से सन् 2000 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में सम्मिलित नाटकों का कथानक प्रौढ़ता लिए हुए है। इस संग्रह के नाटकों की कथावस्तु समसामयिक समस्याएँ ही हैं। भ्रष्टाचार समर्थक मोर्चा, चौदह दिन की हवालात, खुशामद से ख़ुदा राज़ी, बीस बीघा ज़मीन, सरकार का निजीकरण, यह दुनिया और दिखावा, ये सपनों के मारे लोग, रेलवे प्लेटफ़ार्म, धंधेबाज़, संसद इक्कीसवीं सदी में एवं घोटाला इतिहास को मिलाकर इसमें कुछ ग्यारह नाटकों का संग्रह किया गया है।

इन नाटकों में नाटककार ने सामाजिक, राजनीति व अन्य समस्याओं और अव्यवस्थाओं पर व्यंग्य किया है। 'भ्रष्टाचार समर्थक मोर्चे' में भ्रष्ट व्यवस्था पर व्यंग्य किया है। लेखक ने घासीराम के कथन के माध्यम से तीखा व्यंग्य प्रस्तुत करते हुए कहा है—'तुम भ्रष्टाचार करो, लेकिन भ्रष्टाचार को सदाचार में बदलते जाओ। जनता की अदालत बहुत उदार होती है। वह तुम्हें क्षमा कर देगी। पाप को पुण्य में बदल देना हमारी सांस्कृतिक परंपरा है।' [23]

'मंचीय व्यंग्य एकांकी' में डॉ॰ अग्रवाल की प्रत्येक रचना अपने उद्‌देश्य की प्रति पूरी तरह से संचेत है। इसीलिए कुमारी करुणा शर्मा का कथन है कि 'उद्‌देश्य का दृष्टि से उनके सभी एकांकी एवं नाटक सफल हैं। [24]

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल के नाटकों में समसामयिक लगभग तमाम समस्याओं यथा—ग़रीबी, बेरोज़गारी, महँगाई, दिन-ब-दिन बढ़ती भारत की आबादी, प्रदूषण तथा अन्य प्रशासनिक व राजनीतिक भ्रष्टाचार आदि पर अपने नाट्य-साहित्य में करारी चोट की है। अपने एक नाटक में इसका परिचय देते हुए वे एक स्थान पर लिखते हैं—'भ्रष्टाचार-दुराचार कभी न समाप्त होने वाली एक स्थाई जीवनशैली है। इसलिए अब हमें इसे अपनी स्थायी पहचान के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। भ्रष्टाचार-विरोध के नाम पर लोगों को धोखा देने से अच्छा

यह है कि हम भ्रष्टाचार-दुराचार का खुलकर समर्थन करें।' [25]

डॉ॰ अग्रवाल के नाट्य-साहित्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उन्होंने केवल स्थानीय व एकदेशीय समस्याओं को ही अपने नाटकों का विषय नहीं बनाया है, बल्कि इससे आगे बढ़कर वैश्विक स्तर की समस्याओं को भी अपना विषय चुना है। इस संबंध में डॉ॰ एन॰सिंह लिखते हैं कि–इस समय उदारीकरण, भूमंडलीकरण तथा निजीकरण के दुष्परिणाम सामने आने लगे हैं और बुद्धिजीवी किसी भी खेमे के हों, वे सभी इससे चिंतित हैं। डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने इस मुद्दे को जितनी ईमानदारी से अपने नुक्कड़ नाटकों में उठाया है, वह प्रशंसनीय है; जबकि हिंदी-क्षेत्र का बुद्धिजीवी इस दिशा में अभी सही तरह से सोच भी नही रहा है।' [26]

डॉ॰ अग्रवाल ने मदारी और जमूरे के माध्यम से बड़ी सफाई से नौकरी के लिए योग्यता के साथ-साथ रिश्वत के लिए पैसे की अपरिहार्यता की ओर संकेत किया है। इसी क्रम में युवावर्ग के सपनों की निस्सारता तथा मजबूरी को 'ये सपनों के मारे लोग' में दिखाया है।

इसी प्रकार डॉ॰ अग्रवाल के नाट्य-साहित्य में न केवल भावपक्ष बल्कि उसका कलापक्ष भी विशेष उल्लेखनीय है। उनके नाटक संवाद-योजना की दृष्टि से भी पूर्णतया सफल हैं। इनके सभी नाट्य-संग्रहों के संवाद संक्षिप्त एव सुसंगठित हैं। वे पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करने और कथाक्रम को आगे बढ़ाने में भी पूरी तरह सफल हैं। इन नाटकों में जहाँ व्यंग्यात्मक शैली से रोचकता तथा पैनापन बढ़ा है वहीं हिंदी के साथ-साथ उर्दू, अँग्रेज़ी व देशज शब्दों के साथ आम बोलचाल व क्षेत्रीय शब्दों ने उनके नाट्य-साहित्य में सजीवता पैदा कर दी है।

(4) **ललित निबंध :**

एक ऐसे गद्य विधान को निबंध की श्रेणी में रखा जाता है, जो निबंधकार द्वारा चयन की गई किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति व्यक्त मानसिक प्रतिक्रियाओं की निर्बाध अभिव्यक्ति करता हो। इसके साथ ही वह रोचक, संवेदनशील एवं चमत्कारपूर्ण भी होना चाहिए।

वस्तुत: ललित निबंध में निबंधकार अपनी बात किसी मामूली बात से शुरू करके धीरे-धीरे आग्र बढ़ता चला जाता है तथा उस मामूली बात के संदर्भ को शनै:-शनै: ऐतिहासिक, सामाजिक व राजनीतिक परिवेश में अपनी रोचक शैली के माध्यम से सँवारता-सजाता चलता है। इसी के साथ विभिन्न असमानताओं, अव्यवस्थाओं व वर्जनाओं को अपनी तीखे अभिव्यक्ति के सहारे चोटिल भी करता चलता है।

जहाँ तक डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल के ललित निबंध साहित्य की बात है तो इस विधा में आपकी कृति 'समय एक नाटक' उल्लेखनीय है, जिसमें चौदह ललित निबंध संकलित हैं। ये संकलित निबंध डॉ॰ अग्रवाल की कल्पना-प्रवणता, और भावनाशीलता के साथ-साथ उनके अथाह ज्ञान और पांडित्य की गवाही प्रस्तुत करते है। इसका प्रमाण है उनके ललित निबंध 'मरती जीती फ़ाइलें' में उनका यह कथन कि– '... मुझे उस आदमी पर दुख होता है, जिसने बहुत कुछ सीखा है लेकिन शिष्टाचार शायद अभी नहीं सीखा है।

मैं विचार के इस बिंदु पर खड़ा हूँ। तभी मुझे लगता है जैसे किसी ने धीरे से मेरे कंधों पर अपना हाथ रख दिया है, घूमकर देखता हूँ। अरे, यह तो स्पेनोजा है। फ्रांस का यथार्थवादी दार्शनिक। उसकी धीमी लेकिन सशक्त आवाज़ मेरे कानों में गूँजती है–'सभी आदमी शिष्ट और

तर्कसंगत होते तो लोगों को क़ानून की ज़रूरत नहीं थी–तब वे क़ानून और अदालत के बिना रह सकते थे, अधिक सुख और शांति से रह सकते थे।' [27]

यद्यपि डॉ॰ गिरिराज ने अपने ललित निबंधों को निरा मनोरंजन का साधन ही नहीं बनाया है, बल्कि उनमें विभिन्न विषयों को केंद्र में रखकर लिखा गया है। न्याय-व्यवस्था, सरकारी कार्यालयों की कार्यशैली, सहित अनेकानेक सामाजिक पारिवारिक विषयों पर लेखक ने अपने लालित्य को बिखेरा है और इसके सहारे से आज के आदमी के चेहरे को इतिहास के उहले आइने में देखने का प्रयास किया है तथा यथास्थान मानवमूल्यों के ह्रास पर चिंता व्यक्त की है, नैतिक पतन की तरफ़ उँगली भी उठाई है। डॉ॰ अग्रवाल के ललित निबंधों के संबंध में 26 जुलाई, 1994 का 'चतुरंग भारत' लिखता है कि–

'इन निबंधों को पढ़ते हुए उपदेशक और एक कलाकार की पहचान साफ़-साफ़ स्थापित होती हुई दिखाई देती है और यह महसूस होता है कि उपदेशक या समाज-सुधारक जहाँ या जिन क्षेत्रों में अपना प्रभाव नहीं छोड़ पाते हैं, जहाँ क्रांतिकारी या सामाजिक परिवर्तन के अलंबरदार असफल होते दिखाई देते हैं, वहाँ साहित्यकार कितनी सरलता से अपने प्रभाव के झंडे गाड़ने में कामयाब हो जाता है।' [28]

डॉ॰ अग्रवाल के ललित निबंधों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि गद्य में भी काव्य का एक सौंदर्य होता है और छंद कविता में ही नहीं होता, बल्कि गद्य की भी अपनी एक लय होती है और यह लय गद्य की नाजुक विधा ललित निबंधों में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। शब्दों का चयन, वाक्यों का गठन, एक वाक्य से दूसरे वाक्य के बीच का संतुलन, बहाव, रवानी, सरसता, स्वरों का उतार-चढ़ाव, तालमेल, शब्दों का सुसंगठित ढाँचा, अर्थों के धागे में पिरोई हुई पुष्पमाला जैसा यह सब मिलकर ही गद्य को छंदबद्ध कर देते हैं। निश्चित ही जब कोई लेखक अपनी रचनाओं में गद्य के इस छंद का कलात्मक प्रयोग करने में सफल हो जाता है, तो पद्यांश भी काव्य जैसा आनंद देने लगता है। कभी-कभी तो इनका प्रभाव कविता से भी अधिक तीव्र एवं भरपूर होता है। इस संदर्भ में डॉ॰ अग्रवाल के ललित निबंध 'आँगन में सन्नाटा' में निबंधकार द्वारा प्रयुक्त किया लालित्य द्रष्टव्य है–

'नारी ही वह प्राणी है, जिसने अपना कोमत हाथ पुरुष के कठोर व शक्तिशाली हाथ की तरफ़ बढ़ाया, सुरक्षा चाही और तब इतिहास की आँखों ने देखा कि नारी पुरुष के संरक्षण में आकर घर की स्वामिनी बन गई। पुरुष ने घर बनाया, नारी ने संचालित किया और इतिहास की आँखों ने देखा कि घर के खुले और चौकोर आँगन में एक परिवार उत्पन्न हो गया।' [29]

डॉ॰ अग्रवाल ने अपनी शिल्पकारी के अनेक नमूने अपने निबंधों में प्रस्तुत किए हैं। 'पार्क में एक शाम' शीर्षक निबंध में अपने पांडित्यपूर्ण लालित्य का परिचय देते हुए लिखते हैं कि– 'पत्थर की जिस बेंच पर मैं बैठा हूँ, वह नितांत कठोर, भावरहित व कष्टदायक है। लेकिन, यह पत्थर जिससे नेताजी की यह सुंदर मूर्ति ढाली गई है, अपने वर्तमान रूप में कितना हृदयस्पर्शी और प्रेरणादायक हो गया है। पत्थर एक ही है, लेकिन बदली हुई आकृतियों ने किस तरह इसके चरित्र को बदल दिया है। पत्थर वह भी है जो, जो रास्ता अवरुद्ध करने के लिए प्रयोग किया जाता है और वह भी है, जो महापुरुषों की प्रतिमाओं में ढलकर आनेवाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा और गौरव का स्रोत बना रहता है।' [30]

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल के ललित-निबंधों की संख्या भले ही बहुत अधिक न हो किंतु समय एक नाटक में संकलित तमाम ललित-निबंध उन्हें एक सफल ललित निबंधकार बना देने में पर्याप्त हैं। उनकी लालित्यपूर्ण शैली, सौष्ठव, वैचारिकता व अथाह ज्ञान पाठक को ऐसा गुदगुदाता चलता है कि पाठक निबंध में डूबता ही चला जाता है। इन निबंधों में रमण करता हुआ उनका व्यक्तित्वाभिव्यंजन पाठक के दिल और दिमाग़ को भरपूर खुराक प्रदान करता चलता है। यही उनकी सफलता है।

(5) **कथा-साहित्य :**

कहानीकार डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का प्रकाशित कथा-संग्रह 'जिज्ञासा' जिसमें कुल इक्कीस कहानियों को संकलित किया गया है तथा जिसका प्रकाशन वर्ष 1994 है, में कथ्य और शिल्प की कारीगरी अपने चरमोत्मकर्ष पर है। संकलन की कुछ कहानियाँ तो अपने देशकाल, वातावरण के साथ-साथ जीवंत परिवेश और काव्यमयी भाषा के कारण सीधी पाठक के हृदय पर दस्तक देने में सफल रही हैं। ऐसी कहानियों में डॉ॰ अग्रवाल का चिंतन और साथ-ही-साथ मानवीय दृष्टिकोण सर्वोपरि रहा है।

डॉ॰ अग्रवाल के कथा-साहित्य में जीवनमूल्यों, स्वस्थ एवं जीवंत परंपराओं के साथ-साथ वर्तमान जीवन की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं को भी दृष्टिगत रखकर कहानियों का ताना-बुना है। आज़ादी बाद भी गाँवों में रूप में देश का एक बड़ा भाग तथा समाज का एक विशाल वर्ग आज भी ग़ुलामी की ज़िंदगी जीने को मजबूर है। वह दबंगों का शिकार बनने के लिए ही मानो पैदा हुआ हो। 'धुआँ बनती ज़िंदगी' कहानी में इसे व्यक्त करते हुए डॉ॰ अग्रवाल लिखते हैं–

'अपने इतिहास के पन्नों को समेटते हुए उसने अनुभव किया कि देश विकास की कितनी मंज़िलें पार कर गया है किंतु गाँव का यह अस्पृश्य भाग उस प्रकाश से कितनी दूर है, जो बड़े-बड़े घरों के आँगन में ऐसे फैला हुआ है जैसे हमारे आस-पास जंगली घास की झाड़ियाँ। व्यर्थ और अनावश्यक। गाँव में सहायता के नाम पर सरकारी हाथ पहुँचते हैं किंतु वे भी बड़े लोगों की गलियों-चौबारों तक सीमित रह जाते हैं। यहाँ पहुँचने से पहले ही उन्हें काट दिया जाता है। वे आज भी फटेहाली की वैसी ही ज़िंदगी को सीने से लगाए हुए हैं जैसी उनके पूर्वजों ने ओढ़ी हुई थी।'[31] इसी प्रकार मानवमूल्यों को उकेरते हुए डॉ॰ अग्रवाल अपनी कहानी प्रायश्चित में लिखते हैं कि– 'यह मत पूछो, मिर्जा, अब यह मात पूछो, बस इतना समझ लो, जब तुम्हारी युवा बहिन आँसुओं से रो रही थी, तुम्हारी माँ के आँसुओं की धार टूट नहीं पा रही थी, तुम्हारा बूढ़ा बाप निराशा के कारण मौन साधे खड़ा था, जैसे उसका यह आख़िरी सहारा छिन जानेवाला हो, हर तरफ़ निराशा ही निराशा थी और तुम्हारे ग्रुप का ख़ून नहीं मिल रहा था तब एक भावना मेरे मन में उपजी, मैं उस भावना को नाम नहीं दे सकता, वह क्या थी और क्यों मेरे मन में पैदा हुई थी। लेकिन वह कुछ ऐसा था, जो अपनापन उपजाता था, आत्मीयता पैदा करता था, इंसानियत जगाता था और तब मैं अपने-आपको रोक नहीं सका।'[32]

डॉ॰ अग्रवाल की कहानी 'जिज्ञासा' अपने-आपमें हर दृष्टि से बेजोड़ कहानी है। इसमें कहानीकार ने सामाजिक जीवन की अनेक विद्रूपताओं और संवेदनहीनता को उजागर किया है।

अपने शिल्प की दृष्टि से बेजोड़ इस कहानी में केवल संवाद-ही-संवाद देकर प्रतीक रूप में पूरे समाज को डॉ॰ अग्रवाल पाठक के सामने उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर देते हैं, जहाँ 'त्याग किसी उपहार या प्रशंसा की कामना नहीं रखता'कहानी यह संदेश देने में सफल सिद्ध होती है।

डॉ॰ अग्रवाल के कथासाहित्य में जहाँ अनेक समस्याओं से अपने पाठक को रूबरू कराया है, वही प्रेम से पगी कहानियाँ भी उन्होंने अपने पाठकों को दी हैं। इन कहानियों में डॉ॰ अग्रवाल ने निश्चित ही प्रेम के उदात्त और निष्ठापूर्ण रूप को आधार बनाया है। कई बार लगता है कि कहानियों के माध्यम से भी उन्होंने कविता या ग़ज़ल की ही रचना की है। अपनी तरह के अनूठे प्रेम की कहानी है 'प्यार की सीमा', जिसमें कहानीकार डॉ॰ अग्रवाल एक प्रेम की ऐसी मनःस्थिति का चित्रण करते हैं, जो न केवल अविश्वसनीय है बल्कि लोमहर्षक भी है। टी॰बी॰ रोग की असहाय वेदना से पीड़ित और मध्यवर्गीय पति उसके प्यार में अपना सब-कुछ न्यौछावर करके भी उसे बचा नहीं पाता। जब पत्नी पीड़ा को सह पाने की स्थिति में भी नहीं रहती तो असामान्य स्थिति में पति उसे जहर दे देता है। यहाँ कहानीकार प्रश्न खड़ा करता है कि 'क्या पति को अपराधी माना जाए।'

'एक पागल लड़की' कहानी में डॉ॰ अग्रवाल ने एक उच्च शिक्षित नारी के पागल हो जाने की कहानी को बड़े मार्मिक तरीक़े से अभिव्यक्त किया है, जिसके प्रेमी को गुंडों ने इसलिए उसकी आँखों के सामने कत्ल कर दिया क्योंकि वह दूसरे धर्म का था, जिसका विवाह ग़ैर मज़हब की लड़की से होना धर्म के ठेकेदारों को मंजूर नहीं था। कहानी के अंत में डॉ॰ अग्रवाल पाठक को भावुकता के सागर में ही उतार देते हैं कि 'मैंने देखा, गुलाबों को उसका भाई खींचकर ले जा रहा था। मुझे लगा कि पागल गुलागों नहीं है, हम हैं, हम सब, जिन्होंने गुलाबों से उसका प्यार छीन लिया है, उसका रोमी और उसे पागलखाने में डाल दिया है।' [33]

वस्तुतः डॉ॰ अग्रवाल का कथा-साहित्य जहाँ मानवमूल्यों व सामाजिक सरोकारों से अपने पाठकों को परिचित कराती हैं वही मानवीय प्रेम के विविध स्वरूपों को भी चित्रित करती हैं। जीवन की सच्चाइयों से भरा-पूरा डॉ॰ अग्रवाल की कथा-साहित्य बेजोड़ शिल्प का भी अच्छा उदाहरण है। उनकी कहानी में शिल्प की कसावट और बुनावट के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और चरित्र-चित्रण की शैलियों का ऐसा सुंदर प्रयोग देखने को मिलता है, जो पाठक को मजबूती के साथ बाँधे रखता है।

इतना ही नहीं डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का कथा-साहित्य भाषिक रूप में भी अपने पाठक को आकृष्ट करता है। उनकी कहानियों में सार्थक सूक्तियाँ ऐसे प्रयुक्त हुई हैं जैसे मानो अनायास ही सागर में मोतियों को बिखेर दिया गया हो। वे लिखते हैं–'हर आदमी के दो व्यक्तित्व होते हैं। एक जो सोचता है, आचरण की प्रेरणा देता है और दूसरा वह, जिसका मुखौटा चढ़ाकर व्यक्ति समाज में अपने को व्यक्त करता है, बड़े-बड़े भाषण देता है, स्वयं को जलसों व जुलूसों का बेताज बादशाह घोषित करता है।' [34]

(6) बाल-साहित्य :

डॉ॰ अग्रवाल का बाल-साहित्य उद्देश्यपूर्ण है। यह केवल मनोरंजन की सामग्री पर नहीं है, साहित्य के एक पक्ष की पूर्ति भी करता है और यह पूर्ति है किशोर मन की उचित

शिक्षा। बच्चों को क्या पढ़ाया जाए, यह प्रश्न लंबे समय से हमारे सामने खड़ा रहा है। इसी के चलते डॉ॰ अग्रवाल लिखते हैं– 'किशोर अवस्था के पाठकों और विद्यार्थियों के लिए पाठ्य-सामग्री कैसी हो। आज के वैज्ञानिक युग में यह प्रश्न और भी जटिल हो गया है। इसका कारण यह है कि प्रौढ़ अवस्था में मनुष्य के विचार, स्थिर, दृष्टिकोण लगभग अपरिवर्तनीय और सोचने समझने तथा विश्लेषण करने की योग्यता दृढ़ हो चुकी होती है। इस अवस्था में आदमी एक विशेष ढाँचे में ढल चुका होता है, जबकि किशोर अवस्था निर्माण की प्रक्रिया से गुज़रकर उस रूप-स्वरूप की तरफ़ बढ़ रही होती है, जो निकट भविष्य में उसे ग्रहण करना होता है। इस आयु वर्ग के बच्चों को समाने रखकर यह प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि उनके लिए इतिहास, समाजशास्त्र, साहित्य तथा ऐसे अन्य विषयों से संबंधित पाठ्य-सामग्री कैसे हो, वह किस शैली में लिखी जाए, जिससे किशोरों का मनोरंजन भी हो और उनके चिंतन में व्यापकता, स्वभाव में तर्क प्रियता तथा दृष्टिकोण में वैज्ञानिकता उत्पन्न हो। ऐसी पाठ्य-सामग्री उनके लिए रोचक भी होगी और भ्रांतियों को दूर करने वाली भी।' [35]

डॉ॰ अग्रवाल ने बाल-साहित्य के रूप में मुख्यरूप से बाल नाटकों का सृजन किया है। इन नाटकों को उन्होंने मुख्य रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया है। यथा 'बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक', 'बच्चों के रोचक नाटक' और 'बच्चों के हास्य नाटक। इन तमाम नाटक संग्रहों का अध्ययन स्पष्ट रूप से बताता है कि बाल-साहित्य में उनका प्रदेय निश्चित रूप से दिशा प्रदान करनेवाला है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि डॉ॰ अग्रवाल ने अपने बाल नाट्य साहित्य को जिन तीन वर्गों में बाँटा है वे उनके लेखन की सोद्‌देश्यता को प्रदर्शित करते है। उनके बाल-साहित्य में जहाँ शिक्षा प्रदान करने की शक्ति है वहीं बच्चों के स्वस्थ मनोरंजन की कूबत भी है। डॉ॰ अग्रवाल ने बाल-साहित्य के माध्यम से बच्चों में, पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे पारंपरिक भ्रमों को निकालकर स्वस्थ चिंतन की परंपरा पैदा करने का प्रयास जहाँ-तहाँ दिखता है। उनके एक नाटक में प्रकारांतर से यह समझाने का सफल यत्न किया गया है कि मात्र पूजा करने से ही परीक्षा उत्तीर्ण नहीं की जा सकती। हर लक्ष्य के लिए नियमावली प्रावधान निर्धारित है। हर कार्य का अपना सामाजिक दायरा व मार्ग है, इससे दूर होकर लक्ष्य की प्राप्ति कठिन ही नहीं, बल्कि नितांत असंभव भी है। इसीलिए तो पूजा के संबंध में डॉ॰ अग्रवाल कहते है कि– 'विद्वान बनने के लिए जिस तपस्या की आवश्यकता है, वह तुमने नहीं की है और सूखा पेड़ काटकर नया वृक्ष लगाने का जो परिश्रम है, वह मैंने नहीं किया। इसलिए न तो तुम्हें विद्या आई और न ही हरे वृक्ष की छाया मुझे मिली।' [36]

जैसा कि प्राय: देखा जाता था कि दादी-अम्मा बच्चों को राजा-रानी, परियों, भूत-प्रेतों आदि की कहानियाँ सुनाती थीं और कालांतर में बच्चों के लिए ऐसी ही परियों की कहानी आदि के नाम पर अयथार्थवादी ऐसे साहित्य का सृजन किया गया, जो बच्चों में एक प्रकार का अव्यक्त भय भर देता था, उन्हें कल्पनालोक में ले जाकर मात्र उनका मनोरंजन भर कर देता था, किंतु डॉ॰ गिरिराजशरण ऐसे बाल-साहित्य से संतुष्ट नहीं होते और वे ऐसे बाल-साहित्य की वकालत करते हैं, जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बच्चों को प्रेरक हो और उन्हें शिक्षा भी प्रदान कर सके। [37]

इस प्रकार हम देखते है कि डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का बाल-साहित्य जहाँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाकर बाल मन को ध्यान में रखकर लिखा गया है वहीं वह बाल प्रतिभाओं को मुखर होने का भी पूरा अवसर प्रदान करता है। डॉ॰ गिरिराज बाल साहित्य के नाम पर बच्चों को निरी काल्पनिक कथाओं में नहीं उलझाया चाहते बल्कि वे बच्चों को धीरे-धीरे सामाजिक सामाजिक परिवेश से परिचित कराते हुए उनके बौद्धिक विकास में सहयोग देने वाले साहित्य की वकालत करते हैं।

(7) संपादन एवं पत्रकारिता :

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल एक सफल रचनाकार हैं, इसी के साथ वे एक सफल संपादक भी हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का सफलतापूर्वक संपादन करके उन्होंने हिंदी साहित्य की अपूर्व सेवा की है। 'शोध संदर्भ' चार भागों में व 'साहित्यकार संदर्भ कोश' अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। डॉ॰ अग्रवाल के द्वारा संपादित यदि अन्य ग्रंथों को छोड़ भी दिया जाए तो उपर्युक्त ग्रंथ ही उनकी संपादन प्रतिभा के सशक्त प्रमाण है। डॉ॰ महेश दिवाकर के अनुसार, 'निस्संदेह शोध-संदर्भ के रूप में चारों ग्रंथ और साहित्यकार संदर्भ कोश दुर्लभ साहित्यिक धरोहर हैं, संपादन के क्षेत्र में, जो अकेले ही डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल की संपादन क्षमता और श्रेष्ठतम कलात्मकता को सिद्ध करती है।' [38]

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने जिस प्रचुरतता में हिंदी-साहित्य का मौलिक रूप से सृजन किया है, उसकी प्रचुरता के साथ अनेक ग्रंथों का संपादन भी किया है। उनकी यह संपादन-प्रतिभा भी वरण करने योग्य है, जिसके द्वारा श्री अग्रवाल ने डेढ़ सौ से भी अधिक उत्कृष्ट ग्रंथों का संपादन किया है। अपने संपादन और पत्रकारिता के अनुभवों की यथार्थ धरती पर ही उन्होंने 'हिंदी पत्रकारिता-विविध आयाम' अति महत्त्वपूर्ण कृति का सर्जन किया है, जो निश्चित ही हमारे पत्रकारों एवं संपादकों के लिए अत्यंत उपयोगी होगी।

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने 'पत्रकारिता के तमाम परिवार' की जानकारी बड़ी सहज भाषा में कराकर एक सामान्य पाठक को भी ज्ञानवान बना दिया है। पत्रकारिता के साथ-साथ समाचार, समाचार-पत्र, संपादक, उपसंपादक, संवाददाता, संपादकीय लेखन, समाचार-संकलन व्यवस्था, समाचार प्रस्तुतीकरण, साक्षात्कार, फीचर-लेखन, अपलेख, अपवचन एवं मानहानि क़ानून, पत्रकारिता पर हमले के प्रमुख कारण, पीत-पत्रकारिता आदि हर बिंदु पर तथा हर विषय का समुचित विश्लेषण प्रस्तुत किया है। डॉ॰ अग्रवाल का यह सृजन हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में अभिनव प्रयास है, जिसने हिंदी साहित्य की निधि में महत्त्वपूर्ण वृद्धि के साथ ही उसे जीवनोपयोगी स्थान भी प्रदान कराया है। डॉ॰ अग्रवाल की इस आलोच्य कृति के अध्ययन से कोई भी पत्रकार अपने विषय में विशेष योग्यता को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल जितने सफल लेखक व कवि हैं उतने ही सफल संपादक व पत्रकार भी है। उनके अंदर का रचनाकार कितनी ही बार पत्रकार के रूप में उनके लेखन में आ खड़ा होता है।

(8) अन्य साहित्य :

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल हिंदी-साहित्य की दुनिया के ऐसे सिपाही हैं, जो अनवरत

रूप से तथा मौन होकर साहित्य साधना में जुटे हुए हैं। डॉ॰ अग्रवाल जहाँ मानव-जीवन के उच्चतर मूल्यों के प्रति दृढ़ आस्था लेकर चलने वाले आशावादी ग़ज़लकार हैं तो वहीं जीवन को स्पर्श करेवाली कहानियाँ लिखकर समर्थ कथाकार भी हैं। इतना ही नहीं निबंधकार, नाटककार, एकांकीकार, व्यंग्यकार और नुक्कड़ नाटकों के रचनाकार डॉ॰ अग्रवाल अत्यंत कुशल संपादक और सूक्ष्म दृष्टि रखने वाले शोध-निर्देशक के रूप में निरंतर हिंदी के इस सेवक की लेखनी अन्य स्वतंत्र विधाओं में भी सरपट दौड़ी है।

नारी कल और आज :

प्राय: देखा जाता है कि अनेक पत्र-पत्रिकाएँ यद्यपि नितांत रूप से महिलाओं के लिए ही प्रकाशित की जाती हैं तथापि वे भी पुरुषों के मनोरंजन तथा भावनात्मक स्तर पर उन्हें आनंदित करने के लिए होती हैं। इनमें महिलाओं के लिए कम और पुरुषों के वास्ते अधिक मसाला परोसा जाता है। देश के लगभग सभी दैनिक, साप्ताहिक समाचार पत्र नियमित रूप से महिलाओं के लिए अपने परिशिष्ट प्रकाशित करते हैं। इनमें नारी-शरीर के प्रदर्शन पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। 'पुरुष समाज ने अपने शताब्दियों के विकास में नारी के साथ सबसे क्रूर मज़ाक यह किया है कि उसे मात्र शरीर तक सीमित कर दिया। एक सुंदर चेहरा और एक सुंदर शरीर के अतिरिक्त उसका और कोई अस्तित्व नहीं रहा। नारी मानसिक रूप से कितनी सशक्त है, कितनी प्रतिभाशाली है, शैक्षिक आधार पर कितनी योग्य है, सामाजिक आधार पर कितनी जागरूक है, मानव-जीवन के विभिन्न संदर्भों मेंवह कितनी उपयोगी है, ये सब बातें गौण बल्कि निरर्थक हो गईं। नारी एक सुंदर शरीर के अतिरिक्त कुछ और नहीं रही। शारीरिक सौंदर्य के मानदंछों पर अगर वह आकर्षक है, तो स्वीकार्य हैं, नहीं उतरती तो लाख सुयोग्य होने के बावजूद वह पुरुष समाज में तो क्या, स्वयं नारी समाज में भी प्रशंसनीय नहीं मानजी जाती। इतिहास की सबसे दुखद घटना यही है कि पुरुषों ने अपने शताब्दियों के सामाजिक विकास में जीती जागती नारी को मात्र शरीर तक सीमित कर दिया। परिणामत: नारी का मानवीय महत्त्व धीरे-धीरे कम होता चला गया।' [39]

वस्तुत: डॉ॰ अग्रवाल ने समाज के उस कलंक को अपने पाठकों के सम्मुख रखा है, जो मानवीय इतिहास में सबसे अधिक भयानक है तथा शर्मनाक है। भयानक इसलिए क्योंकि इस स्थिति के चलते नारी मन बजाए विद्रोह करने के ऐसा दीन-हीन हो गया कि वह भी पुरुष की इस मात्र वासनामयी इच्छा की पूर्ति के लिए सहयोगी बन बैठा।

डॉ॰ अग्रवाल नारी की इस स्थिति से पूरी तरह व्यथित हैं और वे इससे नारी-मुक्ति की कामना करते हैं 'महिलाओं के मन में अब यह धारणा समाप्त हो जानी चाहिए। क्योंकि उनके साथ हो रहे अन्याया के जितने भी कारण है, उनमें सबसे प्रमुख कारण यही है कि पुरुष-प्रधान समाज ने नारी को उसके अन्य समस्त लाभों से वंचित करके उसे मात्र शरीर तक सीमित कर दिया और इससे भी दुखद बात यह हुई कि नारी-समाज ने भी अपने अस्तित्व को शरीर तक संकुचित कर लेना स्वीकार कर लिया। ऐसी स्थिति में पुरुष-प्रधान समाज में उसके शारीरिक प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक-से-अधिक विकसित होती गई। स्थिति यहाँ तक बिगड़ी कि पुरुष को अपनी माँ, बहन और बेटी के अलावा संसार-भर की सारी महिलाएँ शारीरिक

उपभोग की वस्तुएँ ही दिखाई देने लगीं। नारी को शरीर तक समेट देने की प्रवृत्ति को प्रबल करने में समाज के रीति-रिवाज़ों, परंपराओं, आर्थिक व सामाजिक मान्यताओं आदि ने अपने-अपनी भूमिका अदा की।' [40]

जहाँ तक महिलाओं की रक्षा के क़ानूनों की बात है तो, 'यह सही है कि महिलाओं के अधिकारों की रक्षा के लिए क़ानून की किताबों में बहुत कुछ लिखा गया है; किंतु समाज के बहुसंख्यक पुरुष ऐसे हैं, जो क़ानून की इन व्यवस्थाओं को मन से स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। परिणाम यह है कि क़ानून किताबों के पन्नों में दम साधे पड़े हैं तथा महिलाओं की दयनीय स्थिति में कोई विशेष सुधार देखने में नहीं आ रहा है।' [41]

मानवाधिकार : दशा और दिशा :

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल के साहित्य-भंडार में एक और अमूल्य कृति है 'मानवाधिकार : दशा और दिशा' जिसे डॉ॰ अग्रवाल और जनाब निश्तर ख़ानक़ाही ने संयुक्त रूप से लिखा है। पुस्तक में लेखकद्वय ने विभिन्न स्थितियों में होने वाले मानव-अधिकारों के हनन को विस्तारपूर्वक समझाते हुए अपने अपने पाठकों को इस स्थिति के प्रति चैतन्य किया है। मानवाधिकार के संदर्भ में वे लिखते हैं कि– 'राज्य-सत्ता, जो सामाजिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए अस्तित्व में आई, यदा-कदा उन्हीं के अधिकारों का अतिक्रमण कर उनके शोषण का साधन बन जाती है, ऐसा इतिहास में अनेक बार हुआ है। राज्य-सत्ता अपने मार्ग से विचलित हुई अथवा उसने अपने प्रजा-जनों के अधिकारों का अतिक्रमण किया, इसका अनुमान तभी हो सकता है, जब कतिपय मानवीय अधिकार राज्य सत्ता के लिए भी उल्लंघनीय नहीं रहे होंगे। इसी प्रकार के नैसर्गिक न्याय पर आधारित मानवमात्र को प्राप्त अधिकार, जिनका उल्लंघन कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह तो क्या बल्कि राज्य सत्ता को भी करने का अधिकार नहीं था, कालांतर में प्राकृतिक अधिकार अथवा नैसर्गिक अधिकार के बाद में मानवाधिकार की श्रेणी में आए।' [42]

आज़ादी के बाद लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था में पुलिस का कार्य सत्ताधारियों, साधन-संपन्न वर्गों तथा उनके सहायकों के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों की रक्षा ही नहीं, बल्कि जनसाधारण के मानवीय अधिकारों की रक्षा करना और उन्हें हर प्रकार के उत्पीड़न से बचाना भी है। किंतु कई बार पुलिस अपने इस मूल कर्त्तव्य का पालन करने में असफल हो जाती है। आए दिन पुलिसकर्मियों को पत्र-पत्रिकाओं में आरोपित किया जाता है। सुना ऐसा भी जाता है कि पुलिस अपराधियों पर अंकुश लगाने की बजाए स्वयं भी कई बार अपराधों में संलग्न होती है और ऐसे मामले देखे भी जाते हैं।

पुलिकर्मी जानते हैं कि अभियुक्तों अथवा गिरफ़्तार किए गए लोगों का अधिकार है कि वे उन कागज़ों की नक़ल पुलिस से प्राप्त करें, जिसमें उन पर लगाए गए आरोप दर्ज हैं। पुलिस उन्हें यह आरोप-पत्र उपलब्ध कराने में आनाकानी नहीं कर सकती। वे यह भी जानते हैं कि पुलिस द्वारा किए गए ग़लत कार्यों के विरुद्ध कोई भी प्रभावित व्यक्ति न्यायालय का द्वार खटखटा सकता है। यह सब जानते हुए भी आख़िर क्या कारण हैं कि पुलिस के लोग इस आचार-संहिता का कड़ाई से पालन नहीं करते। कुछ तो कई बार अपने अधिकार क्षेत्र का

उल्लंघन भी कर जाते हैं।

इन कारणों को तलाश करते हुए डॉ॰ अग्रवाल लिखते हैं कि 'अपने चिंतन और आचरण को आधुनिक बनाने के लिए जिन बातों की आवश्यकता थी, पुलिस ने उन्हें प्राप्त नहीं किया। उनकी संख्या कम है और कर्त्तव्यों का बोझ अधिक। परिणामत: अन्य श्रमिकों की भाँति उनके लिए काम के घंटे निश्चित नहीं। इसी के साथ एक बड़ी कमी यह भी है कि प्रशिक्षण के समय उन्हें मानवाधिकारों की ऐसी विस्तृत शिक्षा नहीं दी जाती, जो आगे चलकर उनके आचरण की स्थाई विशेषता बन जाए। अनुभव बताता है कि पुलिस के प्रति आज भी समाज का दृष्टिकोण सकारात्मक नहीं है। सभ्य एवं चरित्रवान लोग बहुत कम संख्या में पुलिस-सेवा में जाना पसंद करते हैं। परिणामत: अपराधी-प्रवृत्ति के लोग पुलिस-प्रशासन में भर्ती हो जाते हैं। प्रशिक्षण के दौरान इनका सुधार भी नहीं हो पाता। फलस्वरूप जब ये अपे कार्यक्षेत्र में आते हैं तो लगभग वैसा ही दुराचार करते हैं, जैसा वह समाज में रहकर और किसी दूसरे पेशे को अपनाकर करते। पुलिस में भर्ती होकर ऐसे तत्त्व अपने-आपको हर अवैध कार्य करने के लिए स्वतंत्र मान लेते हैं। इससे पुलिस की सारी व्यवस्था ही आरोपित एवं कलंकित होती है।' [43]

वस्तुत: डॉ॰ अग्रवाल ने मानवाधिकार सरीखे ऐसे मुद्दे पर क़लम चलाकर हिंदी साहित्य को अनूठी रचना भेंट की है। उन्होंने अपने पाठकों को उनके अधिकारों के प्रति सचेत किया है। उनका यह सृजन मात्र साहित्य में वृद्धि ही नहीं कहा जाएगा बल्कि मानव-सेवा में उठाया गया एक महत्त्वपूर्ण क़दम भी माना जाएगा।

पर्यावरण : दशा और दिशा :

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने मानवाधिकार सरीखे नितांत महत्त्व के विषय पर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। वहीं पर्यावरण सरीखी विश्व-समस्या पर लेखनी चलाई है। इस संबंध में आपकी चिंता 'पर्यावरण : दशा और दिशा' की भूमिका में साफ़ देखी जा सकती है वे कहते हैं कि– 'वास्तविकता यह है कि आज वातावरण में जिस ओर भी देखे, विष ही विष घुला हुआ है। गाँवों, बस्तियों, नगरों और महानगरों से लेकर जंगलों और पर्वतों तक में जिस तरीक़े से विस्फोटक पदार्थों का खुला प्रयोग हो रहा है, उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। डीज़ल और पैट्रोल जैसे ईंधन की बढ़ती हुई खपट और उसके फलस्वरूप वातावरण में घुलते हुए धुएँ ने धरती पर जीवन को कितना दुष्कर बना दिया है, यह कोई छिपी हुई बात नहीं है। ऐसी प्रदूषित हवा, ऐसे प्रदूषित जल, ऐसे प्रदूषित आहार को सेवन करनेवाले पशु-पक्षी (जो मानव-जाति से अधिक संवेदनशील है) यदि इस विष को सहन न करते हुए लुप्त होते जा रहे हैं तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है।' [44]

स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि पर्यावरण को दूषित करने में साफ़तौर पर मनुष्य ही दोषी हैं। विकास के नाम पर मनुष्य ने जितनी भी सुविधा अपने लिए जुटाई हैं, अपने जीवन को जितना आसान किसा है, उसी अनुपात में उसने अपनी आयु भी कम कर डाली है। क्योंकि स्वस्थ जीवन के लिए जिस स्वच्छ वायु, जल और अन्न की आवश्यकता है, वह अब ऐसा प्रदूषित हो चला है कि वह मनुष्य की आयु को दिन-पर-दिन कम करता जा रहा है। वाहनों से निकलने वाला धुआँ, फैक्ट्री-कारखानों से निकलने वाला धुआँ व अन्य कचरा, खेती में प्रयुक्त होने वाले

उर्वरक व कीटनाशक पदार्थ सड़कों पर होता शोर आदि ने मनुष्य के साथ-साथ पर्यावरण प्रदूषण से पशु-पक्षियों पर भी प्रभाव पड़ा है।

वस्तुत: गिद्ध और चीलें लुप्तप्राय: हो चुकी हैं। कौए ग़ायब हो रहे हैं। इस स्थिति को सामान्य मानकर छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। यह स्थिति इस ख़तरे का द्योतक है कि यदि यह सिलसिला चलता रहा तो यह धरती आदमी के अनुकूल रह नहीं सकेगी। पर्यावरण का संतुलन बिगड़ेगा तो धरती पर मनुष्य का जीवन भी ख़तरे में पड़ जाएगा। इस ख़तरे से निजात दिलाने के लिए सुझाव प्रस्तुत करते हुए डॉ॰ अग्रवाल लिखते हैं कि– 'वास्तविकता यह है कि पर्यावरण-असंतुलन की जो भी समस्या है, चाहे वह वायु-प्रदूषण से संबंधित हो, जल-प्रदूषण से संबंधित हो, मृदा-प्रदूषण से संबंधित हो या ध्वनि-प्रदूषण से, जनसाधारण को शिक्षित एवं जागरूक बनाए बिना हल नहीं की जा सकती। क़ानून को हर समय, हर जगह और हर अवसर पर तो कारगर ढंग से लागू नहीं किया जा सकता है और न ऐसा कर पाना क़ानून का पालन करवानेवाले प्रशासन-तंत्र के लिए व्यावहारिक ही है। इसलिए सबसे ज़्यादा ज़रूरी बात यह है कि हर वर्ग और हर स्तर के लोगों को शिक्षित करने के व्यापक कार्यक्रम बनाए जाएँ। यह काम अकेले सरकार पर ही छोड़ देना उचित नहीं होगा; सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाएँ भी इस कार्य में बढ़-चढ़कर सहयोग दे। जनता हर कार्य, चाहे वह ग्रामीण-क्षेत्र से जुड़ा हो अथवा नगर क्षेत्र से, जब तक पर्यावरण के प्रति सतर्क एवं जागरूक नहीं होगा, बेहतर परिणाम सामने नहीं आ सकेगा।' [45]

विश्व आतंकवाद : क्यों और कैसे :

'विश्व आतंकवाद : क्यों और कैसे?' आपकी ऐसी ही कृति है, जिसमें आतंकवाद के हर पहलू पर उन्होंने गहराई से विचार किया है। आज भारत हो चाहे अमरीका, खाड़ी देश हों या यूरोप अथवा एशिया आज विश्व के हर हिस्से में किसी-न-किसी रूप में आतंकवाद अपना प्रभाव जमाए हुए है। कहीं राजनीतिक पूर्ति के लिए तो कहीं धार्मिक उन्माद के वशीभूत और कभी किसी अन्य बात को लेकर लोग न केवल अराजक हो जाते हैं बल्कि मानवता की तमाम सीमाएँ लाँघकर पाशविकता की हदों तक पहुँच जाते हैं। डॉ॰ अग्रवाल का कहना है कि–

'...आतंकवाद आज दुनिया के विभिन्न भागों में विभिन्न स्तरों पर विद्यमान है। कहीं यह धार्मिक संगठनों की हिंसक गतिविधियों के रूप में है; कहीं उग्र विचारधारा राजनीतिक संघर्ष के लिए हथियारबंद होकर सामने खड़ी है; कहीं क्षेत्रीय समस्याओं को लेकर मुखर हुए हिंसक गिरोहों के रूप में, कहीं भाषाई, सांस्कृतिक एवं आर्थिक विषमताओं की प्रतिक्रिया स्वरूप जन्मे संगठनों के रूप में, कहीं धार्मिक अल्पसंख्यकों द्वारा अपने उचित-अनुचित अधिकारों की लड़ाई के रूप में, कहीं सेना और सुरक्षा-बलों द्वारा किए गए अमानवीय एवं अनुचित बल-प्रयोग के रूप में और कहीं एक देश की सरकार द्वारा किसी अन्य देश में अपने निहित राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए उकसाए गए विद्रोहियों के रूप में।' [46]

स्थिति को और स्पष्ट रूप से कहें तो आज विश्व में हर मनुष्य किसी-न-किसी रूप में आतंकवाद से प्रभावित अवश्य है। ऐसा नहीं है कि आतंकवाद वर्तमान विश्व की समस्या है बल्कि यह तो मानव-सभ्यता के आदिकाल से ही अस्तित्व में आ चुकी थी। यह दूसरी बात

है कि वर्तमान में इसका रूप-स्वरूप और अधिक भयंकर होकर मानव-सभ्यता को निगल जाने की स्थिति में पहुँच गया है, जो अत्यधिक चिंता की बात है। डॉ॰ अग्रवाल के मतानुसार–

'आतंकवाद को एक राजनीतिक रुझान या नज़रिए का आधार उस वक़्त मिला, जब दुनिया वैचारिक आधार पर विभिन्न ख़ेमों में विभाजित हो गई। सामंतशाही युग में विजेताओं द्वारा जो आतंक फैलाया जाता था और जिस प्रकार पराजित देश में भारी क़त्लेआम किया जाता था, उसके पीछे कोई दर्शन, कोई विचारधारा, कोई सिद्धांत या कोई विशेष दृष्टिकोण नहीं होता था। विजेता जनता को आतंकित कर अपना प्रभुत्व स्थापित करने तथा विद्रोहियों को सिर झुकाने के लिए विवश करने के उद्देश्य से ऐसा करता था।' 47

दंगे : क्यों और कैसे :

विश्व आतंकवाद पर विश्लेषणात्मक शैली में हिंदी साहित्य को महत्त्वपूर्ण विचार भेंट करनेवाले डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने स्थानीय स्तर पर घटने वाली ऐसी घटना पर भी बड़ी व्यापकता से अपनी क़लम चलाई है, जिससे होने वाली धन-जन की हानि को किसी-भी रूप में पूरा किया ही नहीं जा सकता। यह हानि होती है परस्पर होने वाले दंगों के द्वारा। क्योंकि दंगों में भी आम जनता ही प्रभावित होती है और ये भी समाज के उस वर्ग द्वारा प्रयोजित किए अथवा कराए जाते है, जो निर्दोष लोगों की लाशों पर अपनी रोटियाँ सेंककर ऐश करते हैं।

अध्ययन से पता चलता है कि भारत में होने वाले ये दंगे सांप्रदायिक होते हैं, जिनमें हिंदू व मुस्लिम कट्टरवाद विशेष रूप से कार्य करता है, जिसके पीछे धार्मिक भावना कम राजनीतिक व व्यापारिक लाभ उठाने की इच्छा अधिक होती है। इस संबंध में डॉ॰ अग्रवाल लिखते हैं कि 'देश में धार्मिक स्थलों की संख्या का बढ़ना अगर आम लोगों की धार्मिक प्रवृत्ति में वृद्धि होने ही का द्योतक हो तो कोई विशेष चिंता की बात नहीं है। लेकिन जब ये स्थल दंगों की राजनीति करने, अस्त्र-शस्त्र जमा करने, गोला-बारूद का भंडार करने, दंगाइयों को पनाह देने तथा राष्ट्रीय एकता के ख़िलाफ़ षड्यंत्र करने के लिए प्रयोग किए जाने लगें तो यह बहुत ही चिंताजनक बात है। जाँच- परखकर देखें तो साफ़ नज़र आता है कि इस बीच लोगों में धार्मिक आस्थाओं का विस्तार नहीं हुआ है। धर्म की शिक्षा नहीं फैली है। बस धार्मिक स्थलों पर अवैध कब्ज़ा करने की प्रवृत्ति काम कर रही है, वहीं सांप्रदायिक अपराधियों को शरण-स्थल उपलब्ध करने की प्रवृत्ति भी इनके पीछे काम करती रही है।' 48

सांप्रदायिक का ज़हर जो पारस्परिक दंगों का मुख्य कारक होता है, निरंतर भारतीय समाज में परसरता जा रहा है। इसके वशीभूत जहाँ अनेक कथित रूप से सामाजिक संगठन कुकुरमुत्तों की मानिंद उग रहे हैं वहीं राजनीतिक स्वार्थी भी इनमें निरंतर अपनी रुचि बढ़ाते जा रहे हैं तथा समाज में इस विष बेल को और अधिक खाद-पानी देते जा रहे हैं। इस बात का अनुमान डॉ॰ अग्रवाल के इन शब्दों से लगाया जा सकता है कि, 'अब से कोई पच्चीस वर्ष पहले, 1970 के आस-पास, पूरे देश में सांप्रदायिक दंगों के दृष्टिकोण से अधिक संवेदनशील नगरों की संख्या केवल 61 थी, जो 1990 तक आते-आते 250 तक पहुँच गई। स्पष्ट है कि पिछली एक चौथाई शताब्दी में सांप्रदायिक क्षेत्र का आश्चर्यजनक रूप से विस्तार हुआ है।' 49

इन दंगों के संदर्भ में एक बात तो अटल सत्य है कि ये किसी छोटी-सी घटना को

बड़ी करके लोगों की भावनाओं के साथ खिलवाड़ करने का परिणाम होते हैं और इस काम को करते हैं अपराधिक प्रवृत्ति के जाने-माने खिलाड़ी, जो राजनीतिक रसूक ऊँचाई तक रखते हैं या सक्रिय राजनीति में भागीदारी रहते हैं।

यद्यपि भारत में हिंदू और मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक घृणा अँग्रेज़ों की 'बाँटो और राज करो' की नीति के बाद पैदा हुई लगती है, लेकिन गहराई से देखा जाएगा तो सांप्रदायिक अलगाव की प्रवृत्तियाँ यहाँ पहले से मौजूद भी, अँग्रेज़ साम्राज्य ने तो इन्हें अपने निहत स्वार्थों की पूर्ति के लिए केवल बढ़ाया और इसमें राजनीतिक उद्देश्यों का विष भरकर इन्हें पहले से कहीं ज़्यादा घातक बना दिया। डॉ॰ अग्रवाल का कहना है कि– 'यह ठीक है कि 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम हिंदू और मुसलमान दोनों समुदायों ने कंधे से कंधा मिलाकर लड़ा और दोनों अपने साझाा दुश्मन अँग्रेज़ के विरुद्ध कमर कसकर खड़े हो गए थे। किंतु यदि गहराई से देखा जाए तो इस समय भी दोनों समुदायों का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अलग-अलग था। मुस्लिम वर्ग सत्ता की वापसी चाहता था और बहादुर जफ़र के नेतृत्व में विद्रोह पर उत्तर आया था। जबकि हिंदू वर्ग इस भय के कारण मैदान में एकत्र हुआ था कि कहीं दुर्भाग्यवश नई दासता पुरानी दासता से भी अधिक कष्टदायक न हो।' [50]

स्पष्ट है कि डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने जिस रूप में भी अपनी लेखनी चलाई है, उसमें सब प्रकार से मानवमूल्यों को उकेरा गया है इसी के साथ राष्ट्रीय मूल्य, सामाजिक मूल्य व पारिवारिक मूल्य भी उनके साहित्य में और अधिक मजबूत होते हैं। इसीलिए तो वे जब उनसे पूछा जाता है कि 'नई पीढ़ी के लिए आपका कुछ संदेश है।' तो उनका उत्तर होता है– 'साहित्य के क्षेत्र में काम करनेवाले युवकों से मेरा आग्रह है कि वे अध्ययन की ओर ध्यान दें तथा निरंतरता एवं स्तरता के साथ अपनी क़लम जनहित में चलाएँ और आरोपों-प्रत्यारोपों की चिंता बिलकुल न करें।' वस्तुतः उनका तमाम साहित्य मानवधर्मी है, मात्र मनोरंजन धर्मी नहीं। [51]

9. शोध एवं समीक्षा-साहित्य :

'शोध-संदर्भ' डॉ॰ अग्रवाल की अद्‌भुत रचनाधर्मिता का प्रमाण है। इसीलिए डॉ॰ अग्रवाल की यह कृतियाँ अत्यंत सराही गई है। उनकी इस बेजोड़ देन के संबंध में डॉ॰ योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' का कथन सर्वथा द्रष्टव्य है, 'आज संदर्भ-ग्रंथों की विशिष्ट परंपरा में डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का नाम एक ऐसा कालजयी नाम बन चुका है, जिसे दो दशकों से भी लंबे समय के अंतराल में हिंदी-शोध से जुड़े हज़ारों विद्वान शोध-निर्देशकों और जिज्ञासु शोधकर्ताओं ने कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक विलक्षण संदर्भ-ग्रंथ 'शोध-संदर्भ' के माध्यम से बार-बार दोहराया और भरपूर सराहा है।' [52]

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल की 'शोध-संदर्भ' से संबंधित यात्रा का प्रारंभ सन 1980 से हुआ लेकिन इस यात्रा का अंत अनंत है। 'शोध संदर्भ' के अब तक चार भाग प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें प्रथम भाग का प्रकाशन वर्ष सन 1989 है। इस प्रकार दस वर्षों की लंबी साधना के उपरांत यह अमूल्य कृति पाठकों के हाथों में पहुँची।

'शोध-संदर्भ' के प्रथम भाग में प्रारंभ से लेकर 1979 तक के स्वीकृत हिंदी शोध-प्रबंधों को सम्मिलित किया गया है। दूसरे भाग में सन 1980 से सन 1986 तक के

स्वीकृत शोध-प्रबंधों को लिया है। सन् 1986 से 1992 तक के स्वीकृत शोध-प्रबंध ग्रंथ के तीसरे भाग में तथा इसी प्रकार सन् 1992 से 2003 तक के स्वीकृत शोध-प्रबंधों की जानकारी दी गई है।

डॉ॰ अग्रवाल के इन ग्रंथों से हिंदीभाषा के तमाम शोध प्रबंधों की एक स्थान पर प्राप्ति हो जाने से नए संधित्सुओं के लिए विषय चयन में बड़ी आसानी हो गई है। हिंदी शोध प्रबंधों के इतिहास की जानकारी भी डॉ॰ अग्रवाल के इन ग्रंथों से मिल जाती है।

प्राय: ऐसा हुआ है कि हिंदी में किसी विषय पर एक बार शोध हो गया, किंतु उसकी जानकारी न होने पर किसी अन्य विश्वविद्यालय ने उसी विषय पर शोध की स्वीकृति प्रदान कर दी। यद्यपि यह पुनरावृत्ति का कार्य हुआ तो अनजाने में, तथापि इससे हिंदी-शोध की बड़ी दुर्दशा हुई। इस पुनरावृत्ति से छुटकारा दिलाने के लिए डॉ॰ अग्रवाल के शोध-संदर्भ ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इस योगदान को प्रो॰ सूर्यप्रसाद दीक्षित के शब्दों में देखें तो–

हिंदी-शोध की दुर्दशा के अनेक कारण हैं। इनमें सर्वप्रमुख है–शोध-शीर्षकों की पुनरावृत्ति। संप्रति शताधिक विश्वविद्यालयों में डी॰लिट्॰ पी-एच॰डी॰, एम॰फिल॰ आदि उपाधियों के लिए शोधकार्य किए कराए जा रहे हैं, किंतु विडंबना यह है कि शोध-शीर्षक आवंटित करते हुए न विश्वविद्यालयी शोध-समिति के पास ऐसी कोई विषय-तालिका होती है, जिसके सहारे विशेषज्ञ यह निर्णय कर सकें कि प्रस्तावित शीर्षक मौलिक है अथवा किसी पूर्व स्वीकृत या आवंटित शीर्षक की पुनरावृत्ति है, न ऐसी कोई सूची विभागीय शोध-समिति के समक्ष होती है, जिससे सैकड़ों-सैकड़ों शीर्षक आवंटित कर दिए गए हैं। एक ओर हम सूचना प्रौद्योगिकी का दम भरते हैं, किंतु दूसरी ओर 'भारतीय विश्वविद्यालय संघ' अथवा 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' की ओर से आज तक ऐसी कोई भी कंप्यूटराइज्ड सूची नहीं बन सकी है। हिंदी में चूँकि अन्य विषयों की अपेक्षा भीड़-भाड़ ज़्यादा दिखाई देती है, इसीलिए विषय-चयन की यह अराजकता भी हिंदी में ज़्यादा है।' [53]

स्पष्ट है 'शोध-संदर्भ' जैसे विलक्षण ग्रंथ की परिकल्पना करके, फिर उसे मूर्तरूप प्रदान कर देना अपने आपमें सरल कार्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भारत के तमाम विश्वविद्यालयों और उनसे संबद्ध महाविद्यालयों के हिंदी-विभागों में हो चुके उपाधिपरक शोधकार्यों का प्रामाणिक विवरण प्राप्त करना और फिर उसे श्रेणी व उपश्रेणी क्रमबद्धता देते हुए संपूर्ण व्यवस्था के साथ प्रस्तुत करना निश्चित ही कठिनतम कार्य है। इस कठिनाई का अनुमान डॉ॰ अग्रवाल के इस कथन से लगाया जा सकता है, 'लखनऊ विश्वविद्यालय से 1975 के पश्चात की सूची प्राप्त न हो सकी, अत: वहाँ के प्राध्यापकों की व्यक्तिगत जानकारी से मिले विवरण का ही उपयोग किया गया है।' [54]

सन् 1979 में प्रकाशित शोध-संदर्भ के प्रथम भाग में कुल 4501 शोध-प्रबंधों को प्रविष्ट किया गया है। इन प्रविष्टियों को साहित्यिक काल-विभाजन के अनुसार बड़ी व्यवस्था के साथ वर्गीकृत किया गया है, जिससे यह भी पता चलता है कि विभिन्न विषय-वर्ग में कितने शोध-प्रबंध विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत हुए हैं। पहले आदिकालीन साहित्य, फिर मध्यकालीन साहित्य पुनश्च आधुनिककालीन साहित्य के रूप में वर्गीकरण किया गया है। इतना ही नहीं मध्यकालीन साहित्य में मध्यकाल सामान्य, मध्यकाल संतकाव्य, मध्यकाल सूफ़ीकाव्य,

मध्यकाल कृष्णकाव्य और मध्यकाल रामकाव्य के रूप में वर्गीकृत प्रस्तुति ग्रंथ को अतीव व्यवस्थित बना देती है। इसके उपरांत रीतिकालीन साहित्य में हुए शोध-प्रबंधों को रखा है।

इसी क्रम में आधुनिककालीन साहित्य के अंतर्गत उपन्यास, कथासाहित्य, कहानी, काव्य, काव्यशास्त्र, गद्य-विद्याएँ, गद्यसाहित्य, नाटक के रूप में अलग-अलग प्रस्तुत किए हैं। पत्रकारिता, बालसाहित्य, भाषा मुहावरे और लोकोक्तियाँ, लोकसाहित्य, समीक्षा और आलोचना, हिंदीकाव्य : सामान्य, हिंदी साहित्य सामान्य, हिंदी-साहित्य का इतिहास और इनके उपरांत साहित्यकार व्यक्ति-विशेष की लंबी सूची है। साहित्यकार विविध, साहित्यकार समुदाय-विशेष तथा विभिन्न अध्ययन में क्षेत्रीय साहित्य तथा पंथ- संप्रदाय के उपरांत परिशिष्ट को जोड़ा गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि डॉ॰ अग्रवाल जहाँ मौलिक सृजन में अपनी रचनाधर्मिता का कमाल दिखाते हैं, वहीं संदर्भ कोश में विभिन्न जानकारियों को समुचित रूप में व्यवस्थित तरीक़े से प्रस्तुत करके अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय प्रदान करके हिंदी शोध-छात्रों के मार्ग में निरंतर सुविधाओं के पुष्प खिलाते हैं।

शोध संदर्भ भाग दो में 3261 शोध-प्रबंधों की प्रविष्टियाँ ग्रंथ में अंकित की गई हैं। ग्रंथ के इस भाग का प्रकाशन वर्ष 1987 है। इसमें सन 1980 से सन 1986 तक विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं शोध-संस्थानों में स्वीकृत हो चुके शोध-प्रबंधकों की संदर्भिका बनाकर हिंदी जगत के हाथों में सौंपा।

ग्रंथ के इस भाग में छह वर्षों की अवधि में संपन्न शोध-प्रबंधों सहित उन प्रविष्टियों को भी सम्मिलित किया गया है, जो किन्हीं भी कारणों से प्रथम भाग में अंकित होने से रह गई थीं। ग्रंथ की महत्ता का आकलन स्वयं डॉ॰ अग्रवाल के इन विचारों से अनायास ही हो जाता है, 'शोध-संदर्भ के लिए सामग्री-संकलन करते समय हमें देश के अनेक विश्वविद्यालयों में जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, किंतु अत्यधिक आग्रह और निवेदन के पश्चात् भी अधिकांश विश्वविद्यालयों से शोध-सूचियाँ प्राप्त करना संभव न हो सका। अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी शोधछात्र को ऐसी सूची मिलना कैसे संभव होता होगा।' [55]

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल और डॉ॰ मीना अग्रवाल के समवेत प्रयास का श्रेष्ठ प्रतिफल, 'शोध-संदर्भ' के भाग तीन में सन 1986 से सन 1992 तक की अवधि में विभिन्न महाविद्यालयों एवं शोध-संस्थानों द्वारा स्वीकृत किए गए शोध-प्रबंधों की पूर्ण व्यवस्थित सूचनाओं की प्रविष्टियाँ हैं। ग्रंथ के इस भाग का प्रकाशन वर्ष भी 1992 ही है। ग्रंथ के इस भाग में कुछ 2853 शोध प्रबंधों को शामिल किया गया है।

'शोध संदर्भ' के चतुर्थ भाग का प्रकाशन 2004 में हुआ तथा इसमें कुल 4703 शोध-प्रबंधों को प्रविष्ट करके डॉ॰ अग्रवाल ने अपनी इस यात्रा का चतुर्थ पुष्प हिंदी-प्रेमियों के हाथों में समर्पित किया है। किंतु उनकी यह यात्रा अनवरत है, जो हिंदी के लिए निश्चित ही अत्यंत महत्त्व रखती है। उन्हीं के शब्दों में, 'शोध-संदर्भ निरंतर चलती रहने वाली प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया सभी विद्वानों के सुझावों और सहयोग से भी सतत गतिशील रह सकती है। हमारी कामना है कि यह गति-क्रम बना रहे।' [56]

वस्तुत: विभिन्न विश्वविद्यालयों में हुए शोधकार्यों की प्रामाणिक सूचियों के अभाव

में अनेक विषयों की पुनरावृत्ति स्वाभाविक ही थी। यद्यपि डॉ॰ अग्रवाल से पहले भी इस पुनरावृत्ति को रोकने के उद्देश्य से शोध-सूची तैयार करने के प्रयास तो कई विद्वानों द्वारा किए गए लेकिन वे प्रयास एक सीमा को धारण करते हुए बीच में ही ठहर गए। जबकि शोधकार्य तो निरंतर तीव्र से तीव्रतर होता गया और विषयों का पिष्टपेषण होता गया। इसी का परिणाम था कि हिंदी शोध-क्षेत्र का स्तर गिर गया। इस गिरते स्तर को सँभालने के लिए डॉ॰ अग्रवाल ने शोध-संदर्भ की रचना करके हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में मील के पत्थर गाड़ने का भगीरथ कार्य किया।

संदर्भ

1. डॉ॰ योगेंद्रप्रसाद, झंझावातों में भी सहज एक व्यक्ति-साक्षात्कार, सफ़र साठ साल का, पृ॰ 80
2. जहीर कुरैशी, ग़ज़ल-संस्कृति की रक्षा करने वाला ग़ज़लकार, सफ़र साठ साल का, पृ॰ 149
3. सन्नाटे में गूँज, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल
4. मौसम बदल गया कितना, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल
5. रोशनी बनकर जिओ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 64
6. वही, पृ॰ 82
7. वही, पृ॰ 139
8. वही, पृ॰ 134
9. वही, पृ॰ 80
10. सन्नाटे में गूँज : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 33
11. वही, पृ॰ 32
12. मौसम बदल गया कितना, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 32
13. वही, पृ॰ 33
14. रोशनी बनकर जिओ : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 132
15. वही, पृ॰ 138
16. मेरे इक्यावन व्यंग्य, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल : भूमिका, पृ॰ 5
17. सफर साठ साल का, पृ॰ 190
18. मेरे इक्यावन व्यंग्य, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 5
19. मेरे इक्यावन व्यंग्य, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 6
20. बाबू झोलानाथ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 15
21. बाबू झोलानाथ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 148
22. ग्यारह नुक्कड़ नाटक, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 6-7
23. सफर साठ साल का, पृ॰ 195
24. कु॰ करुणा शर्मा, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का नाट्य-साहित्य, सफर साठ साल का, पृ॰ 196
25. घोटाला इतिहास, ग्यारह नुक्कड़ नाटक, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰
26. सफर साठ साल का, पृ॰ 202
27. मरती-जीती फ़ाइलें, समय एक नाटक, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰
28. सफर साठ साल का, पृ॰ 283

29. आँगन में सन्नाटा, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, समय एक नाटक, पृ॰
30. पार्क में एक शाम, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, समय एक नाटक, पृ॰
31. जिज्ञासा और अन्य कहानियाँ, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 25-26
32. वही, पृ॰ 64
33. वही, पृ॰ 164
34. वही, पृ॰ 14
35. डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, आदि से आधुनिक तक, आओ अतीत में चलें, पृ॰ 5
36. बच्चों के रोचक नाटक, डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ॰ 15
37. रूबी मोहंती, डॉ॰ गिरिराजशरण से बातचीत का अंश
38. सफर साठ साल का, पृ॰ 295
39. नारी कल और आज, पृ॰ 7-8
40. वही, पृ॰ 8
41. वही, पृ॰ 135
42. मानवाधिकार : दशा और दिशा, पृ॰ 5
43. मानवाधिकार : दशा और दिशा, पृ॰ 77-78
44. पर्यावरण : दशा और दिशा, पृ॰ 8
45. वही, पृ॰ 223
46. विश्व आतंकवाद : क्यों और कैसे, पृ॰ 5
47. वही, पृ॰ 6
48. दंगे : क्यों और कैसे, पृ॰ 67
49. वही, पृ॰
50. दंगे : क्यों और कैसे, पृ॰ 47
51. सफर साठ साल का, पृ॰ 82
52. सफर साठ साल का, पृ॰ 237-238
53. सफर साठ साल का, पृ॰ 241
54. डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, डॉ॰ मीना अग्रवाल : शोध संदर्भ भाग 1, भूमिका
55. डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, डॉ॰ मीना अग्रवाल : शोध संदर्भ भाग 2, भूमिका
56. डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, डॉ॰ मीना अग्रवाल : शोध संदर्भ भाग 4, भूमिका

कुँवरनारायण के काव्य में सामाजिक सरोकार

महेंद्रकुमार छाबड़ा, शोधकर्त्ता
प्रवक्ता, श्री लालनाथ हिंदू कॉलेज, रोहतक (हरियाणा)
डॉ॰ (श्रीमती) शशिप्रभा त्यागी, शोध-निर्देशिका
प्राचार्या, आर्य कन्या पाठशाला स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
खुर्जा, बुलंदशहर (उ॰प्र॰)

काव्य और समाज का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। जिस प्रकार समाज में ही संस्कृति का जन्म होता है, उसी प्रकार कविता और कवि का जन्म समाज में ही होता है। निस्संदेह, संस्कृति के विभिन्न पक्षों वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान, धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक आदर्श तथा कलात्मक अभिव्यक्तियों के रूपों का अस्तित्व समाज के बाहर संभव नहीं है। ये विभिन्न सांस्कृतिक पक्ष समाज के आविर्भाव में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किसी भी समाज की संस्कृति समकालीन काव्य में अभिव्यक्त होती है। उस समाज की सामाजिक चेतना और सांस्कृतिक चेतना काव्य-कला तथा चिंतनपरक कृतियों में अधिक स्पष्ट रूप से प्रकाश पाती है। किसी भी समाज की कविता द्वारा उस समाज की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार, कविता सामाजिक बोध और संस्कृति-बोध का एक प्रमुख साधन है।

एक कवि भी, आम आदमी की तरह, समाज में उत्पन्न होता है; समाज में रहकर ही उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया के मध्य वह स्वयं को समायोजित करता है। रचनात्मक लेखन के पीछे अकेला लेखक या कवि ही नहीं होता, कई परोक्ष कारण भी होते हैं उसका समाज, उसका समय, उसका परिवार, उसका परिवेश और उसके मित्र आदि-आदि।

कवि भी एक सामाजिक प्राणी ही होता है, परंतु संवेदनशीलता की तीव्रता उसे अपने सामाजिक समूह से भिन्न करती है

मैं समूह से विच्छिन्न हूँ
क्योंकि कुछ भिन्न हूँ। [1]

और वही उसे सर्जनात्मक लेखन के लिए बाध्य करती है। 'कविता सर्जनात्मक लेखन का पद्य रूप में एक खंड है, विशेषत: वह जो गहन भावना और श्रेष्ठ विचार को सुंदर भाषा में व्यक्त करता है और वह जो एक अनुभव को दूसरों तक पहुँचाने की इच्छा से शब्दबद्ध किया जाता है।' [2]

एक संवेदनशील कवि समाज में अपनी आँखें बंद करके नहीं रह सकता। समाज का यथार्थ और सामाजिक परिस्थितियाँ, विषमताएँ, कुरीतियाँ, सामाजिक हालात उसके कोमल हृदय को प्रभावित करते हैं और अपने सामाजिक अनुभवों की अभिव्यक्ति भी अनिवार्य रूप से वह करता है। कवि के

लिए कविता जीवन को निकटता और सूक्ष्मता से देखने का भी एक माध्यम है। कुँवरनारायण का कथन है : 'कविता मेरे लिए कोई भावुकता की हाय-हाय न होकर यथार्थ के प्रति एक प्रौढ़ प्रतिक्रिया की मार्मिक अभिव्यक्ति है। [3] यह कथन यथार्थ के प्रति कवि के आग्रह को संकेतित करता है। कविता, कुँवरनारायण के लिए, सिर्फ़ भावुकता नहीं है, बल्कि सामाजिक सरोकार भी है।

कुँवरनारायण सामाजिक सरोकारों से जुड़े हुए कवि हैं और अपने सामाजिक दायित्व के निर्वाह के प्रति पूरी तरह सचेत हैं। उनकी कविताएँ बीसवीं सदी के भारतीय समाज और भारतीय भावबोध का साक्त चित्रण प्रस्तुत करती हैं। उनकी कविताओं में समकालीन युग और समाज को उसके यथार्थ रूप में देखा जा सकता है। यथा

अपने ही हथियारों से घबराया मानव
पत्थर का देव और लोहे का दानव
यह युग
अपनी ही ताक़त से हारा मनुष्य
अपने अतीत को दुहराता अंधा भविष्य,
शहरों का कूड़ा झोंपड़ियों में फैलाया
अपनी ज़रूरतों के कोड़ों से पिटवाया
इंसान
मगर बेजान
मकानों-सा ढहता
अपने से दूर पास बस्ती के रहता,
सभ्यता
लगी नाख़ूनों पर पालि जैसे। [4]

वर्तमान समय में हम सभी बुराइयों को बिना किसी विरोध के स्वीकार कर लेते हैं। किंतु, मानसिक दासता की यह प्रवत्ति किसी भी देश के लिए बड़ी घातक हो सकती है। समकालीन समय और देशीय परिस्थिति का चित्रण निम्नांकित है

अजीब वक़्त है
बिना लड़े ही एक देश
स्वीकार करता चला जाता
अपनी ही तुच्छताओं की अधीनता! [5]

वर्तमान समाज में 'हम क्या हैं?', 'हमारा वज़ूद क्या है?', 'हमारी स्थिति क्या है?' इसको बयाँ करती, कुँवरनारायण की 'क्रौंच-वध' शीर्षक कविता में मनुष्य की सामाजिक स्थिति का कारुणिक चित्र खींचा गया है

हम एक नाज़ुक दौर से
गुज़र रहे देश की
दर्दनाक हालत हैं,
मौत की अदालत में
अपराधी की तरह खड़ी

ज़िंदगी की वकालत हैं,
नफ़रतों से भरी दुनिया में
दम तोड़ती
बेगुनाही का बयान हैं,
जिसका ख़ून अब नसों में नहीं
सड़कों पर बह रहा
वो अभागे इन्सान हैं,
ज़ालिम हवाओं में
टहनी-टहनी सूखता प्यार
एक घायल दरख़्त हैं,
अपनी ही जड़ों पर
कुल्हाड़ी चलाते आदमी का
बहुत बुरा वक़्त हैं...
'राम राम' से 'मरा-मरा' की ओर
लौटते क्या हम
दीमकों का घर है?
क्रौंच-वध पर
बिलख उठे अनुष्टुप् के
कदाचित हम सबसे करुण स्वर हैं। [6]

कुँवरनारायण की कविताओं का सामाजिक-परिदृश्य विशाल है, वह सामाजिक तथ्यों पर गहरी संपक्ति के साथ विचार करते हैं। कवि ने आधुनिक युग में तेज़ी से हो रहे नगरीकरण और व्यवसायीकरण तथा उससे उपजी समस्याओं का यथार्थ चित्रण करते हुए आधुनिक समाज में बने असुरक्षा के माहौल की ओर भी निम्न पंक्तियों में इशारा किया है

सुनते हैं एक समय में लोग
घरों में ताला नहीं लगाते थे
लेकिन जबसे रोज़गारों ने
आदमी को सँभाला
घरों में
बाज़ारों में
जहाँ देखो ताला ही ताला
सोचता हूँ ये किस धंधे में हाथ डाला
कि मुँह खोलते ही याद आता है दुकान का ताला। [7]

कवि का कथन है वक़्त नाजुक है / मगर कविता की तरह नाजुक नहीं।

आज शहरीकरण से उत्पन्न अजनबीपन और अकेलेपन ने शहरी समाज और उसकी ज़िंदगी को काफ़ी लाचार बना दिया है। शहरी मध्यमवर्गीय समाज की नीरस दिनचर्या रहन-सहन और जीवन-शैली का एक चित्र निम्नांकित पंक्तियों में द्रष्टव्य है

लगभग दस बजे रोज़
वही घटना
फिर घटती है।
वही लोग
उसी तरह
अपने बीवी-बच्चों को अकेला छोड़कर
घरों से बाहर निकल आते हैं।
शाम होते-होते
वही लोग उन्हीं घरों में
वापस लौट आते हैं,
शामत के मारे
थके-हारे।[8]

कवि समाज में हर रोज़ की इस नीरसता से इतना क्षुब्ध है कि वह सोचने को विवश है कि यही हर रोज़ होता है 'मगर भूकंप नहीं आता।'

कवि महानगरीय जीवनयापन कर रहे मनुष्य के तनाव, कुण्ठा, अकेलेपन, भय, असुरक्षा, घुटन और ऊब का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करता है-

आठवीं मंज़िल पर
इस छोटे-से फ़्लैट में
दो ऐसी खिड़कियाँ हैं
जो बाहर की ओर खुलतीं।
फ़्लैट में अकेले
इतनी ऊँचाई पर बाहर की ओर खुलनेवाली
खिड़कियों के साथ
लगातार रहना
भयानक है।
मैंने दोनों खिड़कियों पर
मज़बूत जँगले लगवा दिए हैं
यह जानते हुए भी
कि आठवीं मंज़िल पर
बाहर से अंदर आने का दुस्साहस तो
शायद ही कोई करे...
दरअसल मैं बाहर से नहीं
अंदर से डरता हूँ
कि हालात से घबराकर
या ख़ुद ही से ऊबकर
किसी दिन मैं ही कहीं

अंदर से बाहर न कूद जाऊँ।[9]

आज शहरों और नगरों में मानव-समाज पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या झेल रहा है। कवि पर्यावरण-प्रदूषण, विशेषकर, शोर-प्रदूषण की समस्या के प्रति भी अपना सरोकार व्यक्त करता है

सड़कों की अजगर-लपेट में मकान
'आ गया, आ गया', चीख़ रहे प्रेशरहार्न।
सबको है खुली छूट, हल्लों का मुहल्ला है
अपना सिर गेंद, लाउडस्पीकर बल्ला है।
राम और अल्लाह के बंदों का जंगल है,
कानफोड़ आवाज़ों में अखंड दंगल है।
सिर में दिमाग़ नहीं, बची सिर्फ़ भाँय भाँय,
कानों में गानों की मची आँय बाँय शाँय ...
सिर पकड़े बैठे हैं-कहाँ इसे दे मारें?
जो कुछ कर सकते हैं, बहरे हैं वे सारे।[10]

'जो कुछ कर सकते हैं बहरे हैं वे सारे' पर्यावरण संरक्षण के प्रति यह उदासीनता मानव-जाति के लिए बहुत घातक हो सकती है।

यह वैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य-जीवन के अस्तित्व का संबंध पर्यावरण के अस्तित्व से है। कवि का भी कहना है कि मनुष्य जीवन को बचाने के लिए पर्यावरण को बचाना ज़रूरी है। 'लाल' और 'हरा' दोनों रंगों को ही बचाना बहुत ज़रूरी है/एक-दूसरे की ज़िंदगी के लिए

रंग के विशेषज्ञों को डर है
कि आगामी वर्षों में
कुछ रंगों की भारी कमी मुमकिन है
उनका अकाल तक पड़ सकता है
अगर इसी रफ़्तार से हम उन्हें नष्ट करते रहे
जैसे लाल और हरा, जो या तो
आसमान की तरह नीले पड़ जाएँगे
या कोयले की तरह काले।
एहतियात ज़रूरी है
कि जहाँ भी वे मिलें
उन्हें यत्न से बचाया जाय
लाल को चाहे रक्त कहें
चाहे हरे को हरियाली
वे केवल फ़र्क़ रंग है
दुश्मन रंग नहीं
और दोनों ही को बचाना ज़रूरी है
एक-दूसरे की ज़िंदगी के लिए।[11]

समाज में सभी प्रकृति-प्रेमियों की भाँति, प्रकृति और मानव-समाज के प्रति चैतन्य कवि का

भी लक्ष्य बचाना है

नदियों को नाला हो जाने से
हवा को धुआँ हो जाने से
खाने को ज़हर हो जाने से
बचाना है जंगल को मरुथल हो जाने से,
बचाना है मनुष्य को जंगल हो जाने से।[12]

कवि जानता है कि आने वाले वक़्तों में / साफ़ पानी और साफ़ हवा से भी ज्यादा/ शांति की किल्लत रहेगी। इस संदर्भ में उसकी व्यंग्यपरक काव्य-अभिव्यक्ति 'शांति की दुकान' उल्लेखनीय है

मुहल्ले में वह शांति बेचता है
लाउडस्पीकरों की
एक दुकान है उसकी
मेरे घर से बिलकुल लगी हुई।
सुबह-सुबह मुँह-अँधेरे दो घंटे
लाउडस्पीकर न बजाने के
वह मुझसे सौ रुपये महीने लेता है।
वह जानता है कि मैं
उन अभागों में से हूँ
जो शांति के बिना
जीवित नहीं रह सकते!
मैं उसका आभारी हूँ
भारत जैसे देश में
जहाँ क़ीमतें आसमान छू रहीं
सौ रुपये महीने की दर से
अगर दो घंटा रोज़ भी शांति मिल सके
तो महँगी नहीं![13]

इस प्रकार, कवि का मत है कि मानव के मानसिक विकास के लिए मन की शांति आवश्यक है तो सामाजिक विकास के लिए समाज में शांति का होना नितांत आवश्यक है।

बड़े शहरों में प्रचलित पाश्चात्य वास्तु-शिल्प, मकानों की बनावट भी कवि को आशंकित करती है। इन शहरों में बन रही इमारतों की बनावट की वजह से मनुष्य का प्रकृति से नाता टूट रहा है

मुझे आश्वस्त करता
उन कमरों का दिमाग़ी रंग
जिनमें आमने-सामने
हँसते-बोलते, बहसें करते
खिड़कियाँ और रोशनदान हों

जिनकी बनावट में शामिल
सिर्फ़ छतें और दीवारें नहीं
यहाँ वहाँ लुकछिप कर
झाँकते आसमान हों।
मुझे आंकित करती
उन कमरों की घेराबंदी
जिनमें होता है
सिर्फ़ एक सदर दरवाज़ा
किसी तोप के मुँह की तरह
खुला हुआ एकतरफ़ा
और एक आवाज़। [14]

इस प्रकार, आधुनिक समाज में मनुष्य की आधुनिक जीवन-शैली के प्रति कवि अपना सरोकार व्यक्त करता है।

भारतीय समाज में फैल रहे विदेशी बाज़ारवाद के साथ-साथ देश के आर्थिक शोषण और देश से प्रतिभा-पलायन जैसे मुद्दों से भी कवि को सरोकार है। उसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी में ग़ुलामी की मानसिकता और रूढ़िवादिता पर एतराज है। समाज और देश में ‘क्या फिर वही होगा / जिसका हमें डर है ? / क्या वह नहीं होगा / जिसकी हमें आशा थी?’ इन सरोकारों को कवि अपनी कविता ‘क्या वह नहीं होगा’ में व्यक्त करता है

क्या हम उसी तरह बिकते रहेंगे
बाज़ारों में
अपनी मूर्खताओं के ग़ुलाम?

क्या वे ख़रीद ले जाएँगे
हमारे बच्चों को दूर देशों में
अपना भविष्य बनवाने के लिए?

क्या वे फिर हमसे उसी तरह
लूट ले जाएँगे हमारा सोना
हमें दिखाकर काँच के चमकते टुकड़े?

और हम क्या इसी तरह
पीढ़ी-दर-पीढ़ी
उन्हें गर्व से दिखाते रहेंगे
अपनी प्राचीनताओं के खंडहर
अपने मंदिर मस्ज़िद-गुरुद्वारे? [15]

कवि का मत है कि भारतीय समाज को अपनी प्राचीन संस्कृति पर गर्व करने के साथ-साथ अपनी ग़ुलामी की मानसिकता को भी त्यागना होगा। यह सच है कि बाज़ार ने आदमी की नियति को

दबोच लिया है। कवि को समाज में आदमी की नियति से सरोकार है। वर्तमान सामाजिक जीवन में आम आदमी की स्थिति पर कवि की काव्यात्मक एवं आलोचनात्मक टिप्पणी निम्नांकित है

‘आज जब कि हर चीज़ का दाम सिर्फ़ बढ़ने की ओर है।
आदमी की कीमत में भारी छूट का शोर है।’ [16]

आज के युग में महँगाई की गंभीर समस्या है। प्रत्येक आवश्यक वस्तु का दाम बढ़ रहा है, परंतु समाज में आदमी की कीमत घट रही है।

आज का युग विज्ञापन का युग है। विज्ञापन पोस्टर पुराने पड़ने से पहले अक्सर बदलते रहते हैं-

कभी लिरिल साबुन में नहाती सुंदरी,
कभी डालडा वनस्पति से पनपते बच्चे,
कभी इफ़को खाद से लहलहाती फ़सलें,
कभी सदाबहार पान के मसाले,
कभी एटलस साइकिल पर सवार पग्गड़ किसान,
कभी हाथ जोड़े खड़े धनवर्षा का संदेश देते
धनकुबेर!

नहीं बदलता तो वह गुमसुम उदास लड़का जो ठेके पर सरकारी पोस्टर लगाता है

बाप शराब पिएँगे
और बेटे भूखों मरेंगे ...[17]

विडंबना यह है कि यह भी विज्ञप्ति है सब विज्ञापनों के बरक्स एक और विज्ञापन!

प्रख्यात आलोचक परमानंद श्रीवास्तव के विचार में‘कुँवरनारायण ने अपने समय के अनुभवों के आधार पर कविता को निरा तात्कालिक बयान होने से रोका है और समकालीन सामाजिक ढाँचे की विडंबनाओं से उभरनेवाले प्रश्नों को भी बुनियादी चिंताओं के मुहावरे में व्यक्त किया है।’ [18]

कुँवरनारायण 'जीवन की आलोचना' के कवि हैं। उन्होंने अपनी काव्य-रचनाओं में जीवन और सामाजिक जीवन का एक वास्तविक लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। आलोचक रमेशचंद्र शाह के शब्दों में, ‘कुँवरनारायण की कविता में जीवन और जीवन में कविता है।’ [19] निस्संदेह, जीवन ही कविता का सर्वोपरि मूल्य है।

कवि ने वर्तमान सामाजिक परिवेश और उसमें व्याप्त भय, डर, संशय का वर्णन इस प्रकार किया है

घाट की सीढ़ियों पर
कटे पड़े एक लावारिस हाथ को
पुलिस ने हिरासत में ले लिया है।
तफ़्तीश जारी है ...
किसका हो सकता है वह हाथ?
आदमी और हाथ
दोनों रहस्य बन गए हैं
एक-दूसरे से कटकर!

एक सरकारी विज्ञप्ति ...
जिसका हो वह हाथ
थाने आए
सबूत देकर उसे ले जाए

कैसा अजीब वक़्त है
कि कोई भी निहत्था आगे नहीं बढ़ता!
कोई बयान, कोई सबूत देते डरता
कि कौन फँसाए अपनी गर्दन
अपने हाथ-भर हाथ के लिए![20]

'एक-दूसरे से कटकर' ाीर्षक कविता वर्तमान सामाजिक व्यवस्था पर एक तीव्र कटाक्ष है और यह कविता सामाजिक पतन और समाज में आई गिरावट की ओर भी स्पष्ट संकेत करती है

हाथ को वैज्ञानिक जाँच के लिए भेजा गया।
लेकिन
वैज्ञानिक रपट ने रहस्य को
और भी गाढ़ा कर दिया था।
अँगूठे ने दस्तख़त देने से इंकार कर दिया।
एक उँगली मुँहबंद चुप्पी हो गई।
बाक़ी तीन
संज्ञाहीन। हथेली इतनी ठंडी
कि किसी भी उपाय से गरम न हुई।
नब्ज़ बंद थी लेकिन क़लाई-घड़ी चलती रही ...
बाक़ी यह कि हाथ
किसी ज़ीरो-ग्रुप वाले आदमी का था
और एक पैने हथियार से कटा ...

अब ख़बर है
कि पुलिस की हिरासत से यह हाथ भी फ़रार है।
अब वह किसी व्यक्ति का हिस्सा नहीं
हथियारों के साथ है।
सब परेाान हैं कि भयानक-से-भयानक घटनाएँ हो जातीं
और पता तक नहीं चलता कि उनके पीछे
किसका-या किस-किसका हाथ है![21]

आजकल समाज में फैली नफ़रत और उसके फलस्वरूप होनेवाली हिंसा, रक्तपात और अराजकता की पराकाष्ठा का यथार्थ चित्रण और सत्तातंत्र पर व्यंग्य 'सफलता की कुंजी' ाीर्षक कविता मेंहै

दोनों के हाथों में भरी पिस्तौलें थीं
दोनों एक-दूसरे से डरे हुए थे
दोनों के दिल एक-दूसरे के लिए
पुरानी नफ़रतों से भरे हुए थे

उस वक़्त वहाँ वे दो ही थे
लेकिन जब गोलियाँ चलीं
मारा गया एक तीसरा जो वहाँ नहीं
चाय की दुकान पर था ...

पकड़ा गया एक चौथा
जो चाय की दुकान पर भी नहीं
अपने मकान पर था, उसकी गवाही पर
रगड़ा गया एक पाँचवाँ जिसे किसी छठे ने
फँसवा दिया था सातवें की शिनाख़्त पर
मुकद्दमा जिस आठवें पर चला, उसके फलस्वरूप
सज़ा नवें को हुई
और जो दसवाँ बिल्कुल साफ़ छूटकर
एक ग्यारहवें के सामने गिड़गिड़ाने लगा वह
उसकी मार्फ़त
एक नई सफलता तक पहुँचने की कुंजी को
उँगलियों पर नचाने लगा ...।[22]

आज समाज में अपराधी धन के बल पर और सत्ता-तंत्र से साँठ-गाँठ के फलस्वरूप जघन्य अपराध करने पर भी क़ानून की पकड़ में नहीं आता अथवा साफ़ बच निकलता है, जबकि कई बार निर्दोष को सज़ा हो जाती है। इस प्रकार कवि ने उपर्युक्त कविता में समाज का यथार्थ चित्रण करते हुए अपना सामाजिक सरोकार व्यक्त किया है।

समाज में सत्ता के प्रतीकों, प्रतिष्ठानों में न्याय-व्यवस्था शीर्ष पर है। न्याय मिल नहीं सकता ऐसा नहीं है, पर न्याय-व्यवस्था का तंत्र और व्याकरण ही ऐसा है कि फ़ैसले टलते जाते हैं। मुकद्दमे की तारीख़ बदलती रहती है, जो लगभग रस्म है, रीति है। होता यही है कि फ़ैसले तब होते हैं, जब लड़ते-लड़ते सब थक चुके होते हैं, 'उनका चूरा ही चूरा फैला होता है' पर रस्म नहीं बदलती।[23] कवि ने समाज में लोगों को न्याय मिलने में हो रही अनावयक, अत्यधिक देरी को देखते हुए कविता के माध्यम से न्याय-व्यवस्था का यथार्थ चित्रण और न्याय-प्रक्रिया पर करारा व्यंग्य करते हुए अपना सरोकार व्यक्त किया है

वे जो थक-थककर
चूर हो गए थे
फ़ैसलों के आजीवन इंतज़ार में

जिन्हें सुनाई गई
मौत की सज़ा
कब के मर चुके थे

जिन्हें रिहाई दी गई
पूरी सज़ा काट चुके थे। 24

उपर्युक्त कविता 'मुकद्दमे' से स्पष्ट है कि कवि चाहता है कि समाज में सभी के लिए न्याय सस्ता हो और सभी को न्याय शीघ्र मिले।

इस प्रकार, कवि समकालीन सामाजिक समस्याओं के प्रति सतत सजग रहता है। सन् 1992 ई॰ में अयोध्या में एक विवादित स्थल को ढहाए जाने पर समाज में फैली सांप्रदायिकता की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पर कवि की काव्यात्मक टिप्पणी है

हे राम,
जीवन एक कटु यथार्थ है
और तुम एक महाकाव्य!

इससे बड़ा क्या हो सकता है
हमारा दुर्भाग्य
एक विवादित स्थल में सिमटकर
रह गया तुम्हारा साम्राज्य। 25

कवि कुँवरनारायण समाज में सांप्रदायिक सोच के कट्टर विरोधी हैं। समाज को संकीर्णता त्यागकर ग़रीबी, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार जैसी समस्याओं के प्रति जागरूक होना चाहिए।

कवि जानता है कि वर्तमान समाज में बहुत बड़ी संख्या में पढ़े-लिखे लोग बेरोज़गारी की समस्या से जूझ रहे हैं। भ्रष्टाचारी तंत्र उनकी निराशा और दौड़ को और बढ़ा रहा है। ऐसे सामाजिक माहौल में एक उदास और टूटे हुए एक निराश आदमी का चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है

एक उदास और टूटा हुआ आदमी
खोल रहा
खोटे सिक्कों की दुकान

एक निराश आदमी
अपने को पढ़कर सुना रहा
भारत का संविधान। 26

समाज से ग़रीबी और बेरोज़गारी जैसी समस्याएँ समाप्त हो सकती हैं, अगर समाज से भ्रष्टाचार समाप्त किया जाए। 'सम्मेदीन की लड़ाई' शीर्षक कविता में समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार का ज़िक्र है और कवि जानता है कि भ्रष्टाचार जैसी सामाजिक बुराई के विरुद्ध अकेले लड़ाई लड़ने में जान का भी जोखिम है

भ्रष्टाचार के विरुद्ध
बिल्कुल अकेला लड़ रहा है एक युद्ध

कुराहा गाँव का ख़ब्ती सम्मेदीन

बदमाशों का दुश्मन
जान गँवा बैठेगा एक दिन
इतनी अकड़कर अपने को
समाजसेवी कहनेवाला सम्मेदीन
जल्दी ही वह मारा जाएगा।

किंतु कवि आशावादी है कि

सिर्फ़ उसका उजाला लड़ेगा
अँधेरों के ख़िलाफ़...

मारे गए निहत्थे सम्मेदीन की तरह किसी को तो सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध आवाज़ उठानी ही होगी। कवि का आग्रह है

बचाये रखना
उस उजाले को
जिसे अपने बाद
ज़िंदा छोड़ जाने के लिए
जान पर खेलकर आज
एक लड़ाई लड़ रहा है
किसी गाँव का कोई ख़ब्ती सम्मेदीन। [27]

समाज किसी एक व्यक्ति के कारण अस्तित्व में नहीं होता, वरन् यह सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांतों पर चलता है। कवि मानता है कि समाज में होनेवाले सामाजिक कुकृत्यों जैसे सामूहिक बलात्कार और सामूहिक हत्या जैसी जघन्य क्रियाओं से किसी भी रूप में जुड़ना पूरे समाज का गुनहगार होना है

'सामूहिक' शब्द के साथ
'बलात्कार' शब्द का जुड़ना
समूह और बलात्कार का
एकाकार होना है

यानी 'समूह' जैसी महान् संज्ञा से जन्मे
'सामूहिक' जैसे विशेषण का
एक जघन्य क्रिया से किसी भी रूप में जुड़ना
पूरे समूह का गुनहगार होना है। [28]

जागरूक कवि समाज में व्याप्त यथास्थिति (Status Quo) से क्षुब्ध है। वह सामाजिक परिवर्तन (Social Change) चाहता है। इस संदर्भ में उसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति है

तबदीली का मतलब तबदीली होता है, मेरे दोस्त
सिर्फ़ तबादले नहीं,

वैसे, मुझे ख़ुशी है
कि अबकी तबादले में तुम
एक बहुत बड़े अफ़सर में तबदील हो गए
बाक़ी सब जिसे तबदील होना चाहिए था
पुरानी दरख़्वास्तें लिए
वही का वही
वहीं का वहीं। [29]

पूँजीवादी व्यवस्था में पस्त, निराश और विभ्रांत मध्यमवर्गीय समाज के व्यक्ति को कवि सक्रिय स्वर देने का प्रयत्न करता है। वह देश के करोड़ों लोगों के साथ होते धोखे से व्यग्र है

नामी शुभचिंतकों की फ़ेहरिस्त में
सभी जाने-माने चढ़ावों में
हमारी जेबें
हमारी ज़बानें
उनके सामने कटती रहीं
और वे चुप रहे।
हम सत्तर करोड़ बेचारे
तन से, मन से, धन से
ग़रीबियों का निचोड़
बैठाते रहे जोड़-तोड़ उन्हीं के साथ। [30]

इस प्रकार, कुँवरनारायण का कवि-कर्म, उनकी निरंतर सृजनशीलता और उनके सामाजिक सरोकार इस विचार को प्रमाणित करते हैं कि 'कुँवरनारायण दुनिया को समझने के साथ-साथ दुनिया को बदलना चाहने वाले कवि हैं।' [31] कवि का कथन है

अगर मुझमें अपनी दुनिया को
बदल सकने की ताक़त होती
तो सबसे पहले
उस 'मैं' को बदलने से शुरू करता
जिसमें दुनिया को बदलने की ताक़त होती। [32]

'मेरे साक्षात्कार' में गौतम चटर्जी से बातचीत करते हुए पूछे गए एक प्रश्न 'आप कैसा समाज चाहते हैं?' के उत्तर में कुँवरनारायण अपनी इच्छा व्यक्त करते हैं 'एक शिक्षित और न्यायी समाज, जिसमें कोई अपने को ग़ैर, उपेक्षित और शोषित न अनुभव करे।' [33]

संदर्भ

1. कुँवरनारायण : 'उपसंहार' (परिवेश : हम तुम), पृ. 34
2. "Poem is a piece of creative writing in verse form, esp. one expressing deep feeling or noble thought in beautiful language; composed with the desire to communicate an exprerience."

- A.S. Hornby, Oxford Advanced Learner's Dictionary of current English, P. 654

3. कुँवरनारायण : 'वक्तव्य' : तीसरा सप्तक, पृ० 155
4. कुँवरनारायण : 'यह युग' (परिवेश : हम तुम), पृ० 90
5. कुँवरनारायण : 'यह कैसी विवाता है' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 21
6. कुँवरनारायण : 'क्रौंच-वध' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 72
7. कुँवरनारायण : 'ताला' (अपने सामने), पृ० 66
8. कुँवरनारायण : 'लगभग दस बजे रोज' (अपने सामने), पृ० 49
9. कुँवर नारायण : 'आठवीं मंजिल पर' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 98
10. कुँवरनारायण : 'पर्यावरण' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 121
11. कुँवरनारायण : 'रंगों की हिफ़ाज़त' (इन दिनों), पृ० 50
12. कुँवरनारायण : 'एक वृक्ष की हत्या' (इन दिनों), पृ० 55
13. कुँवरनारायण : 'शांति की दुकान' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 120
14. कुँवरनारायण : 'कमरों का रंग' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 126
15. कुँवरनारायण : 'क्या वह नहीं होगा' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 73
16. कुँवरनारायण : 'शिकायत' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 114
17. कुँवरनारायण : 'बदलते पोस्टर' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 115
18. परमानंद श्रीवास्तव, आजकल : सितंबर, 1980
19. रमेशचंद शाह, समकालीन भारतीय साहित्य : जनवरी-मार्च, 1994
20. कुँवरनारायण : 'एक-दूसरे से कटकर' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 22-23
21. कुँवरनारायण : 'एक-दूसरे से कटकर' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 23-24
22. कुँवरनारायण : 'सफलता की कुंजी' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 61
23. परमानंद श्रीवास्तव, कुँवरनारायण : उपस्थिति, पृ० 201
24. कुँवरनारायण : 'मुक़द्दमे' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 105
25. कुँवरनारायण : 'अयोध्या, 1992' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 70
26. कुँवरनारायण : 'निमित्तमात्र' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 95
27. कुँवरनारायण : 'सम्मेदीन की लड़ाई' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 18, 19
28. कुँवरनारायण : 'सामूहिक बलात्कार' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 75
29. कुँवरनारायण : 'तबादले और तबदीलियाँ' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 74
30. कुँवरनारायण : 'एवमस्तु' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 91
31. रमेशचन्द्र शाह, समकालीन साहित्य, जनवरी-मार्च, 1994
32. कुँवरनारायण : 'एक संक्षिप्त कालखंड में' (कोई दूसरा नहीं), पृ० 101
33. कुँवरनारायण : मेरे साक्षात्कार (1999), सं० यतीन्द्र मिश्र, कुँवरनारायण : संसार, पृ० 365

डॉ॰ गिरिराजारण अग्रवाल के व्यंग्य साहित्य में आतंकवाद

श्रीमती स्नेहलता, ोिक्कत्ता

वर्धमान स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिजनौर

डॉ॰ मुनीशप्रकाश अग्रवाल, ो॥-निक्ति

रीडर, हिंदी-विभाग,

वर्धमान कालेज, बिजनौर(उ॰प्र॰)

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल का जन्म 14 जुलाई सन 1944 ई॰ में उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद जनपद में संभल नामक स्थान पर हुआ। अनेक विधाओं के साथ-साथ इन्होंने व्यंग्य पर भी अपनी लेखनी चलाई है। डॉ॰ अग्रवाल ने बीस वर्ष की आयु से लिखना आरंभ किया, उनकी पहली पुस्तक सन 1964 में प्रकाशित हुई और तब से वे अनवरत साहित्य-साधना में रत हैं। डॉ॰ अग्रवाल द्वारा लिखित एवं संपादित साहित्यिक पुस्तकों की संख्या 150 से अधिक है। साहित्य की प्रत्येक विधा पर इन्होंने अपनी लेखनी चलाई है। हास्य-व्यंग्य साहित्य भी इनसे अछूता नहीं रहा है। व्यंग्य में आज की प्रमुख समस्या आतंकवाद पर इन्होंने बहुत अच्छा व्यंग्य किया है।

भारत जैसे शांतिप्रिय देश में भी आतंकवाद की समस्या कोई नई समस्या नहीं है। यह समस्या उस दिन उत्पन्न हुई थी, जिस दिन भारत ने अपने आत्मा पर पड़ी अँग्रेज़ों की ग़ुलामी की ज़ंजीर से मुक्ति पाई थी। जब भी, जितने भी प्रयास इस समस्या को सुलझाने के लिए भारतवर्ष ने किए, यह समस्या सुलझने के स्थान पर और उलझती गई।

चंबल की घाटी से लेकर, मुंबई और दिल्ली तक के आतंक को कौन भूला है! न जाने कितने सालों तक पंजाब इसी आतंकवाद की भीषण ज्वाला में जला है। न जाने कितने सालों तक कश्मीर इस आतंक की भट्टी पर बैठा उसकी लपटों से झुलसता रहेगा। अब तो यह भी सिद्ध हो चुका है कि इस सारे आतंकवाद के पीछे छुपा कौन अपने स्वार्थ में भारतवर्ष को मिट्टी में मिलाने के कभी न पूरे होने वाले स्वप्न पाले बैठा है। फिर भी हम इस आतंकवाद का कुछ नहीं कर सकते। शांतिप्रिय जो ठहरे। भारत के घर में घुसकर घुसपैठिए उसके सर्वनाश पर तुले हैं और भारत अभी तक शांति का राग अलाप रहा है।

चंबल बीहड़ क्षेत्र है, जहाँ न जाने कितने डाकू-गिरोहों ने अपने अड्डे बना रखे हैं। जब यह बात भारत का बच्चा-बच्चा जानता है तो भारत सरकार क्यों सोई हुई है? उसके कान पर जूँ क्यों नहीं रेंग रही है? जब कभी वहाँ पर पुलिस ने अपनी दबिश दी है, क्या हुआ। कुछ भी तो हासिल नहीं हुआ। पुलिस ने वहाँ का चप्पा-चप्पा छान मारा, लेकिन डाकुओं के नाम

पर कुछ नहीं मिला। ये डाकू अवसर पाते ही धनी लोगों को लूटते हैं। उन्हें बंधक बनाकर फिरौती के रूप में लंबी-लंबी रकम वसूलते हैं। डॉ॰ अग्रवाल ने वहाँ पहुँचकर भी इस अव्यवस्था का अध्ययन किया और खुलकर व्यंग्य किया है। वे अच्छी तरह से जानते हैं कि वहाँ से निकलकर डाकू सरकार के समक्ष स्वयं आत्मसमर्पण करते हैं तथा सरकार उन्हें फिर से नवजीवन देने के लिए तैयार हो जाती है। नए जीवन में वे स्वयं को और कहीं नहीं बल्कि भारत की राजनीति में निपुण पाते हैं तथा चुनाव लड़कर संसद पहुँच जाते हैं। डॉ॰ अग्रवाल ने इसी अव्यवस्था का खुलासा करते हुए लिखा है–'राजनीति में जबसे दस्यु सुंदरियों की घुसपैठ बढ़ी है और इन सुंदरियों को सुंदर-सुंदर राजनेताओं का कवच प्राप्त हुआ है, पुलिस ही नहीं पूरा देश मूकदर्शक बनकर रह गया है।' [1]

आतंकवादियों की गतिविधियाँ देश में प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। सरकार भी अपना कार्य, अपना कर्त्तव्य पूरा करती है। क्या करती है 'हमारी सरकार' दिन प्रतिदिन बढ़ती आतंकवादी गतिविधियों को रोकने के लिए या कम करने के लिए हर वर्ष सुरक्षा-बजट में करोड़ों रुपए और बढ़ा देती है तथा सारा बोझ जनता पर डाल देती है। ख़ैर, ये अर्थशास्त्र की बाते हैं। हम यहाँ सुरक्षा-व्यवस्था की जाँच-पड़ताल कर रहे हैं। कभी हमारी सरकार के पास सैकड़ों घोड़े थे (राजा-महाराजाओं के समय जब हमारा देश बाह्य शक्तियों या आतंकवादी गतिविधियों से बिलकुल बेख़ौफ़ सोता था) अब वर्तमान में हमारी सरकार के पास हज़ारों हाथी हैं। देश की सुरक्षा के लिए हज़ारों, हाथी, घोड़े, कुत्ते और न जाने क्या-कया जानवर भारतीय सिपाहियों की तरह सेना में भारतीय सुरक्षा की दृष्टि से भरती किए जाते हैं ताकि भारत में बाह्य असुरक्षा न फैले। सुरक्षा विभाग, गुप्त सूचना विभाग, जाँच-पड़ताल विभाग, प्रशासन, कानून-व्यवस्था, विकासकार्य विभाग, निर्णय-अनिर्णय विभाग न जाने क्या-क्या विभाग सरकार ने भारत की सुरक्षा के लिए अपने देशवासियों के चारों तरफ़ बैठा रखे हैं ताकि वे सुरक्षित रहें। लेकिन जब आतंकवादी अपनी घुसपैठ जारी रखते हैं या कोई हिंसात्मक कार्यवाही कर देते हैं तो उसकी जवाबदेही नहीं होती। रेल, बस, आदमी, जहाज़ आदि के अपहरण की साज़िश का खाका खींचकर ये सब विभाग अपनी कार्यवाही कर वाह-वाही लूटने के लिए साँप के गुज़र जाने के पश्चात् उस लकीर को पीटते हैं, जहाँ से वह साँप गुज़रा था। कहते हैं कि कुछ विभाग तो यहाँ तक दावा पेश करते हैं कि उन्हें इस तरह की गतिविधियों का आभास तीन महीने से ही था। अब वे इस पर सख़्त-से-सख़्त कार्यवाही करेंगे। सरकारी अफ़सर अपनी पद-प्रतिष्ठा बचाने के लिए और नेता अपनी कुर्सी बचाने के लिए आम जनता को झूठे ढाँढ़स बँधाते हैं कि आतंकवादियों की घुसपैठ पर रोक लगा दी गई है, लेकिन कुछ घंटे बाद उनकी पोल फिर खुल जाती है।

डॉ॰ अग्रवाल ने इस आतंकवादी घुसपैठ और राजनीतिक घुसपैठ को ख़ूब देखा-परखा हैं और उस पर खुलकर व्यंग्य किया है। वे लिखते हैं–'आप तो जानते हैं भाई जी, स्वतंत्रता के बाद हमारे देश में घुसपैठ की रोचक घटनाएँ कुछ ज़्यादा ही बढ़ गई हैं। सीमा-पार से आतंकवादियों की घुसपैठ होती है। सीमा के भीतर राजनीति में अपराधियों की घुसपैठ होती है। धर्मात्माओं में पाखंडियों की घुसपैठ होती है। जिधर देखोगे, घुसपैठ ही घुसपैठ दिखाई देगी।' [2]

आतंकवादी के भविष्य के बारे में भी हमारी सरकार, हमारा प्रशासन ख़ूब विचारता

है। इस कारण लोग प्रसिद्धि प्राप्त करने और धन ऐंठने के लिए पहले तो वे आतंकवादी बनते हैं फिर आत्मसमर्पण करते हैं। सरकार उन्हें नया जीवन प्रदान करती है ताकि वे सुव्यवस्थित जीवन जीकर एक अच्छे नागरिक बन सकें। अरे ये सब सुविधाएँ जब सरकार और प्रशासन की ओर से मुहैया करवाई जाएँगी तो भला कौन आतंकवादी बनना न चाहेगा। एक आतंकवादी का बयान ही इस बात को सिद्ध कर सकता है कि उसका भविष्य कितना उज्ज्वल हैं। डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने डाकू और आतंकवाद के इस कहर और उनके भविष्य के विषय में उन्हीं के मुख से कहलवाकर जो व्यंग्य हमारी सरकार और प्रशासन पर किया है, वह कितना मारक है 'हमने पूछा, 'भविष्य के लिए आप क्या स्वप्न देखती हैं? बोली पहले हम पर दर्जनों मुकदमे लगेंगे। रोज़-रोज़ उसकी चटपटी मसालेदार ख़बरें अख़बारों में छपेंगी। फिर कोई राजनीति का धुरंधर पूत हमें पैरोल पर जेल से निकालेगा, अपनी पार्टी में भर्ती करेगा, चुनाव लड़ने के लिए टिकट देगा। हम चुनाव-मैदान में उतरेंगे। दुनिया-भर की कुरूप नारियाँ हमारे साथ होंगी। हम जीतकर एम.पी. बनेंगी। कोई माई का लाल हम पर फ़िल्म बनाएगा, कोई माई का लाल हम पर पुस्तक-पोथी रचेगा। नाम मिलेगा, ख्याति मिलेगी, पैसा मिलेगा, सत्ता मिलेगी, क़ानून से ऊपर उठ जाएँगे। हम परिवार में रहते तो क्या मिलता। कोयल से कोयला कहलाते और कोयले की तरह जल-जलकर राख हो जाते।' [3]

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के रंगमंच पर भी गुप्त रूप से अनेक भ्रष्ट और आतंकवाद उत्पन्न करने वाले खेल खेले जाते हैं। ऐसा एक खेल कीलर कांड के रूप में हुआ, जिसमें कई देशों के सिरमौर नेताओं और राजनायिकों के हाथ रंगे हुए हैं। एक नारी ने कई बड़े-बड़े दिग्गजों को धराशायी कर दिया। सबके-सब उसके रूप-जाल में फँस गए। कई नेताओं के छक्के छूट गए। इंग्लैंड में तत्कालीन प्रधानमंत्री पाक के शासक आयूब ख़ान और उनके साथ विश्व के अन्य शीर्षस्थ नेताओं का इसमें भंडाफोड़ हुआ।

पाकिस्तान में सत्ता का तख़्ता इस ख़ूबी से पलटा गया कि किसी को कानों-कान ख़बर न हुई। प्रातः जब समाचार-पत्रों में यह ख़बर सुर्ख़ियों में छपी तो लोग देखते ही रह गए। वहाँ जनतंत्र के स्थान पर सैनिक शासन हो गया। भारत-पाक संबंधों की राजनीति किसी से छिपी नहीं है। 1947 में जब भारत आज़ाद हुआ है और भारत और पाक दो देश बने, तबसे ही इन दोनों देशों का कश्मीर राज्य को लेकर शीतयुद्ध चल रहा है। न जाने कितना धन इस पर ख़र्च हो चुका है। पाक कश्मीर में आतंकवाद की राजनीति को खेल बनाकर खेल रहा है। भारत इस खेल से त्रस्त है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इस मामले का राजनीतिकरण हो चुका है। अमेरिका व ब्रिटेन जैसे देशों ने इन दोनों के मध्य सुलह करवाने का प्रयास किया है। परंतु दोनों देशों के बीच सुलह होने के बाद यह मामला और बिगड़ता जा रहा है। पाक आतंकवादी गतिविधियाँ बढ़ाने व भारत में असुरक्षा की भावनाएँ उत्पन्न करने के खेल खेल रहा है। भारतीय नागरिकों में तरह-तरह के भटकाव, बदलाव, डर, भय आदि उत्पन्न कर उन्हें देश के विरुद्ध भड़काने का प्रयास कर रहा है।

भारत-पाक के प्रथम युद्ध में भारत की जान-माल की अपार हानि हुई और कश्मीर की कुछ ज़मीन हथिया ली, जिस पर आज तक उसका कब्ज़ा है। ताशकंद संधि हुई, लेकिन मामला ज्यों-का-त्यों है। पाक और चीन ने साठ-गाँठ की और दोनों देशों ने भारतीय सीमाओं

पर अपनी सैनिक गतिविधियाँ बढ़ा दीं। इतना ही नहीं, कारगिल युद्ध हुआ। उसमें पाक ने मुँह की खाई, लेकिन उसके बाद भी अपनी निम्न हरकतों से बाज़ नहीं आ रहा है, आतंकवादी गतिविधियाँ दिन-प्रतिदिन बढ़ाता जा रहा है। मुंबई बमकांड, ताज होटल कांड, दिल्ली में शृंखला बम विस्फोट पाक की बदौलत हुई है। दरअसल, इसके पीछे हमारी अपनी राजनीतिक स्थिति है और प्रशासकों अधिकारियों की देशभक्ति के प्रति उदासीनता है। आज हमारा देश बड़ी ही विषम परिस्थितियों से गुज़र रहा है। इस बात को व्यंग्यकार डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने भी स्वीकारा है और लेखनीबद्ध भी किया है–

देश की स्थितियाँ
बहुत विषम हैं
यह जानना बहुत ज़रूरी है
उनके कर्मचारी
कितने सक्षम हैं। [4]

बाह्य ताक़ते ही नहीं, बल्कि देश के भीतर भी देश के अपने नागरिक भी देश में आतंकवाद फैला रहे हैं। सरकारी उद्योग-धंधों में बरती गई लापरवाही, यूनियनबाज़ी और शोषण भी तो आतंकवाद ही है। देश के सौंदर्य को धक्का मारना कहाँ की देशभक्ति है। जनता कितनी चिल्लाए, शोर शराबा मचाए, लेकिन अधिकारियों के कान पर जूँ नहीं रेंगती। फिर भी वे लोग तोड़-फोड़ पर उतारू हो जाते हैं। लाठी-चार्ज किया जाता है। ये सब आतंकवाद ही तो है।

सरकारी तंत्र में बढ़ती लालफ़ीताशाही से जनता त्रस्त है। कोई भी कार्य समय पर पूरा नहीं होता। चुनाव के दिनों में राजनेताओं के द्वारा खुला आतंक मचाया जाता है। 'बूथ कैप्चरिंग' नक़ली मतदान व वोटों की गिनती में धाँधलियाँ आदि आम बात हो गई हैं। मतदाता परेशान हैं और यदि यूँ कहा जाए कि वह मजबूर है कि उसे उन आतंकवादियों को मत देना ही होता है। अरे! अपनी, अपने परिवार की सुरक्षा के लिए वह क्या करेगा! आतंकवादियों को मत नहीं देगा तो क्या अपने बच्चों को जीवन की पहली सीढ़ी पर ही हथियारों के बीच ले जाकर छोड़ देगा या उनका बलिदान कर देगा। जान-बूझकर एक समझदार नागरिक भला ऐसा क्यों करेगा।

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने चुनावी आतंकवाद पर प्रकाश डालते हुए लिखा है– 'होशियारसिंह मंच पर आए, रायफ़ल माइक से टिकाकर रखी और भाषण जारी किया, भाइयो और भाभियो।' अभी वह बात शुरू भी नहीं कर पाए थे कि पूर्व-दिशा में बैठे श्रोताओं के बीच से आवाज़ उठी 'होशियार सिंह ज़िंदाबाद, होशियारसिंह ज़िंदाबाद।' [5]

आज पंचशील की प्रभावहीनता पर व्यंग्य किया जा रहा है। बहरा व्यक्ति सुन नहीं सकता, अंधा देख नहीं सकता, लँगड़ा भाग नहीं सकता, लूला हाथ नहीं चला सकता, नंगे के पास है ही क्या जो उसे लूटो। इस प्रकार पंचशील का सिद्धांत लँगड़ा, बहरा, अंधा, लूला और नंगा हो गया है, जो कि उसकी निरर्थकता को सिद्ध करता है।

भारत जैसे विकासशील देश में जहाँ राजनेताओं की देशभक्ति की अति ज़रूरत है, वहाँ इन राजनेताओं में देशभक्ति के स्थान पर स्वयं भक्ति की भूख जाग गई है। वे स्वयं के लिए कुर्सी पर बैठते हैं। देशवासियों के लिए उन्हें कोई सरोकार नहीं रह गया है। अभी देश को विकसित करने के जो स्वप्न सँजोए जा रहे हैं उनके साकार होने में काफ़ी दूरी है। भारत

में अभी इतनी ग़रीबी है कि व्यक्ति ईमानदारी से कार्य करने पर दो जून की रोटी नहीं जुटा पाता और उससे अपेक्षा की जाती है राष्ट्रभक्ति की, तो वह राष्ट्रभक्त कैसे हो सकता है! साथ ही जब वह यह भी जानता है कि यदि बेईमानी या ग़ैरक़ानूनी कार्य करते हुए पकड़ा गया तो जेल में उसे दो वक़्त की रोटियाँ बैठे-बैठे मिल जाएँगी तो फिर वह कोई न कोई ऐसा कार्य क्यों न करें। इससे आतंकवाद का जन्म नहीं होगा तो और क्या होगा! इस सबके लिए ज़िम्मेदार हैं भारतीय नेता। इन नेताओं की आलोचना, भर्त्सना समय-समय पर भारतीय संस्कृति के अनुपालक व्यंग्यकारों द्वारा की जाती है। लेकिन यह केवल मनोरंजक वस्तु बनकर रह जाती है। भारतीय नेता अब चिकने घड़े बने उन व्यंग्यों और चुटिली बातों पर हँसते हैं, ठहाका मारते हैं तथा अपनी जेब भरते रहते हैं। आज के नेता बाह्य वेशभूषा से तो सफ़ेदपोश बनकर शांतिदूत और दूध से धुले जान पड़ते हैं, लेकिन अंदर से इनके काले इरादों को जानना मुश्किल ही नहीं, बल्कि नामुमकिन है।

नेताओं ने छात्रों में भी इस तरह के विचार भर दिए हैं कि वे भी बात-बात पर आक्रोश से भर जाते है और अपनी माँगें मनवाने के लिए तरह-तरह के रास्ते अख़्तियार करते हैं। इस विषय पर भी डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने खुलकर व्यंग्य किया है–'... इसी बीच ख़बर मिली कि हरिजन छात्रों ने पुलिस थाने का घेराव किया, पत्थर फैंके, जिस पर पुलिस को विवश होकर हलका बल प्रयोग करना पड़ा। लोग सच्चाई जानने के लिए पुलिस स्टेशनों के फ़ोन पर फ़ोन खड़खड़ाने लगे।' [6]

इतना ही नहीं, आम आदमी भी आतंकवाद पर उतर आया है। सरकार ने रेल-दुर्घटना में मरने वाले व्यक्तियों को 50 हज़ार रुपए देने की घोषणा की है। बिना टिकट यात्रा करने पर कोई दंड नहीं दे सकता। ऐसा नहीं कि कोई क़ानून नहीं है। बल्कि क़ानून होने के बाद ग़ैरक़ानूनी तरीक़े हैं। बिना टिकट यात्री जहाँ चाहा वही जंज़ीर खींचकर रेलगाड़ी रुकवा लेते हैं और चलते बनते हैं। टी॰टी॰ के टिकट माँगने पर उन्हें चाकू दिखाया जाता है। इस प्रकार रेलों में दिन-प्रतिदिन बढ़ते भ्रष्टाचार का चित्रण किया गया है। रेलगाड़ी में ज़ंजीर खींचकर आजकल लूट-पाट करने चले आते हैं। लूट-पाट करके चले जाते है और पुलिस प्रथम श्रेणी के डिब्बे में आराम फरमाती रहती है।

नेता लोग हस्तक्षेप इसलिए नहीं करते, क्योंकि इससे आम जनता की नाराज़गी का कोप उन्हें भोगना पड़ेगा। जिसे वे किसी भी क़ीमत पर नहीं भोगना चाहते। वे इस तरह की घटनाओं से त्रस्त लोगों को यह कहकर शांत कर देते हैं कि वे इस पर सख़्त कार्यवाही करेंगे। कार्यवाही की नहीं, जाती बल्कि आश्वासन देकर उन्हें शांत कर दिया जाता है।

हिंदीभाषा को राष्ट्रभाषा बनते कितना लंबा समय हो गया है। हर पाँच वर्ष बाद होने वाले चुनावों में यह भाषा का राष्ट्रभाषा बनाना चुनावी मुद्दा होता है। नेताओं को कुर्सी मिलते ही उनके विचार बदल जाते हैं तथा वायदे भुला दिए जाते हैं। क्योंकि ऐसा करने से नेताओं की कुर्सी छिन जाने का डर रहता है। परिणामतः आज तक हिंदी को पूर्ण राष्ट्रभाषा का दर्ज़ा नहीं मिल सका है और शायद मिलेगा भी नहीं। इस कुर्सी के मोह ने हिंदी के प्रबल समर्थकों का मुँह बंद कर दिया है। राजनेताओं ने कुर्सी को बनाए रखने के लिए संविधान में परिवर्तन लाकर अँग्रेज़ी को अनिश्चित काल तक सह-सरकारी भाषा बना दिया है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल ने राष्ट्रीय से लेकर अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं का विशद् विवेचन अपने व्यंग्य-साहित्य में किया है। अग्रवाल के व्यंग्य में जहाँ हास्य के कारण मनोरंजन है, वहीं चुटीले कटाक्षपूर्ण वक्रोक्तिपूर्ण होने के साथ-साथ वे सोद्देश्य भी हैं। उन्होंने जनता और राजनेताओं दोनों को ही अच्छी तरह देखा है, समझा है। उनकी दृष्टि में जनता और राजनेता दोनों ही व्यंग्य से आहत हुए हैं। व्यंग्य-बाणों का सर्वाधिक शिकार राजनेजाओं को बनाया गया है, क्योंकि उनके व्यवहार में सबसे अधिक विसंगतियाँ हैं। उनके बाह्य और आंतरिक रूपों में पर्याप्त भिन्नता है। देश में व्याप्त भ्रष्टाचार, व्यभिचार, पक्षपात की नीति, भाई-भतीजावाद, कुर्सी की राजनीति आदि कोई भी विसंगत स्थिति ऐसी नहीं, जो डॉ॰ अग्रवाल के व्यंग्य का विषय नहीं बनी हो। हड़ताल धरना, घेराव, अनशन, लाठी-चार्ज, आतंकवाद सभी रूपों को उन्होंने अपने साहित्य में स्थान दिया है। डॉ॰ अग्रवाल ने उन नेताओं को भी नहीं छोड़ा, जो गिरगिट की भाँति रंग बदलते हैं। उनकी अवसरवादिता उनके व्यंग्य-बाणों के प्रहारों से बच नहीं सकी है। दल-बदल की नीति से राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण बना हुआ है। इस पर भी डॉ॰ अग्रवाल की लेखनी सफलतापूर्वक एवं स्पष्टतापूर्ण ढंग से चली है। राजनीति के क्षेत्र में चमचागिरी प्रवेश पा गई है, जिससे वास्तविकता पर पर्दा पड़ गया है। डॉ॰ अग्रवाल ने इस पर्दे को अनावृत कर जनता के समक्ष सच्चाई उपस्थित कर दी है। आज सरकार की अधिकांश योजनाएँ केवल काग़ज़ों तक ही सीमित हैं, जो क्रियान्वित भी की जाती हैं तो भी अंतर्निहित भ्रष्टाचार के कारण अपेक्षित जनहित नहीं कर पातीं।

प्रशासन की लालफ़ीताशाही, पुलिस की बर्बरता, नेताओं की खोखली नारेबाज़ी, वायदा परोशी, आम जनता का आतंकवाद व असुरक्षा की भावना को स्पष्ट व सरलता से जन-जन तक पहुँचाने के लिए डॉ॰ अग्रवाल ने जो व्यंग्य-रचनाएँ लिखी हैं, वे वास्तव में समाज का दर्पण हैं।

संदर्भ

1. डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, 1997 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ, पृ॰ 88
2. वही, पृ॰ 89
3. वही, पृ॰ 91
4. डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, मेरी हास्य-व्यंग्य कविताएँ, पृ॰ 67
5. डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, 1995 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ, पृ॰ 114
6. डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, 1991 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ, पृ॰ 112

पद्मावत में सांस्कृतिक जीवनमूल्य

कु॰ शाहिना, शोधछात्रा

संस्कृति में समाहित संस्कारभाव के आधार पर निर्धारित किए गए अर्थ के अनुसार सुधारने या परिष्कृत करनेवाले कर्म ही संस्कृति हैं। इनके द्वारा निर्धारित जीवनमूल्य उन आदर्शों का रूप ग्रहण करते हैं, जो वास्तविक जीवन के लिए प्रेरणा-स्रोत बनते हुए उत्कृष्ट उपलब्धियों का सृजन करते हैं। इनमें व्यापक कल्याणवादी गुणवत्ता तथा मानव-जीवन का अभ्युदय करनेवाले भौतिक योग-क्षेम भी स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। हिंदी-साहित्य का भक्तिकाल मानव जीवन की व्यापक समृद्धि का काल है। इस काल में जीवन के सभी आदर्श आध्यात्मिक पराकाष्ठा पर पहुँच गए थे, जोकि सूफ़ी कवियों में भी यथेष्ट मात्रा में विद्यमान हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार– 'सूफ़ियों के प्रेम-प्रबंधों में खंडन-मंडन की बुद्धि को किनारे रखकर मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने का ही प्रयत्न किया गया है, जिससे इनका प्रभाव हिंदुओं और मुसलमानों पर समान रूप से पड़ता है। बीच-बीच में रहस्यमय परोक्ष की ओर जो मधुर संकेत मिलते हैं, वे बड़े हृदयग्राही होते हैं। कबीर में जो रहस्यवाद मिलता है, वह बहुत-कुछ उन पारिभाषिक संज्ञाओं के आधार पर है, जो वेदांत और हठयोग में निर्दिष्ट है। पर इन प्रेम-प्रबंधकारों ने जिस रहस्यवाद का आभास बीच-बीच में दिया है, उसके संकेत स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी हैं। शुद्ध प्रेममार्गी सूफ़ी कवियों की शाखा में सबसे प्रसिद्ध जायसी हुए, जिनका महाकाव्य 'पद्मावत' हिंदी-काव्यक्षेत्र में एक अद्भुत रत्न है' [1] इसमें निहित सांस्कृतिक जीवनमूल्य हैं–ईश्वर की सर्वव्यापकता, सत्य का महत्त्व, दान का महत्त्व, उच्चता का महत्त्व, नारी का महत्ता, नारी की पतिपरायणता, परमसत्ता का अलौकिक निवास इत्यादि। संस्कृति मानव-जीवन का आत्मविश्वास से प्रेरित श्रेष्ठ और सजीव रूप है। हमें अपने भूतकालीन साहित्य से आत्मत्याग और मानव-सेवा का आदर्श ग्रहण करना चाहिए। अपनी कला में आध्यात्म भावों की प्रतिष्ठा एवं सौंदर्य-विधान के अनेक रूपों और अभिप्रायों को पुनः स्वीकृति देनी होगी। अपने दार्शनिक विचारों में समन्वय, मेल-जोल, समुदाय और संप्रीति के जीवनमंच की शिक्षा के दृष्टिकोण को अपनाना होगा। यह दृष्टिकोण विश्व के भावी संबंधों का नियामक कहा जा सकता है। हमें अपने उच्चाशय वाले धार्मिक सिद्धांतों का सार ग्रहण करना होगा। धर्म का अर्थ संप्रदाय या मत-विशेष का आग्रह नहीं है। महाकवि जायसी ने भारतीय जनजीवन में व्याप्त सांस्कृतिक मान्यताओं एवं धारणाओं का सम्यक् निरूपण पद्मावत में किया है। उन्होंने इस महाकाव्य में उन सांस्कृतिक जीवनमूल्यों का पर्याप्त विवेचन किया है, जो कि भारतीय लोक-जीवन में श्रेष्ठता और उच्चता के प्रतीक माने जाते हैं। इनका विवेचन निम्नलिखित है–

1. ईश्वर या ब्रह्म की सर्वव्यापकता :

भारतीय जनमानस दृढ़तापूर्वक ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता पर विश्वास करता है। वह परमपिता परमेश्वर घटघट में समाहित है, सभी जगह विराजमान है। कहीं उसकी सत्ता प्रकट होती है तो कहीं अलक्षित रहती है। जायसी ने लिखा है–

अलख अरूप अबरन सो करता। वह सब सों सब, अब ओहि सो बरता।
परगट गुपुत सो सरबबिआपी। धरमी चीन्ह, चीन्ह नहिं पापी।
ना ओहि पूत न पिता न माता। ना ओहि कुटुंब न कोई संग नाता
जना न काहु न कोई ओहि जना। जहँ लगि सब ताकर सिरजना। [2]

डॉ॰ गोविंद त्रिगुणायत का कथन है कि ‘सूफ़ियों का आराध्य प्रियतम होने के कारण सगुण होते हुए भी निर्गुण रूप रहा है। इसी प्रकार योगियों का ब्रह्म निर्गुण सगुण रूप है। उन्होंने कभी तो उसे पुरुषरूप कहकर सगुणरूप में व्यंजित किया है और कभी अलख अरूपादि कहकर निर्गुण रूप में। जायसी के ब्रह्म के अभिधानों के संबंध में यह बात बड़े महत्त्व की एवं ध्यान देने-योग्य है कि उन्होंने इस्लाम के अनुरूप अपने परमात्मा की व्याख्या करते हुए भी कहीं पर उसे इस्लामी नामों से अभिहित नहीं किया। ऐसा लगता है कि वे पाठकों के समक्ष अपना मुसलमान का रूप व्यक्त नहीं करना चाहते थे। [3] उपनिषदों का सर्वाव्यवाद, हठयोग, वेदांत तथा सूफ़ी-दर्शन का स्पष्ट प्रभाव जायसी की ईश्वर या ब्रह्म की सर्वव्यापकता-संबंधी अवधारणा में परिलक्षित होता है।

2. सत्य का महत्त्व :

भारतीय जनजीवन में सत्य का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। जायसी ने भी सत्य की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि ‘जहाँ सत्य है वहाँ धर्म साथी होता है यह सृष्टि सत्य है। वहाँ साहस से तुरंत सिद्धि मिलती है। जो सत्यवादी है सत्-पुरुष कहलाता है। अपने सत्य-भाव की रक्षा के लिए सती चिता सँवारती है और चारों ओर आग जलाकर सत्य के बल पर जलकर भस्म हो जाती है। सत्य की रक्षा करनेवाला दोनों लोकों में तर जाता है। भगवान को भी सत्य बोलनेवाला ही प्यारा है। धर्म का नाश करनेवाला ही सत्य को छोड़ता है–

होई मुख रात सत्त की बाता। जहाँ सत्त तहँ धर्म संघाता।
बाँधी सिष्टि अहं सत केरी। लखिमी आह सत्त की चेरी।।
सत्य जहाँ साहस सिद्धि पावा। जो सतवादी पुरुष कहावा।
सत कहँ सती सँवारे सरा। आगि लाइ चहुँदिसि सत जरा।
दुई जग तरा सत्त जेई राखा। वो पिखारि दे अहि सत भाखा।
सौ सत छाँड़ि जो धरम बिनासा। का मति हिएँ कीन्ह सत नासा। [4]

3. दान का महत्त्व :

भारतीय जनजीवन में दान को अत्यधिक उत्तम कार्य बतलाया गया है, जायसी ने दान के विषय में लिखा है कि ‘संसार में उसी का जीवन और प्राण धन्य है, जो बड़ा दानी है। दान, जप, तप से भी महान है। दान के समान जग में कुछ नहीं है, एक देने पर उससे दस गुना लाभ मिलता है। दान के कारण उसका मुँह सभी देखना चाहते हैं। दान दोनों लोकों में काम

आता है। यहाँ जो दान दिया है। वही वहाँ परलोक में मिलता है। दान के दीपक से परलोक में भी उजाला होता है। जहाँ दान का दीपक नहीं है। वहाँ सदैव अँधेरा रहता है। दान का दीपक रात के समय घर में उजाला करता है। यदि कोई दान नहीं देता तो उसका धन चोर चुरा ले जाते हैं। हातिम और कर्ण दान के कारण ही आज भी धर्मात्माओं में गिने जाते हैं। जो यहाँ दान नहीं देते हैं, वे ही अपने मार्ग को निर्बल बनाते हैं। यहाँ कोई कुछ अपने साथ नहीं ले जाएगा, किंतु दान परलोक में भी उसके साथ जाएगा–

हानि जीवन और ताकर जिया। उँच जगत मँह जाकर दिया।
दिया सौ सब जप, तप अपराही। दिया बराबर जग किहु नाही।
एक दिया तेइ दसगुण लाहा। दिया देसि धरमी मुख चाहा।

हातिम करम दिया जौ सिखा। दिया अहा धरमन्हि मह लिखा।
निमल पंथ कीन्ह तिन्ह जिन्ह रे दिया कछु हाथ।
किहु न कोई लै जाइहि दिया जाइ पै साथ। [5]

4. **उच्चता का महत्त्व :**

भारतीय संस्कृति में सदैव उच्चता को महत्त्व प्रदान किया गया है और कहा गया है कि मानव को सदैव उच्चता की ओर ध्यान देना चाहिए। जायसी ने भी कहा है कि मानव को सदैव ऊँचा बनने का प्रयास करना चाहिए। ऊँचा साहस करना चाहिए, दिन-प्रतिदिन ऊँचे ही पैर बढ़ाते जाना चाहिए। सदैव उच्च ड्योढ़ी का सेवन करना चाहिए अर्थात् उच्च विचारवाले पुरुषों से सत्संग करना चाहिए, ऊँचे से ही व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि ऊँचे पर चढ़ने से ऊँचा खंड ही दिखाई देता है और ऊँचे के पास बैठने से ही बुद्धि भी ऊँचे विचारों को समझने लगती है। इसीलिए सदैव ऊँचे की संगति करनी चाहिए और उच्च कार्यों के लिए प्राणों की बलि भी दे देनी चाहिए। यदि ऊँचे पर चढ़ते हुए कोई गिर भी पड़े तो भी ऊँचे को कभी छोड़ना उचित नहीं है–

सदा ऊँच सेइअ पै बारू। ऊँचे सौ कीजै वेबहारू।
ऊँचे चढ़े ऊँच खंड सूझा। ऊँचु पास आचि बुधि बूझा।
ऊँचै संग संग निति कीजै। ऊँचे काज जीव बलि दीजै।
दिन-दिन ऊँच होई सो जेहि ऊँचे पर चाउ।
ऊँचे चढ़त परिऊ जो, ऊँच न छाड़िय काउ। [6]

5. **धन की निंदा :**

ऐसा विश्वास किया जाता है कि धन से मानव पतन के गर्त में जा पड़ता है, इसलिए भारतीय संस्कृत में धन की बड़ी निंदा की गई है। जायसी ने भी धन की निंदा करते हुए लिखा है 'धन से अहंकार होता है और लोभ बढ़ जाता है। लोभ विष की जड़ी है। उससे मनुष्य में दान की प्रवृत्ति नहीं रहती और सत्य भी दूर चला जाता है। दान और सत्य दोनों भाई हैं। जब दान नहीं रहता तो सत्य भी चला जाता है। जहाँ लोभ है, वहाँ पाप उसका साथी होता है। लोभी आदमी औरों की धरोहर इकट्ठी करके मर जाता है, इसलिए सिद्ध पुरुषों ने धन को आग कहा

है। कोई उसमें जल जाता है, कोई इसे जलाकर तापता है। इस प्रकार धन किसी के लिए चाँद और किसी के लिए राहु हो जाता है। वह किसी के लिए अमृत और किसी के लिए विष हो जाता है–

देख त गरब लोभ बिख मूरी। दत्त न रहै सत्त होई दूरी।
दत्त सत्त एइ दुनौ भाई। दत्त न रहै सत्त पुनि जाई।
जहाँ लोभ तहं पाप सघाती। सचि कै मरै आन के थाती।
सिद्धंत हरब आगि कै थापा। कोई जरा जारि कोई तापा।
काहू चाँद काहू भा राहू। काहू अंत्रित बिख भी काहू। [7]

परंतु अधिकतर मनुष्य धन के मद में ऐसे अंधे हो जाते है कि वे लोभ और अहंकार के शिकार धन की ही प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि धन से धर्म, कर्म और राज होता है। धन से मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होती है। धन से धरती और आकाश खरीदे जा सकते हैं। धन से स्वर्ग हाथ आ जाता है। धन से अप्सराएँ पास से नहीं हटतीं। धन से गुणहीन व्यक्ति गुणवान बन जाता है। कुबड़ा रूपवान हो जाता है और धरती में गड़े हुए ललाट चमकता है तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

दिरब ते धन करम औ राजा। दरब त सुद्धि बुद्धि बल गाजा।
दिरब ते गरब करै जौ चाहा। दरब त धरती सरग बेसाहा।
दिरब ते हाथ आव कविलास। दरब त आहरि छाड़ि न पास।
दिरब ते निरगुन होई गुनवता। हरब त कुबुज हाइ रूपबता।
दिरब रहै भुइं दिपै लिलारा। अस मनि दरब देह की पारा। [8]

परंतु धन के मद में अंधा व्यक्ति यह भूल जाता है कि यह धन किसी का अपना नहीं हुआ यह तौ पिटारे में मूँदा साँप है–

'भएउ न काहू आपनि मूँद पिटारे साँप' [9]

6. नारी की पतिपरायणता एवं महत्ता :

भारतीय संस्कृति में नारी की पतिपरायणता उल्लेखनीय है। यहाँ एक पत्नी अपने पति के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देती है भारतीय पत्नी अपने पति के अतिरिक्त किसी परपुरुष को अपना बनाने की बात स्वप्न में भी नहीं सोचती। इसलिए जायसी ने ऐसी पतिपरायणा नारी पद्मावती का चित्र अंकित करते हुए बताया है कि कुंभल नरेश देवपाल की दूति कुमुदिनी देवपाल की प्रशंसा करके पद्मावती को बहकाने के लिए आती है और उसे अपना पति बनाने का आग्रह करती है, तब उसके वचन पद्मावती के हृदय में अंगारे के समान लगते हैं। वह कहती है कि जो अपना छोड़ पराए की ओर झुकती है, उस स्त्री के रचे हुए रंग को मैं जलाने योग्य समझती हूँ। जो पर-पति को अपना बनाती है, वह दो राहों पर चलती है। एक आसन पर कभी दो राजा नहीं बैठ सकते अर्थात् हृदय के आसन पर कभी दो प्रेमी नहीं बैठ सकते। जिस दिन हृदय में प्रेम की प्रीत हो, वही दिन सुहाग सुख से पूर्ण होता है। चाहे यौवन बीत जाए और ये काले केश भी चले जाएँ, जिनको प्रियतम ने स्पर्श न किया हो। मेरा यौवन वहीं है, जहाँ मेरा प्रियतम है। यह यौवन और जीवन उसकी बलि होकर उन्हीं को सौंपती हूँ। भरथरी

के वियोग में पिंगला रानी ने आह करते हुए प्राण त्याग दिए। वह प्रियतम के बिना अभी तक जीवित है। यही उसका भारी अपराध है–

कुमुदिनी बैन सुनाए जरे। पदुमिनि हिय अँगार जस परे।
रंग ताकर है जारौ रचा। आपन तजि जौ पराए लचा।
दोसर करै जाइ दुह बारा। राजा दुई न होइ एक यारा।

भरथ बिछोह पिंगला आहि करत जिय दीन्ह।
हौं विसारि जौ जियत हौं यहै दो बहु कीन्ह। [10]

भारतीय संस्कृति में नारी को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है। भारतीय समाज में काई भी पति अपनी पतिपरायण नारी को किसी दूसरे पुरुष को देने की स्वीकृति नहीं देता। यदि कोई कष्ट देकर बलपूर्वक किसी पुरुष से उसकी पत्नी चाहता है तो वह पुरुष मर जाना पसंद करता है, परंतु अपनी पत्नी को किसी पर-पुरुष की अंकशायिनी बनने नहीं देता। जायसी ने राजा रतनसेन के संबंध में ऐसा ही चित्रण करते हुए कहा है कि बादशाह अलाउद्दीन ने उसे पकड़कर बंदीखाने में डाल दिया। उसे गड्ढा खोदकर दबाया गया। प्रतिदिन उठने पर उसके शरीर पर नौ निशान दागे जाते हैं। उसे तुंग अँधेरी कोठरी में रखा गया। बिच्छू और साँप से कटाया गया, डोम लोग उसके शरीर में बाँका चुभोते थे, गर्म सँड़ासियों से दागते थे और अनेक यातनाएँ देते हुए कहते थे कि यदि छुटकारा पाना चाहते हो तो अब भी पद्मिनी देना स्वीकार कर लो। परंतु राजा ने चुप्पी साध ली और मृत्यु के लिए मन को तैयार कर लिया, लेकिन पद्मिनी स्वीकृति नहीं दी–

पुनि चलि दुई जन पूछे आए। ओहि सुढि दगध आइ देखराए।
तू मरपुरी न कबहुँ देखी। छाड़ जो बिथुरै देखि न लेखी।

जरसि मरसि अब बाँधो तैस लाग तोहि दोख।
अबहि मानु पद्मिनी जौ चाहसि भा मोख।

पूछैन्हि बहुत न बोला राजा। लीन्हेसि चूपि मीचू मन साजा। [11]

7. शठ के प्रति भी भलाई :

प्राय: नीति ऐसी है कि 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' अर्थात् शठ के साथ शठता का बर्ताव करना चाहिए। जो जैसा करे उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, परंतु भारतीय संस्कृति इसके विपरीत है। भारतीय संस्कृति में शठ और मंद के साथ भी भलाई करने का भी उपदेश दिया गया है। इसलिए जायसी ने लिखा है कि जब गोरा-बादल राजा रत्नसेन को बादशाह अलाउद्दीन के साथ छल-कपट का व्यवहार करने के लिए सलाह देते हैं तो राजा को वह बात सुनकर मन में अच्छी नहीं लगती और वह यह कहता है– हे भाई, जहाँ मेल है, वहाँ ऐसा नहीं होता। मंद के साथ जो भला करे वही भला है। अंत में भले का भला होता है। यदि शत्रु को भी विष देकर मारना चाहे तो अपनी ओर से उससे सुंदर व्यवहार भी करना चाहिए। विष देने से शत्रु विषधर बनकर खाने आता है, किंतु शिष्टाचार देखकर स्वयं नमक होकर गल जाता है। खड्ग से मारने पर शत्रु भी हाथ में खड्ग ले लेता है, पर शिष्टाचार से मारने पर झुका देता

है। कौरवों ने जो पांडवों को विष दिया तो अंत का दाँव पांडवों के हाथ में ही रहा। अतः छल करने वाले को छल ही प्राप्त होता है–

सुनि राजा हियँ बात न भाई। जहाँ मेरू तहँ अस नहिं भाई।
मंदहि भल जौ करै भलु सोई। अंतहु भला भले कर होई।
सतुरु जौ दिख दै चाहै मारा। दीजै लौन जानु बिखसारा।
दिख दीन्है बिखधर होई खाई। लोन देखि होई लोन तिलाई।
मारे खरेमा खरँग कर लेई। मारै लोन लाइ सिर देई।
कौरव विख जौ पंडवन्ह दीन्हा। अंतहु दाव पंडवन्ह लीन्हा।
जो छर करै आहि छर लाजा। जैसा सिंघ मंजूसा साजा।
राजा लोनु सुनावा लाग दुहु जस लोन।
आए कोहाइ मन्दिल कह सिंध जानु औगौन।[12]

८. **सौंदर्य-संबंधी धारणा :**

भारतीय जनजीवन में नारी और पुरुष के सौंदर्य की एक परंपरागत धरणा पाई जाती है। सौंदर्य-संबंधी धारणा यहाँ के सांस्कृतिक मूल्य की ही द्योतक है। इसी धारणा को आधार मानकर जायसी ने पद्मावती के सौंदर्य का चित्रण करते हुए लिखा है कि पद्मावती के कस्तूरी जैसे काले-काले केश विषधर साँपों जैसे थे। उसकी माँग कसौटी पर खिंची हुई कंचन की रेखा के समान थी। उसकी भौंहें तने हुए धनुष के समान, उसके नेत्र मुँहज़ोर घोड़ों के जैसे थे और काली पुतलियाँ भौरों के तुल्य थीं, उसकी बरौनियाँ ऐसी थीं, मानो दो सेनाएँ आमने-सामने वाण ताने हों। उसकी नासिका खड्ग और सुग्गे की नाक से भी बढ़कर थी, उसके लाल-लाल अधर बिंबाफल और बंधूक के पुष्पों के तुल्य थे। उसके दाँत हीरे से भी अधिक उज्ज्वल, दामिनी से भी अधिक दीप्यमान तथा अनार के दानों से भी बढ़कर थे। उसकी रसना इतनी मधुर वाणी से पूर्ण थी कि कोकिल और चातक भी उसकी समता नहीं कर पाते थे। उसके सुंदर लाल कपोल नारंगी के दो अनमोल खंड के समान थे, उसके दोनों कान सीपियों के तुल्य थे, उसकी ग्रीवा क्रौंच पक्षी के सदृश थी, अथवा मोरनी से ली गई थी। उसकी ग्रीवा के आगे मोर, कबूतर और कुक्कुट की ग्रीवा भी तुच्छ प्रतीत होती थी, उसकी दोनों भुजाएँ और कलाई सुवर्ण के दंड की तरह थीं। वे कदलि खंभों और पद्मनाल से भी सुंदर प्रतीत होती थीं। उसके दोनों कुच सोने के दो उभरे हुए कटोरे के तुल्य थे। उसका पेट ऐसा सुकुमार था मानो पत्ते पर चंदन का लेप लगाया गया हो, रोमावली काली नागिन तुल्य थी। उसकी पीठ मलयगिरि चंदन से सुसज्जित थी। उसकी नाभि समुद्र के भ्रमर की भाँति गंभीर थी। उसकी जाँघ अति सुहावनी ऐसी लगती थी मानो केले के खंभ उलटकर रख दिए हों। उसके चरण कमल विशेष रूप से अत्यंत लाल और सुंदर थे। उसकी गजगति देखकर सब लुभा जाते थे–

प्रथम सीस कस्तूरी केसा। बलि बासुकि कौ औरू नरेसा।
भँवर केश वह मालतिरानी। बिस्तर लुरहि लेहि अरधानी।
बरनौं माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अवहि चढ़ा तेहि नाहीं।
बिनु सेंदुर अस जानहु दिया। अजिअर पंथ रैनि महकिया।
कंचन रेस कसौटी कसी। जनु धन मह दामिनी परगसी।

सुरुज किरिन जस गगन विसैखी। जमुना माँझ सरसुती देखी।

भौहें स्याम धनुकु जनु ताना। जासौ देख मार विख बाना।
नौन बाँक सरि पूज न कोउ। मान समुद्र अस उलथहि दोउ।

आवत तीर जाहि फिरि काल भँवर तेन्ह संग। [13]

9. **योग से सिद्धि की प्राप्ति :**

भारतीय जनमानस में यह विश्वास दृढ़तापूर्वक समाया हुआ है कि यहाँ योग की साधना द्वारा व्यक्ति अवश्य सिद्धि प्राप्त करता है अर्थात् जो योग की साधना करता है, उसे सिद्धि का पुल निश्चित रूप में मिलता है। इसी से प्रभावित जायसी ने राजा रत्नसेन को माया-मोह का परित्याग करके योग-साधना के लिए सिंहलद्वीप जाते हुए दिखाया है। उसके साथ सोलह सहस राजकुमार योगी होकर जाते हैं। सभी सुख-दुख त्यागकर, वियोगी होकर नगर, गाँव, घर, दुर्ग संपत्ति और कुटुंब आदि सब-कुछ छोड़कर जाते हैं। रतनसेन की एकमात्र सिद्धि पद्मावती है। वह उसी का स्मरण करते हुए जाता है–

निकसा राजा सिंगी पुरी। झाड़ि नगर मेला होई दुरी।
राव राने सब भयै वियोगी। सोरह सहस कुँवर भय जोगी।

चला कटक जोगिन्ह कर गेरूआ सब भेषु।
कोस बीस चारिहुँ दिसि जानहुँ फूला टेसु। [14]

इसके पश्चात् मार्ग में वे सात समुद्रों को पार कर कष्टों और बाधाओं का निवारण करते हुए अंत में सिंहलद्वीप में जाकर एक शिव मंडप में जाते हैं। वहाँ शिव मंडप में राजा सिंह-चर्म बिछाकर बैठ जाता है और एक मात्र 'पद्मावती' जाप करता है–

'बैठ सिंघछाला होइ तपा। पदुमावति पदुमावति जपा। [15]

उस योग-साधना के प्रभाव से पद्मावती के हृदय से भी अनायास प्रेम जाग्रत हो जाता है, जिससे वह विरह में व्यथित होकर राजा को प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो जाती है–

पदुमावति तेहि जोग सँजोगा। परी पेम बस गहे वियोगा।
नींद न परै रैनि जौं आवा। सेज केवाच जानु कोइ लावा।
दहै चाँद औ चंदन चीरू। दगध करै तन विरह गभीरू।

से धनि विहर पतंग होई, जरा चहै तेहि दीप।
कंत न आवहु भृंगि होइ, का चंदन तन लीप। [16]

उधर योगी राजा को मृत्युदंड की आज्ञा दी जाती है, परंतु वह योगी राजा शूली पर चढ़ते समय भी एकमात्र अपने अभीष्ट पर ध्यान केंद्रित किए हुए अंत समय भी अपनी सिद्धि स्वरूपा 'पद्मावती' का ही ध्यान करता है। उसी समय योगी से प्रसन्न शंकर जी वहाँ आ जाते हैं, जिससे उसे शूली नहीं दी जाती है और उसकी एकाग्रनिष्ठा, योग की धीर साधना और निर्विकल्प समाधि के प्रभाव से उसे 'सिद्धिस्वरूपा' पद्मावती की प्राप्ति हो जाती है–

देखि सरूज वर कँवल सँजोगू। अस्तु अस्तु बोला सब लोगू।
मिला सुबज असं उजियारा। भा बराक और तिलक सँवारा।

अनिरूद्ध कह जो लिखी जै भारा। को मेटे बानासुर हारा।
आजू मिलै अनिरूध कौ उरवा। देव अनंद देतन्त सिर दूखा।
सरग सूर भुई सरवर केबा। वन खंड भँवर होई रस लेवा।
पहिउ क बार पुरुष की बारी। लिखि जो जोरि होई न न्यारी।
मानुस साज लाख मन साजा। साजाविधि सोई पै बाजा।
गए जो बाजन बाजते जिन्हहि मान रन मान।
फिरी बाजन तेइ बाजे मंगलाचाार ओ वह। [17]

10. तपस्या से अभीष्ट फल की प्राप्ति :

तपस्या की महानता भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल से विद्यमान है। भारतीय जनजीवन में दृढ़तापूर्वक यह विश्वास प्राचीनकाल से ही समाया हुआ है कि कोई भी व्यक्ति तपस्या के द्वारा अपने अभीष्ट फल की प्राप्ति कर सकता है। इसीलिए तपस्या को भी यहाँ सांस्कृतिक जीवनमूल्य के रूप में देखा जाता है। जायसी ने भी रतनसेन के संबंध में ऐसा ही लिखा है कि जो 'राजा है और सुखी है, वह राज और सुख का भोग करे, वह भला तपस्या कैसे कर सकता है' [18] जिसने सदा घर की पोई हुई रोटी खाई, वह तपस्या के मर्म को नहीं जानता। भौंरा इस मर्म को जानता है। जो इस मार्ग से सर्वस्व लुटा देता है, इस पंथ पर वही जाता है–

तुम्ह अबही जेई घर पोई। कवल न बैठि हदु कोउ।
जनहि भँवर जो तेहि पथ लूटै। जीउ दीन्ह और दिए न छूटै।
कठिन आहि सिंघल कर राजू। पाइअ नाहि राज के साजू।
ओहि पंथ जाइ जो होई उदासी। जोगी जती तपा सन्यासी।

साधन्य सिद्धि न पाइअ जो लहि साद्य न जप।
सोइ जनहि वापुरे जो सिर करहि कलप्प। [19]

जब तक कोई व्यक्ति स्वयं नहीं खो जाता, तब तक जिसे ढूँढता है, उसे नहीं पाता।[20] जब कोई साधक तपस्वी बनकर सिंहचर्म पर बैठता है तथा तप करता है, उसकी ऊर्ध्व दृष्टि हो जाती है और मन एकाग्र होकर अपने अभीष्ट के चिंतन में तल्लीन हो जाता है। रात-दिन जागरण करते हुए वह अपने अभीष्ट की ओर इस तरह ध्यान केंद्रित किए रहता है जैसे चकित चकोर चंद्रमा की ओर टकटकी लगाए रहता है–

बैठ सिंघछाला होइ तपा। पदुमावति पदुमावति जपा।
दिस्टि समाधि ओहि सौं लागी। जेहि दरसन कारज बैरागी।
किंगरी गहे बजावे झूरै। भोर साँझ सिंगी निति पूरै।
कंथा जरै, आगि जनु लाई। विरह-घँघार जरत न बुझाई।
नैन रात-निसि मारग जागे। चकित चकोर जानु ससि लागे। [21]

तभी वह अपनी प्रेम-रूपी परीक्षा में सफल होता है और उसके बारे में यही कहा जाता है कि निश्चय ही वह विरहानल में जला है और उसी के कारण तप रहा है–

गौरे हंसि महेस सो कहा। निरचै भटु विरहानल दहा।
निसचै यह आहि कारन तपा। परिमल प्रेम न आहे छपा। [22]

11. देवोपासना में आस्था :

भारतीय संस्कृति में देवी-देवताओं का विशेष महत्त्व है। देवोपासना से हम अपने अभीष्ट की प्राप्ति कर सकते हैं। यदि हम सच्चे हृदय से देवता की पूजा, अर्चना एवं उपासना करते हैं तो वे हमारे मार्गों के सभी संकटों एवं बाधाओं को दूर कर देते हैं, जिससे हमें अपने अभीष्ट की प्राप्ति होती है। जायसी के पद्मावत में पद्मावती महादेव जी की पूजा करने जाती है। पद्मावती शिव मंडप में जाकर फूल, चंदन, अगर, सिंदूर इत्यादि से पूजा करती है और देवता के चरणों में गिरकर प्रार्थना करती है– सहेली तो ब्याही जा चुकी है हे देव, मेरे लिए क्या वर कहीं पर नहीं है? मैं गुणहीन हूँ इस कारण से मैंने तुम्हारी सेवा नहीं की। पर हे देव, तुम तो गुणी-निर्गुण सभी के दाता हो। अनुरूप वर से मुझे मिलाओ। मैं तुम्हारे लिए कलश चढ़ाने की मनौती मानकर जा रही हूँ। जिस दिन मेरी इच्छा पूरी होगी, तुरंत आकर चढ़ाऊँगी–

पद्मावति महादेव पुआरू। भीतर मण्डप कीन्ह पैसारू।
देवहि संसौ भा जिय केरा। भागौ केहि दिसि मंडप घेरा।
एक जोहार दीन्हि औ दूजा। तिसरै आइ चढाएन्हि पूजा।
फर-फूलन्ह सब मँडप भरावा। चंदन अगर देव नहलावा।
भरि सेंदुर आगे होई खरी। परसि देव और पाएन्ह परी।
और सहेली सवै बियाहीं। मो कहँ देव कतहुँ वर नाहीं।
हो निरगुनि जेई कीन्ह न सेवा। गुन-निरगुनि दाता तुम्ह देवा।
वर संजोग मोहि मेरबहु कलस जाति हौं मानि।
जेहि दिन इंछा पूजै बेगि चढ़ावौं आनि। [23]

इस पूजा, अर्चना और उपासना तथा प्रार्थना का फल यह होता है कि तुरंत पद्मावती योगियों के आने का समाचार पाती है और अभीष्ट वर का दर्शन उसे प्राप्त होता है। [24] उसके पश्चात जब राजा को शूली का दंड दिया जा रहा था, उसी समय वह महादेव वेश धारण करके राजा के बारे में बताकर राजा की प्रशंसा करते हैं और राजा को पद्मावती की प्राप्ति में सहायक बनते हैं। [25]

12. गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा :

भारतीय संस्कृति में गुरु को सर्वोपरि माना जाता है। गुरु को सर्वोच्च स्थान प्रदान कर उसे ईश्वर से भी महान बताया गया है, क्योंकि गुरु ही ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग दिखाता है। जायसी ने लिखा है कि जब तक मैंने गुरु को पहचाना न था, तब तक मेरे और उसके बीच में करोड़ों अंतर पट पड़े हुए थे। जब उसे पहचान लिया तब बीच में कोई नहीं रहा। 'मैं मैं' कहते हुए धोखे से लोग अपने और गुरु के बीच का अंतर नहीं समझते हैं। वास्तविकता यह है कि सब-कुछ गुरु ही करता है। वही जीवन-दाता है। गुरु हाथी पर चढ़ा हुआ सब दृश्य देखता है। जगत् के लिए जो नास्ति है, उस नास्ति के लिए भी गुरु देखता तथा जानता है–

जब लगि गुरु मैं अहा न चीन्हा। कोटि अंतरपट बिचुहत दीन्हा।
जौ चीन्हा तौ औरू न कोई। तन-मन जिउ जोवन सब सोई।
अंध मीन जस जल महँ धावा। जल जीवन जल दिस्टि न आवा।

गुरु मोरे मोरे हित दीन्हे तुरंगहि ठाठ।
भीतर करै डोलावै बाह्य नाचै काठ।[26]

इसके अतिरिक्त जायसी का स्पष्ट मत है कि जिसके साथ मुरशिद गुरु और पीर संत हैं, वह मार्ग में निश्‍चिंत रहता है, क्योंकि जिसकी नाव में पतवारियाँ और खिवैया अर्थात् गुरु और संत दोनों हों, वह शीघ्र ही तीर पहुँच जाता है–

मुहम्मद तहाँ निचिंत पथ जेहि संग मुरसिद पीर।
जेहिरे नाव करआ ओ सेवक बेग पाव सो तीर।[27]

13. भिक्षुक के प्रति दया :

भारतीय जन-जीवन में यह मान्यता बड़ी दृढ़ता से विद्यमान है कि भिखारी अपने द्वार पर भीख माँगे तो उसे भीख अवश्य देनी चाहिए। उसे बिना भीख दिए कभी भी वापस नहीं करना चाहिए, क्योंकि न जाने किस वेश में नारायण मिल जाए। जायसी ने पद्मावत में इसी आधार पर लिखा है कि राघव चेतन एक ब्राह्मण भिखारी के रूप में जब दिल्लीपति शाह के द्वार पर पहुँचा, भिखारी का नाम सुनते ही उसने तुरंत अपने पास बुलाने का आज्ञा देकर कहा कि भिखारी को भीख अवश्य देनी चाहिए, चाहे वह ब्राह्मण हो या भाट–

मया साहि मन संनत भिखारी। परदेसी कह पुहु हकारी।
हम पुनि है जाना परदेसा। कौन पंथ गवनव केहि भेसा।
ढीली राज चितं मन गाठी। यह जग जैसा दूध मह साठी।
सेति बिरोरि छाठि के फेरा। मथि घिउ कीन्ह महिउ केहिबेरा।
एहि ढीली का रही ढिलाई। साठी गाठै ढीलि जब ताई।
रावन लंक जारि सब तापा। रहा न जोबन औ तरूनापा।
भीखि भिखारिहि दीजिअै का बाँझनु का भाट।
अम्मा भई कहार रह धरती धरै लिलाट।[28]

14. योगी या योगिनी के प्रति पूज्य बुद्धि :

भारतीय जनजीवन में संन्यासी, योगी, योगिनी आदि के प्रति पूज्य बुद्धि एवं आदर-भाव प्रत्यक्ष रूप दिखाई देता है। इसलिए जायसी ने भी योगिनी के प्रति पूज्य एवं आदर-भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है कि जैसे ही रानी पद्मावती को यह समाचार मिला है कि भिक्षा माँगती हुई एक योगिन द्वार तक आई है, कंथा पहने है, भभूत लगाए है, वैरागियों की जैसी जटाएँ किए है, कंधे पर मृगछाला है, कंठ में जयमाला है, कानों में मुद्राएँ हैं, चंचल मन उसका दंड है, उसने तन को त्रिशूल बनाकर अपने प्रियतम के ध्यान को आधारी बनाया है, जो सिंगी वह फूँकती है, उस पर विरह का राग बजा रही है–

माँगत राजबार चलि आई। भीतर चेरिन्ह बात जनाई।
जोगिन एक बार है कोई। माँगे जैस वियोगिनी होई।

सिंगी सबद धंधारी करा। जरै सो ठाउ पाउ जह धरा।
किंगरी गहे वियोग बजावै। रहि रहि बारैबार सुनावै।[29]

यद्यपि धोखा देकर रानी पद्मावती को छलने आई थी फिर भी रानी ने उसका स्वागत सत्कार किया और उसके साथ जाने को भी तैयार हो गई–

सुनि पद्मावति मदिल बोलाई। पूछी कवन देस सो आई।
हिरदै भीतर पिउ बसै मिलै न पूछौ काहि।
सून जगत सब लागै पिय बिनु फिहौन आहि।

पद्मावति जै सुना बदि पीऊ। परा अगिनि महँ जानहुँ धीऊ।
ढोरि पाप जोगिनी के परी। उठी आगि जोगिनी पुनि जरी।
पाइ देह दुह नैनन्ह लावै। लै चलु जहाँ कंत जह पावै।

सरिवन्ह कहा पदुमावति, करहु न परगट भेस।
जोगी सोई गुपुत मन जोगवै लै गुरु कर उपदेस।[30]

इस प्रकार जायसी ने योगिनी के प्रति भारतीय पूज्यबुद्धि का निरूपण किया है, जो भारतीय सांस्कृतिक मूल्य की द्योतक है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जायसी पद्मावत में विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों का भारतीय परिप्रेक्ष्य में सुंदर विवेचन किया गया है। पद्मावत सूफ़ी संस्कृति से प्रभावित है, फिर भी हिंदू-संस्कृति का श्रेष्ठ ग्रंथ प्रतीत होता है। भारतीय लोकजीवन के विभिन्न श्रेष्ठ तत्त्व जीवन की उच्च आकांक्षाओं से जुड़कर पद्मावत में प्रतिफलित हुए हैं। जायसी ने वेदांत-मिश्रित तथा सूफ़ीमत से समन्वित एक सामान्य प्रेम-मार्ग की खोज की। जायसी को यह श्रेय है कि उन्होंने विदेशी सूफ़ी विचारधारा को भारतीय दार्शनिक विचारों से समन्वित करके उसे अपने युग के अनुरूप नया रूप दिया है। 'प्रेम की पीर को मानव-हृदय में जगा देने की उनमें अद्‌भुत क्षमता है। इसी कारण जायसी अपनी प्रत्येक चौपाई में बोलते हुए ज्ञात होते हैं।[31] डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने भी लिखा है कि हिंदूधर्म के आदर्शों ने कवि को एक सात्त्विक पथ पर चलने के लिए बाध्य किया है। कथा में कवि की मनोवृत्ति ऐसी ज्ञात होती है कि वह संसार को उसके वास्तविक नग्न स्वरूप में चित्रित करना चाहता है, पर उसके आध्यात्मिक संदेश और आदर्श के प्रति प्रेम उसे ऐसा करने से रोकते हैं।'[32]

संदर्भ

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 52, नागरी प्रचारिणी सभा, सवत् 2040 वि॰।
2. श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पद्मावत 7/1-4, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी
3. डॉ॰ गोविंद त्रिगुणायत, जायसी का पद्मावत : काव्य और दर्शन, पृ॰ 184, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण
4. श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पद्मावत 145/2-9
5. वही, 145/2-9
6. वही, 163/3-9
7. वही, 386/3-9

8. वही, 388/3-7
9. वही, 388/8-9
10. वही, 595/1-9
11. वही, 579/1-9
12. वही, 559/1-9
13. वही, 99-108
14. वही, 1345/1-9
15. वही, 163/1
16. वही, 168/1-9
17. वही, 274/1-9
18. वही, 122/8-9
19. वही, 123/2-9
20. वही, 124/2
21. वही, 167/1-5
22. वही, 211/1-2
23. वही, 191/1-9
24. वही, 193/195
25. वही, 263-270
26. वही, 145/1-9
27. वही, 19/8-9
28. वही, 450/1-9
29. वही, 601/1-9
30. वही, 602-605
31. डॉ॰ जयकिशनप्रसाद खंडेलवाल, हिंदी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ॰ 163, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण
33. डॉ॰ रामकुमार वर्मा, हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ॰ 318, रामनारायणलाल, बेनीमाधव, इलाहाबाद 1971 ई॰

❐ **श्री सादिक हुसैन**
163, **निकट प्राथमिक पाठशाला**
स्वालेनगर, रामपुर रोड, बरेली

बहुआयामी व्यक्तित्व एवं कृतित्व के धनी : श्री शचींद्र भटनागर

डॉ॰ रोहिताश्व अस्थाना

प्रयोगवादी नई कविता, अकविता, अगीत आदि की अति बौद्धिकता, शुष्कता, नीरसता, लयविहीनता अथवा अगेयता, शब्दों की काट-छाँट एवं तराश तथा भदेस और अनगढ़ शब्दों के प्रयोग से ऊबकर वर्ष 1960 के पश्चात् जिन गेय काव्य-विधाओं का पुनः प्रचलन बढ़ा, उनमें नवगीत, ग़ज़ल आदि प्रमुख हैं।

यों तो नवगीत का शिल्प गीत जैसा ही है, परंतु गीत में कवि की अनुभूतियाँ नितांत व्यक्तिगत अथवा व्यष्टिगत होती हैं, जबकि नवगीत में ये अनुभूतियाँ समष्टिगत अर्थात् दुनिया-जहान से संबद्ध होती हैं। नवगीत के शिल्प में गेयता के साथ-साथ टटके प्रतीकों, बिंबों एवं अछूती उपमाओं के प्रयोग पर बल दिया जाता है।

इस दृष्टि से नवगीत का कथ्य हिंदी-ग़ज़ल के समीप होता है। शिल्प की दृष्टि से दोनों में काफ़ी अंतर है। ग़ज़ल में बह्र, मतला, मक्ता, शेर, काफ़िया, रदीफ़, तख़ल्लुस आदि का बड़ा महत्त्व होता है।

ऐसे ही एक वरिष्ठ नवगीतकार एवं हिंदी ग़ज़लकार हैं– भाई शचींद्र भटनागर। मैं बचपन से ही आकाशवाणी पर प्रसारित इनके द्वारा रचित रोमानी गीतों की संगीतमयी प्रस्तुति का प्रशंसक रहा हूँ। इनका जन्म 28 सितंबर 1935 ई॰ को हुआ था। इन्हें हिंदी और अँग्रेज़ी दोनों भाषाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है। अध्यापन इनकी प्रमुख वृत्ति रही है। 28 वर्ष प्राचार्य पद पर कार्य करने के उपरांत यह 30 जून 1995 को सेवानिवृत्त होकर पूर्णकालिक साहित्य- सेवी बन गए हैं। गीत, ग़ज़ल, मुक्तक, कविता, प्रबंधकाव्य, रेडियोरूपक, कहानी, समीक्षात्मक निबंध आदि इनके लेखन की प्रमुख विधाएँ हैं। अब तक इनकी निम्नलिखित कृतियाँ प्रकाशित एवं चर्चित हो चुकी हैं–खंड-खंड चाँदनी, क्रांति के स्वर, करिष्ये वचनं तव, हिरना लौट चलें, तिराहे पर आदि! इनमें से इनका नवगीत-संग्रह 'हिरना लौट चलें' तथा हिंदी-ग़ज़ल-संग्रह इन दिनों विशेष चर्चा में हैं।

'हिरना लौट चलें' कृति में हिरन मानव के निर्मल, निश्छल एवं भोले-भाले स्वभाव का प्रतीक बन गया है। आज चारों ओर व्याप्त विसंगतियों, विकृतियों, विद्रूपताओं एवं तिकड़म तंत्र के चलते हुए भोले-भाले संस्कारित मानव का मन पिरा-पिरा उठता है। उसका संस्कारित मन सामाजिक यथार्थ का दंश झेलते-झेलते ऐसी व्यवस्था से दूर, बहुत दूर, चले जाना चाहता है। प्रस्तुत नवगीत कृति में कवि के 29 गीत संकलित हैं।

कवि ने इन गीतों में अपने जीवन से जुड़े बहजोई नामक कस्बे के दर्द को रेखांकित किया है! कस्बा गाँव की सोंधी माटी और शहर की कोलतारी गंध के बीच की कड़ी है। अपने

आत्मकथ्य में कस्बा अपने दर्द को इस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान करता है–

वह चूनर का छोर, होंठ के कोने में रखकर शरमाना
देख कनखियों से बिन बोले, मन का महाकाव्य रच जाना
ऐसे दृश्य सहज सुखदायक, हुए आज आँखों से ओझल
सूख गया नयनों का पानी, बढ़ता गया निरंतर मरुथल
कभी पुनः कल-कल जलवाला, मैं न सजल निर्झर बन पाया।

आज नगरीकरण ने गाँवों की सहजता और सरलता के साथ-साथ मानवीय संवेदनाओं को भी छीन लिया है। कवि के शब्दों में–

शब्द हैं संवेदना भीगे नहीं
अब हृदय के भाव भी मैले हुए।
कह सकें विश्वास से अपना जिसे–
हम उसी क्षण को तरसते रहे गए।

यही नहीं लुप्तप्राय प्राकृतिक पर्यावरण एवं दैत्याकार प्रदूषण का दुष्प्रभाव आज हर ओर दृष्टिगोचर होता है। कवि के शब्दों में–

एक भी न चिह्न यहाँ बाक़ी उस पाकर का
कल हम जिसकी ठंडी छाँह-तले बैठे थे।
और आज–
भवन हैं दुकानें हैं–
दैत्य से दहाड़ रहे कई कारख़ाने हैं।

शहरीकरण की समस्या ने निर्मल, निश्छल मन के विस्तार को बौना कर दिया है। कवि महानगरीय सभ्यता को छोड़कर प्रेम एवं मैत्री की परिभाषा को व्यावहारिक रूप देने के लिए अपने गाँव चलने का आह्वान करते हुए कहता है–

खोज में शहर की–
मन का बौनापन पाया।
कबिरा के ढाई आखर की तुम्हें दुहाई
ओ भाई, लौट चलें अपने गाँव।

इतना ही नहीं, दूर क्षितिज तक फैला हुआ प्राकृतिक सौंदर्य कवि-मन को इस प्रकार प्रभावित करता है–

मौसम कुछ ऐसा है–
मन होता है कि फिर से बरसों पीछे तक
हम लौट-लौट जाएँ
भीग-भीग धरती के सौंधेपन में
फिर से भूले अनभूले कुछ गीत गुनगुनाएँ।

एक अन्य नवगीत में 'जंगल' को प्रतीक बनाकर कवि सहजता के चंदन वन की तलाश करता है, परंतु उसे कृत्रिम व्यवहारों एवं कामचलाऊ औपचारिकताओं का जंगल ही मिलता है। देखिए–

सोचा था/ सहज मधुर
चंदन वन पाएँगे।
किंतु मिला
कृत्रिम व्यवहारों का जंगल।

इतना ही नहीं आज नैतिक मूल्यविहीन समाज में परायों से ही नहीं, अपितु अपनों का अनजानापन भी मन को कचोटता रहता है। कवि के शब्दों में–

औरों के/ क्रूर आचरण
कई बार/ कर लिए सहन
अपनों का अनजानापन
मीत! सहा नहीं जाता।

प्राकृतिक परिवेश, गाँव की सोंधी माटी, नगर के प्रदूषित पर्यावरण एवं किश्त-दर-किश्त टूटती-बिखरती हुई मानवीय संवेदनाओं के बीच कवि की रोमानी अनुभूतियाँ कहीं-कहीं दूर तक फैले हुए रेगिस्तान के बीच नखलिस्तान की भाँति मन को एक अजीब-सी पुलकन से भर देती हैं। यथा–

नई ऊष्मा,
नया उत्साह भर देती है शिराओं में–
तुम्हारी एक चितवन।

इतना ही नहीं कवि अपने मीत को परामर्श देता है कि वह बदलते हुए परिवेश में अपने निर्मल-निश्छल ह्रदय की अनुभूतियों को सार्वजनिक न करे, क्योंकि उसे समझ पाने की क्षमता अब लोगों में नहीं रही है–

समय बदला हुआ है–
मीत, मत बोलो
सरल मृगशावकों से नयन की भाषा
न कोई समझ पाएगा।

कवि-मन श्रांत-क्लांत मनु की भाँति श्रद्धा को पाकर प्रेम के दो पलों को पूरी उमंग के साथ जी लेना चाहता है। यथा–

बहुत थका-हारा है पोर-पोर मन।
कुछ बात करें हम
कुछ बात करो तुम।

ऐसे में कृत्रिम व्यवहारों से ऊबे हुए कवि को गाँवों में बिताई गई एक शाम याद आ जाती है। यथा–

जब कभी अँधेरों ने
रखा छद्म नाम।
बहुत याद आई है–
गाँवों की शाम।

कवि सुंदर, सहज एवं निश्छल प्राकृतिक सौंदर्य में घुलमिल जाना चाहता है। उसकी

कामना तो देखिए–

जंगलों के बीच में–
उपवन मुझे मिल जाए
बस यह कामना है।

आज की विषम परिस्थितियों में कवि दीपक बनकर जन-मन को ज्ञान का प्रकाश बाँटना चाहता है। स्नेह और आत्मीयता का भाव पाना चाहता है। दीपक की आत्मकथा के माध्यम से कवि का यह आस्थावान एवं सकारात्मक संकल्प द्रष्टव्य है–

मैं हूँ दीप
मुझे मत बाँधो दीवारों में–
मैं प्रकाश बाँटूगा/ जहाँ स्नेह पाऊँगा।

पश्चिमी सभ्यता का अंधानुकरण करते हुए समाज पर कवि की यह व्यंग्यपरक टिप्पणी देखिए–

हमने/ पश्चिम की कुछ धुँधली छायाओं को
ओढ़ लिया
जोड़ लिया जीवन को/ बाहर परिवेश से
कृत्रिम व्यवहारों में/ शब्दों में/ वस्त्रों में
कितना भी अधुनातन बनने का
भ्रम पाला
लेकिन विस्तृत न हुआ
चिंतन का दायरा

कवि पुनः कस्बे की ओर लौट पड़ता है। कस्बे में सूर्यास्त होते ही जीवन जैसे थम-सा जाता है, क्योंकि वहाँ बिजली नहीं मिलती, नाइट क्लब नहीं चलते और जीवन की रंगीनियों का दौर नहीं चलता है। कवि के शब्दों में–

लो, फिर गिर गई दूर बस्ती में
वह अरुण पतंग।
हाँफता हुआ सन्नाटा
आकर द्वार-द्वार साँकलें लगा गया
अलसाने लगीं व्योम की आँखें।

एक अन्य नवगीत में कवि की अभिलाषा में उसकी परोपकारी वृत्ति भी जुड़ी है। वह मेघ बनकर संसार को अपने जल से सिंचित, पल्लवित एवं हरीतिमा से युक्त कर देना चाहता है। इसी में वह आत्मसंतोष पा लेना चाहता है–

मेरी अभिलाषा है–
मुझको बस सजल-सघन मेघ बना रहने दो
सागर का जल लेकर
तैरूँ मैं अंबर में
बरसूँ मैं मरुथल में

ऊसर में/ बंजर में
खेतों में/ जब कोई खड़ी फ़सल झूमेगी
जब कोई स्वेदस्नात देह वायु चूमेगी
तो मेरा रोम-रोम
गहन आत्मतोष से अतीव तृप्ति पाएगा।

कवि का निर्विकार स्वरूप उसके एक अन्य नवगीत में देखिए–

गहरे पानी पैठ–
रतन-धन पाया गोताखोरों ने
केवल ख़ाली शंख-सीपियाँ
हमको सागर तीर मिलीं।

आज के असुरक्षित एवं अविश्वासपरक वातावरण को कवि ने इस प्रकार रेखांकित किया है–

अब नहीं सुरक्षित है/ कोई भी साँस
करें किस पर विश्वास हम
अपनों की दृष्टि
बनी भीतर की फाँस
करें किस पर विश्वास हम?'

इसी प्रकार आज के छद्मवेशी मानव-जीवन में जब चारों ओर विसंगतियों, विकृतियों एवं विद्रूपताओं के अंगारे जल रहे हों तो ओस-भरी अँजुरी का अनुभूतिपरक आनंद भला कैसे हो सकता है। कवि के शब्दों में–

ओस-भरी/ अंजुरी का कैसे आभास हो
दहक रहे हों जब अंगारे
सिरहाने।

विकसित सूचना प्रौद्योगिकी एवं मीडिया के साधनों से धरती की दूरियाँ जितनी घटती जा रही हैं, दिलों की दूरियाँ उतनी ही बढ़ती जा रही हैं। हम दूसरों के सुख से ईर्ष्या करके दुखी तो होते हैं, परंतु दूसरों के दुख से दयार्द्र नहीं होते! कवि के शब्दों में–

घटती/ दिन-दिन जितनी
धरती की दूरियाँ
दूर हुए जाते/ उतने ही मन
मन से!
जितना हम/ औरों के सुख से संतप्त हैं
उतना हम द्रवित नहीं
उनके क्रंदन से।

आज की विषम परिस्थितियों में जब सभी लोग यंत्रचालित खिलौने बन गए हैं। सरोवर के किनारे भी सभी एक घूँट प्यार के लिए प्यासे हैं, चाँदनी की छुअन सर्पदंश-सी प्रतीत होती है और कमल करील के रूप में परिणत हो गए हैं, तब मानवीय संवेदनाओं को लिए हुए मात्र

एक मन भला कैसे लग सकता है। इसी परिप्रेक्ष्य में कवि, मन रूपी हिरना को वापस लौट चलने के लिए निर्देशित करते हुए कहता है–

गंध का न छोर मिलेगा
हिरना लौट चलें
यहाँ नहीं मीत
झरेगा मधु पराग कभी
लौट सकेंगे/ अब/ वे दिन फिर ना
लौट चलें।

इन समस्त नवगीतों को रचते हुए बहजोई कस्बे की धरती का एक-एक कण दशहरा, दीवाली, होली जैसे पर्व, मौसम के रंग एवं पुरवैया के मृदुल मादक सावनी स्पर्श जैसे कवि के मन में रच बस गए हों। अपने 'अविच्छिन्न' शीर्षक नवगीत के माध्यम से कवि बहजोई की धरती का वंदन, अभिनंदन करता है, जिसने उसे संस्कार किए, कठिन एवं विपरीत परिस्थितियों में जीना सिखाया, अक्षय विश्वास के स्वर दिए, गीतों को शाश्वत भाव, संगीत और साज़ दिया। कवि कभी भी बहजोई को अपने जीवनकाल में विस्मृत नहीं कर सकता। कवि के शब्दों में–

बहजोई की धरती/ है तुझे नमन
तेरा आभारी है/ मेरा तन-मन
तू है प्रिय/ अविच्छिन्न मुझसे
इस जीवन से/ बिन तेरे
शून्य रहेगा यह जीवन।

बहजोई से जुड़े हुए बहादुर परंतु मानवीय संवेदनाओं के धनी कवि भाई शचींद्र भटनागर के ये नवगीत जहाँ एक ओर आज के यांत्रिक एवं संवेदनाशून्य परिवेश को व्याख्यायित करते हैं, वहीं दूसरी ओर मानवीय संवेदनाओं को तरसते हुए हृदय के दर्द को मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। वर्तमान कविता के वरिष्ठ कल्पतरु भाई कुँअर बेचैन जी के शब्दों में मैं भी अपना स्वर मिलाते हुए कहना चाहूँगा कि ये गीत कैक्टस के काँटों से कमल पाँखुरियों की ओर मुड़ने का सारस्वत संकल्प हैं।

भाई शचींद्र भटनागर जी नवगीतों की रचना में जितने दक्ष हैं, ग़ज़लों के क्षेत्र में भी उतने ही सिद्धहस्त है। उनके नवगीत तथा ग़ज़लें एक ही सिक्के के दो पहलू के समान हैं। अभी हाल ही उनकी ग़ज़लों का एक संकलन प्रकाशित और चर्चित हुआ है। कृति का नाम है–'तिराहे पर।'

कृति में इनकी तीन प्रकार की ग़ज़लें संगृहीत हैं। 1. इनकी प्रारंभिक अवस्था की प्रेमपरक ग़ज़लें 2. समकालीन परिवेश की ग़ज़लें, जिनमें विषम परिस्थितियों के मध्य आत्मविश्वास कहीं पर भी खंडित नहीं हो पाया है। 3. अध्यात्मपरक ग़ज़लें। इन तीन प्रकार की ग़ज़लों के संगृहीत होने के कारण ही कदाचित ग़ज़ल-कृति का नाम 'तिराहे पर' अपनी सार्थकता को स्वयं सिद्ध करता है।

अपनी नितांत वैयक्तिक अनुभूतियों से युक्त ग़ज़लों को कवि ने 'स्वयं की' शीर्षक के अंतर्गत प्रस्तुत किया है। अपनी इन 21 ग़ज़लों के संदर्भ में कवि की आत्मस्वीकृति के

अनुसार 'इनमें मिलन का उल्लास है, मनुहार है, और है विछोह के क्षणों में एकाकीपन का अहसास।

जीवन का लंबा सफ़र तय करने के पश्चात् अंतिम मोड़ पर पहुँचकर मुझे जीवन-सहचर के सहयोग की जितनी अनिवार्यता महसूस होने लगी है, उतनी पहले कभी नहीं हुई। यह मन:स्थिति लगभग पंद्रह वर्ष पूर्व से उत्पन्न हुई।'

वस्तुत: उनकी ये 21 ग़ज़लें पारंपरिक प्रेमपरक ग़ज़लों की कोटि में आती हैं। इन ग़ज़लों में यद्यपि लौकिक प्रेम की शालीनता से अभिव्यक्ति हुई है, परंतु यत्र-तत्र यह लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम में भी परिणत हो गया है। यथा–

दिव्य आलोक से भरपूर भोर से पहले
एक अंधी सुरंग है, अलग नहीं होना।

इस बियाबान के जैसे ही पार पहुँचेंगे
पाएँगे भोर की झिलमिल, चलो कुछ और चलें।

कवि को अपनी सहचरी का सामीप्य, उसके अतल संकेत एवं मुस्कान क्रमश: हँसता मुस्कराता घर, गंभीर समंदर एवं रहबर जैसा प्रतीत होता है। कवि के शब्दों में–

तुम न होते तो ये घर, घर न मुझे लगता है
वक़्त चट्टान से कमतर न मुझे लगता है।

तेरे संकेत अतल, और अनंत मुस्कानें
कोई भी वैसा समंदर न मुझे लगता है।
वैसे हर मोड़ पे मिलता है रहगुज़र कोई
कोई भी आप-सा रहबर न मुझे लगता है।

कवि को अपने सहयात्री की याद के बादल तथा नयनों से घिरे हुए अवसाद के बादल अपनी मार्मिक अनुभूतियों से पाठकों के दिलों को जोड़ने में सफल हुए हैं। उदाहरण देखिए–

तुम्हारे रूप में सामीप्य का आभास देते जो
बहुत मोहक मुझे लगते, तुम्हारी याद के बादल।
तुम्हें मैं भूल पाता हूँ निमिष-भर भी नहीं साथी
घिरा करते नयन में जब सघन अवसाद के बादल।

कवि को अपने प्रिय की वायदाख़िलाफ़ी एक अजीब-सी पीड़ा एवं सिहरन से भर जाती है–

आप तो वायदे कर-करके मुकर जाते हैं
हम इसी ख़्याल से हर बार सिहर जाते हैं।

फिर भी समय के संकेत सारी दूरियाँ मिटाकर एक-दूसरे के प्रति समर्पण के भाव से भर देते हैं। यथा–

वक़्त के इस तरह से इशारे हुए
आज के दिन पुन: हम तुम्हारे हुए।

प्रिय के आगमन से पतझर मधुमास में बदल जाता है और धरती पर जैसे स्वर्ग उतर

आता है। ऐसे में कवि की प्रेमिल अनुभूतियाँ द्रष्टव्य हैं–

आप जब भी मेरे उपवन के निकट आते हैं।
वृक्ष किसलय से अनायास ही भर जाते हैं।

स्वर्ग होगा या नहीं, हमको न है यह मालूम
आप होते हैं तो हम उसकी झलक पाते हैं।

कविवर जयशंकर प्रसाद की भाँति ही कवि ने नारी को पुरुष की प्रेरक शक्ति के रूप में मान्यता प्रदान की है। इस संदर्भ में उनकी ग़ज़लों से दो-तीन शेर देखें–

तुम रहोगे साथ, होगा वेग पाँवों में
चाहता हूँ मैं प्रवाहित ही रहूँ प्रतिपल

दे के अपनत्व भाव तुमने ही
हर लिया, हर तनाव तुमने ही

बन के सहचर, किए हैं भावों के
दूर सारे अभाव, तुमने ही।

कवि को अपना एकाकीपन अच्छा नहीं लगता। वह अपने सहचर से जीवन-पथ पर साथ-साथ चलने और अलग न होने का आग्रह करते हुए कहता है–

है ये अंतिम पड़ाव, हाथ थामकर चलना।
सामने है घुमाव, हाथ थामकर चलना

ऐसे ही चलते जाएँ, हम दोनों।
शेष जीवन बिताएँ, हम दोनों।

कवि एक पल भी प्रिय का वियोग सहन नहीं कर पाता है। प्रिय के साथ बिताए गए क्षण पीड़ाप्रद स्मृतियाँ बन जाते हैं। ऐसे में कवि उपालंभ देते हुए प्रिय से कह उठता है–

कैसे दिन-रात गुजरते हैं, तुम्हें क्या मालूम।
याद कितना किया करते हैं, तुम्हें क्या मालूम।

भाई शचींद्र भटनागर ने प्रेम और पीड़ा को कविता के सृजन की पहली शर्त मानते हुए यह अनुभव किया है कि–

दिल जो दिल से मिला नहीं होता।
गीता का सिलसिला नहीं होता।

अथवा–

दर्द में डूब के आई हो तो
गीत की एक कड़ी काफ़ी है।

इन आत्मानुभूतियों से उत्पन्न प्रेमपरक ग़ज़लों के उपरांत कवि ने दुनिया-ज़हान की गाथाओं को अपनी ग़ज़लों के मध्यम से वाणी दी है। उन्होंने समय की शिला पर उभरती हुई खरोंचों एवं दरारों को 'समय की ग़ज़लें' शीर्षक से प्रस्तुत किया है। अपनी इन ग़ज़लों के संदर्भ में कवि ने आत्मकथ्य में कहा है कि 'समय की ग़ज़लें उस परिवेश की प्रतिक्रियाएँ हैं, जिसके

मध्य रहना हमारी विवशता है। संवेदनहीनता, व्यवहार में कृत्रिमता एवं कुटिलता, अंधानुकरण की प्रवृत्ति, बुद्धि की संकीर्णता, आस्तिकता का दिखावा, नई पीढ़ी की उपेक्षा, भौतिकता के आकंठ में डूबे व्यक्ति का उल्लासरहित जीवन, दुहरा व्यक्तित्व तथा कथित महान लोगों का निकृष्ट जीवन, सद्‌गुणों के गौरवान्वयन के बजाय पर-छिद्रान्वेषण में आनंद, पड़ोसी के पतन में प्रसन्नता, शार्टकट से आगे का उपलब्धिहीन जीवन, शासन-तंत्र की अक्षमता, भ्रष्टाचार, कोरी नारेबाज़ी, थोथे आश्वासन, पड़ोसी देश का षड्‌यंत्रपूर्ण आचरण, बज़ारू संस्कृति, विभागों तथा कार्यालयों में व्याप्त कर्त्तव्यहीनता आदि की सहज प्रतिक्रियाओं के दस्तावेज़ इस भाग की ग़ज़लें हैं। परिवेश ने मेरे मन को आंदोलित किया, किंतु निराशा का कोई स्वर उसमें नहीं है। इसके विपरीत आत्मविश्वास एवं साहसपूर्ण संकल्प का उदय ही हुआ है।'

कवि के इस पांडित्यपूर्ण, स्तरीय वक्तव्य की पृष्ठभूमि में उसके द्वारा रचि समय की 26 ग़ज़लों से गुज़रने के बाद लगता है कि यह ग़ज़लें समग्र युगबोध को व्याख्यायित करने के सफल हुई हैं। कवि समाज का द्रष्टा ही नहीं, अपितु स्रष्टा भी होता है। इन ग़ज़लों के माध्यम से कवि ने आधुनिक परिवेश में व्याप्त दुर्गुणों का यथार्थ चित्रण करते हुए उन्हें दूर करने के लिए सकारात्मक एवं आशावादी सुझाव भी दिए हैं।

आजकल गिरते हुए राजनीतिक मूल्यों पर प्रहार करते हुए कवि कहता है–

बाँटना ही रहा मक़सद हरिक सियासत का
दिल को नज़दीक ज़रा लाओ तो कुछ बात बने।

वर्तमान समय में मानव को नित्य ही जीवन-संघर्ष की परीक्षा से होकर गुज़रना पड़ता है। ऐसे में वह भला परिणाम की चिंता क्यों करे–

याद परिणाम कहाँ तक रक्खें
रोज़ होते हैं इम्तिहान यहाँ।

आज चाहे वह संसद पर आतंकी हमला हो अथवा बंबई का आतंकी नरसंहार, मानव इन घटनाओं-दुर्घटनाओं से गुज़रने का अभ्यस्त हो गया है। आज उसका प्रेरक कहानियों से भी विश्वास उठता जा रहा है। ज़रा देखिए–

हादिसों के हम यहाँ अभ्यस्त इतने हो गए
अब नहीं शिक्षा किसी प्रेरक कहानी में रही।

आज देश हर क्षेत्र में बहुआयामी प्रगति कर रहा है। ऐसे में देश के कर्णधारों की निस्पृह देशसेवा को व्यंग्य के अंदाज में देखिए–

बढ़ रहा देश, हर नुमाइंदा
हो रहा मालामाल चुप रहिए

आच चारों ओर स्वार्थपरता का बोलबाला है। दुनिया-ज़हान की चिंता अब किसी को नहीं रही। यथा–

अपने दर पर दिया जलाया है
अब ज़माने की फ़िक्र है किसको?

आज मानव मिथ्या अहंकार को ओढ़कर दूसरों की निगाह में अविश्वस्त होता जा रहा है–

विश्वास रहा हमको अहंकार पे केवल
औरों के लिए किंतु अविश्वस्त हो गए।

आज हमारी सभ्यता में होशियारी और दुनियादारी इस क़दर भर गई है कि माता-पिता के होते हुए भी बच्चे अकेलापन महसूस करते हैं—

कैसी यह सभ्यता हमारी है,
होशियारी ही होशियारी है।
बच्चे लावारिसों-से फिरते हैं,
किस तरह की ये दुनियादारी है।

आज मानव का रक्त जैसे सुन्न होता जा रहा है। वह अपनी ज़िंदगी को हँसी-ख़ुशी जीने के बजाय ढो रहा है। उसकी बुद्धि तो विकसित हुई, परंतु उसके आचरण में बुद्धिमानी नहीं आ सकी। आज का मानव सदाचार से कोसों दूर होता जा रहा है। कवि के शब्दों में—

ज़िंदगी को ढो रहा है आदमी,
ख़ून में पिछली रवानी है नहीं।
बुद्धि विकसित हो गई बेइंतिहा,
आचरण में बुद्धिमानी है नहीं।

आज देश का यह हाल है कि बड़े-बड़े विद्यालय और मंत्री भी घोटाले से जुड़े हैं। कविता के क्षेत्र में भी राजनीति घुस गई है। प्रतिष्ठित कवियों की चर्चा नहीं होती, जबकि चार गीतों के सहारे लोग सारे देश के मंचों पर घूम आते हैं। उदाहरणार्थ—

क़ैद में हैं मगर विधायक हैं,
देश यह बेमिसाल है साहब।
चार गीतों से देश घूमा है,
लेखनी का कमाल है साहब।

आज जीवन कसैला और विषादयुक्त हो गया है। सुरक्षा-व्यवस्था अति पंगु हो गई है। कार्य-संस्कृति में निष्क्रियता भरती जा रही है। इस संदर्भ में कवि के ये शेर अत्यंत ही प्रासंगिक बन पड़े हैं—

ज़िंदगी में न स्वाद है यारो,
एक गहरा विषाद है यारो।

हो गया क़त्ल सरेआम, न मालूम हुआ,
लुट गई लाज सरे शाम, न मालूम हुआ।

भीड़ दफ़्तर में बहुत बढ़ती चली जाती हैं,
किंतु कब होता कोई काम, न मालूम हुआ।

आज का मानव दोहरा व्यक्तित्व लेकर जीता है। ऐसे में देश और समाज का भला क्या होगा? यह एक विचारणीय प्रश्न बन गया है। देखें—

घर के भी सिखा रहे हैं चलन नफ़रत का
प्यार का किंतु इश्तिहार, भला क्या होगा?

नि:संदेह आज 'कुत्ता संस्कृति' मानव-संस्कृति से कहीं अधिक श्रेष्ठ बन गई है। ऐसे में आज हमें हिंसक पशुओं की अपेक्षा मानव से अधिक भय लगता है—

हिंम्र पशुओं से भी ज़्यादा हैं हम,
अब तो इंसान से डर लगता है।

आज की विषम तिकड़मतंत्रीय परिस्थितियों में आम आदमी अपने को इतना उपेक्षित और असुरक्षित अनुभव करता है कि वह अपने को तथाकथित उच्च भौतिकवादी शिखर पुरुषों से अलग-थलग रखना पसंद करने लगा है। कवि के शब्दों में—

हम बहुत गुमनाम हैं, चौड़ी सड़क—
छोड़ दी है शान वालों के लिए

इतना ही नहीं, हमारे समाज के बहुसंख्यक लघुमानव को अपनी लघुता में भी प्रसन्नता की अनुभूति होती है—

नन्हे दीपक हैं, मगर खुश हैं हम—
वो हैं सूरज महान होने दो।

कवि ने आधुनिक समय और समाज का यथार्थवादी एवं जीवंत चित्रण अपनी इन ग़ज़लों में किया है, परंतु कहीं भी उसके स्वर में निराशा एवं अवसाद की पीड़ामय अनुगूँज सुनाई नहीं देती है। कवि का आशावादी सकारात्मक एवं सुधारवादी चिंतन इन ग़ज़लों को नए आयाम प्रदान करते हुए यह सिद्ध करता है कि कवि समाज का द्रष्टा ही नहीं, अपितु सृष्टा भी होता है। अपने कथन के समर्थन में इन ग़ज़लों से कतिपय शेर प्रस्तुत करना चाहूँगा—

अनवरत तूफ़ान आते ही रहे,
पाँव हम उनमें बढ़ाते ही रहे।
दृष्टि में ले दीप्ति दिनकर की शचीन्,
हम किरन-से जगमगाते ही रहे।

हम गिरे हैं तो सँभल जाएँगे,
उलझनों से भी निकल जाएँगे।

हमने ख़ुद ही सँभलना सीखा है,
सूर्य बनकर निकलना सीखा है।

मत समझिए हम यहाँ हस्ती मिटाकर जाएँगे,
जाएँगे जिस वक़्त, हम कुछ कर दिखाकर जाएँगे।

हम जलेंगे घोर मावस में चिराग़ों की तरह,
औ' अँधेरे रास्तों को जगमगाकर जाएँगे।

भाई शचींद्र भटनागर जी की ग़ज़लों का तीसरा रंग भी है, जिसे उन्होंने 'शिवम् की ग़ज़लें' कहा है। वस्तुत: ये ग़ज़लें आध्यात्मिक चेतना की ग़ज़लें हैं। इनके बारे में कवि का मत है कि 'शिवम् की ग़ज़लें उस चिंतन का सर्वस्वीकार्य स्वरूप हैं। जो मुझे पं॰ श्री राम शर्मा आचार्य के सान्निध्य से तथा उनके साहित्य के अध्ययन से प्राप्त हुआ। इन ग़ज़लों में उन

मानवमूल्यों को पुनर्प्रतिष्ठापित करने का सहज प्रयास किया गया है, जिनको जीवन में आत्मसात करने से 'समय की' ग़ज़लों में प्रस्तुत की गई स्थितियों को नियंत्रित किया जा सकेगा।'

भटनागर जी को इन ग़ज़लों की रचना की प्रेरणा अखिल विश्व गायत्री परिवार के प्रमुख श्रद्धेय डॉ॰ प्रणव पंड्या जी से मिली।

निश्चय ही अवस्था में उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ कवि शनैः शनैः आध्यात्मिकता, आत्मसाक्षात्कार एवं सृष्टिकर्त्ता की अद्भुत लीलाओं में रमता जा रहा है। आज की विषम परिस्थितियों में जीवन को संस्कारित एवं शांति के पथ पर ले जाने के लिए इस प्रकार की आध्यात्मिक चेतनापरक ग़ज़लों की महत्ता बढ़ती जा रही है।

कवि परम सत्ता का साक्षात्कार करके उसे अपने हृदय के स्पंदनों में अनुभव करते हुए कहता है–

जब गौर से देखा तो महसूस किया मैंने दिन-रात,
तुझे दिल की धड़कन के इशारों में।

कवि ने जनमानस में ईश्वरीय संदेश को इस प्रकार वितरित किया है–

उसके दरबार में, कोई न बहाना होगा,
जो भी आया है, उसे फ़र्ज़ निभाना होगा।
प्यार अपनत्व लुटाकर भी ज़रा तुम देखो,
अपना हम-दर्द यहाँ सारा ज़माना होगा।

महात्मा कबीर की 'ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया' की शैली में कवि जीवन को सार्थक तथा महत्त्वपूर्ण बनाने का परामर्श इस प्रकार देता है–

आइए ओढ़ने का हम भी सलीक़ा सीखें
जिससे चादर ये बिना दाग़, खरी जाती है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था–'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे' कविवर शचींद्र भटनागर जी भी इसी भाव को अभिव्यक्त करते हुए समस्त मानव-जाति को परमार्थ का दीपक बनकर जगत् को ज्योतित करने का संदेश इन शब्दों में देते हैं–

खुद जलें सबके घर-आँगन का अँधेरा काटें,
क्यों न बन जाएँ इस तरह के हम दिये, सोचें।

बाइबिल प्रेम को ही परमेश्वर कहती है। कवि इसी प्रेम को मानव-मात्र में बाँटकर उसके पीड़ाजन्य आँसुओं को पोंछने की सलाह देता है–

हम न बाँटेंगे जब तलक कि प्यार धरती पर,
रुक सकेगी कभी न अश्रुधार धरती पर।

मानवीय संवेदनाओं से भरकर यदि हमारी आँख दूसरों के दुख में नम हो जाती है तो वह सच्चे अर्थ में अपने अस्तित्व को सिद्ध करती है। कवि के शब्दों में–

आँख जो पीर से औरों की सजल होती है
वो बहुत सौम्य, सहज, शांत, सरल होती है।

इसी संदर्भ में कवि ने 'आदमी' को परिभाषित करते हुए कहा है–

आदमी है जो हँसता-हँसाता रहे,

संकटों से भी जो सीख पाता रहे।

कवि ने मानव को अपनी जीवन-यात्रा में मील का पत्थर बनकर चलने की सलाह इन शब्दों में दी है—

ज़्यादा कुछ लंबा सफ़र तय न कर सकें, फिर भी
जितना चल पाएँ, चलें मील के पत्थर की तरह।

इसी प्रकार कवि ने आज की दिग्भ्रमित पीढ़ी को सुधारवादी तथा संस्कारवादी दिशा-निर्देश अपनी इन ग़ज़लों के माध्यम से दिया है। कतिपय शेर देखें—

सबके सद्गुण उभारना ही बुद्धिमानी है,
अपने अवगुण सुधारना ही बुद्धिमानी है।

हमारी व्यस्तता के क्षण कभी भी कम नहीं होंगे,
हमारी याद ही रह जाएगी, जब हम नहीं होंगे।

मन का आँगन बुहार लें, ये सच्ची पूजा है,
अपना जीवन सँवार लें, ये सच्ची पूजा है।

जो भी कुछ दे सकें, दुनिया को हम दिए जाएँ,
स्नेह-सद्भावना सबसे स्वयं लिए जाएँ।
बाद में जिसको याद करके दिल खिलें सबके,
ऐसी अनमोल यहाँ ज़िंदगी जिए जाएँ।

जिनके आँगन में अँधेरे में दिवाली गुज़री,
उनकी दहलीज़ पे इक दीप जलाएँ इक दिन।

करके देखो ज़रा इंसार की सेवा भी शचीन्,
घर चले आएँगे भगवान, देखना इक दिन।

महात्मा कबीर ने ईश्वर की महिमा का गुणगान करते हुए कहा था—'राई ते पर्वत करै, पर्वत राई माँहि।' कविवर शचींद्र जी ने भी ईश्वर की दुआ और कृपा की महत्ता का वर्णन करते हुए लोगों से कहा है—

आप लाखों से भी बेहतर हैं जमीं पर साहब,
इतना मालिक का है अहसान, यही काफ़ी है।

मत कहो वक़्त ये नाकाफ़ी है,
इसको मालिक की अमानत समझो।

ईश्वर को भक्तगतण अपनी-अपनी तरह से खोजते और रिझाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे में कवि ईश्वर के सच्चे निवास-स्थान का पता बताते हुए कहता है—

न वो गुरु ग्रंथ, वेद या क़ुरान में बैठा,
मेरा मौला मेरे मन के मकान में बैठा।

अथवा

जिसने निर्मल व छलरहित हृदय किया शिशु-सा,
ईश उसके ही निरभिमान ध्यान में बैठा।

इतना ही नहीं कवि ने पौराणिक मिथक के माध्यम से उस धरती को नमन किया है, जहाँ सदाचारी जनों के मानस में ईश्वर के प्रति सच्ची निष्ठा और भक्ति होती है। उदाहरणार्थ–

जिस धरा पर प्रह्लाद होता है,
फिर वहाँ साधुवाद होता है।

कवि चूँकि आध्यात्मिक यात्रा का पथिक है, अत: उसने अनुभव किया है कि ईश्वर से साक्षात्कार होते ही मन के सारे भ्रम मिट जाते हैं और भक्त सहज ही व्यापक तथा दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेता है। यथा–

आप क्या मिल गए, भ्रम परे हो गए,
विश्व तक दृष्टि के दायरे हो गए।
आपकी जो कृपा-दृष्टि हम पर हुई,
देख लो, क्या से क्या हम अरे! हो गए।

भाई शचींद्र भटनागर जी की ग़ज़लों का कथ्य जिनता व्यापक और विशाल है, शिल्प सौष्ठव भी उतना ही खरा और मुकम्मल है। मतला, मक्ता, बह्र, रदीफ़, काफ़िया आदि का सफल निर्वाह उनकी ग़ज़लों में नई प्राण-प्रतिष्ठा कर देता है। उन्होंने यत्र-तत्र मक्तों में अपने तख़ल्लुस अर्थात् उपनाम 'शचीन्' का प्रयोग भी किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'तिराहे पर' की ग़ज़लों से गुज़रना व्यक्तिवाद, समष्टिवाद एवं आध्यात्मिक चेतनावाद की त्रिवेणी में डुबकी लगाने के सदृश आनंददायक है।

जहाँ एक ओर 'स्वयं' की ग़ज़लों में कवि ने प्रेम, सौंदर्य एवं विरह-वेदना के शिष्ट एवं शालीन चित्र खींचे हैं, वहीं 'समय' की ग़ज़लों में समग्र युगबोध का यथार्थपरक निरूपण किया है। इसी प्रकार 'शिवम्' की ग़ज़लों में नई पीढ़ी को संस्कारित करनेवाले दिशा-निर्देशों के साथ-साथ आध्यात्मिक चेतना का रंग भी बिखेरा है।

सारांशत: कविवर शचींद्र भटनागर जी बहुआयामी व्यक्तित्व एवं कृतित्व के धनी हैं। वे एक सफल कवि भी हैं, चिंतक भी हैं, समाज-सुधारक भी हैं, शिक्षक भी हैं और आध्यात्मिक चेतना के अग्रदूत भी हैं। उनकी नवगीत कृति 'हिरना लौट चलें' तथा ग़ज़ल कृति 'तिराहे पर' कवि के द्रष्टा एवं स्रष्टा दोनों ही रूपों को व्याख्यायित करती हैं। उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का लंबा सफ़र अत्यंत ही सार्थकता एवं सफलता से तय किया है। हिंदी-साहित्य को अभी उनसे और अधिक आशाएँ हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-साहित्य की विकास-यात्रा में वे निश्चय ही मील का पत्थर बनकर उभरे हैं। वे जीवन के सौ-सौ बसंतों को पार करते हुए सफलता के स्वर्ण-शिखरों का संस्पर्श करें, इसी में हिंदी-साहित्य का हित सन्निहित है। वस्तुत: उनका साहित्य कालजयी साहित्य है, जिसका महत्त्व कभी कम नहीं होता, अपितु नित नवीन और सदाबहार बना रहता है।

❐ निकट बावन चुंगी चौराहा
हरदोई 241001 **(उ॰प्र॰)**

रीतिकाव्य में अप्रस्तुत-योजना

डॉ॰ अशोक उपाध्याय
विभागाध्यक्ष हिंदी
बरेली कालेज, बरेली

श्री जगन्नाथप्रसाद भानु ने 'रसात्मक वाक्यं काव्यं' अथवा वाक्य रसात्मक काव्य कहावै' के भावार्थ में लिखा है कि 'जिस वाक्य से रस अर्थात् लोकोत्तर आनंद प्राप्त हो उस वाक्य को 'काव्य' कहते हैं और लोकोत्तर आनंद यथार्थ में उस आनंद को कहते हैं, जो स्वार्थ रहित होकर अलौकिक तथा सार्वजनिक हो।' [1] जब कवि भावों अगम्य समुद्र में निमग्न होकर उन्हें शब्दों का आवरण प्रदान करता है, तब कल्पना प्रसूत अप्रस्तुत अभिव्यक्ति के मणि-मुक्ता बनकर कभी अनायास और कभी सायास प्रकट हो जाते हैं। इनके माध्यम से शब्दों में एक नया सौष्ठव आ जाता है। अप्रस्तुतों का यह प्रतीयमान सौंदर्य कुछ और ही वैशिष्ट्य से युक्त होता है, जोकि प्रसिद्ध अलंकारों या सामान्य रूप से प्रतीत होने वाले अंगों के सौंदर्य से भिन्न, एकविशिष्ट रूप में ठीक वैसे ही सुशोभित होता है, जैसे युवतियों के अंगों में लावण्य की शोभा होती है–

प्रतीयमान पुरनरूयदेव वस्त्वस्ति का वाणीषु महाकवीनाम।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्य निवांगनासु। [2]

सुंदर युवतियों के शारीरिक अवयव इत्यादि निश्चित रूप से सुंदर प्रतीत होते हैं; परंतु उनका लावण्य इन सबसे पृथक् रूप में इस प्रकार परिलक्षित होता है कि सहृदय नागरिकों के नेत्र चकित होकर एकटक भाव से देखने के लिए विवश हो जाते हैं। रीतिकालीन काव्य के संदर्भ में यही लावण्य अप्रस्तुत योजना से प्रोद्भासित होता है, जो कि 'कवित्त' को मुक्ताहार के समान कंठ की शोभा बना देता है–

प्रगट सुघन सुबरन स्वाति जल जेते,
बसे छंद-बंद रीति सुकति अधार हैं
सुंदर विमल बहु अरथ निधान देखौ
अचिरज नेह भरे झलकै अपार हैं
कहै ब्रजनाथ बहु जतननि आए हाथ
बरनै कहा लौंये तौ परम सुढार हैं।
एजू सुनौ मित्त चित्त गुण मैं पिरोय इन्हैं
राखौ कंठ मुक्ता कवित्त करि हार हैं। [3]

कवि की लेखनी से पाठक या श्रोता के समक्ष शब्द राशि के माध्यम से प्रयुक्त भाव और विचार उसके विषय इतना नहीं स्पष्ट कर पाते, जितना कि उसके अनजाने में ही 'बाहर आने के लिए व्याकुल संयम के सींकचों पर सिर पटक-पटककर मूर्च्छित हो जाने वाले भाव और विचार। उपचेतन के ये अतिथि कवि के विषय में निष्पक्ष साक्षी हैं, कवि की वाणी संयम के अवगुंठन से जनपथ पर विचरण करती हुई, जो हाव-भाव और संकेतों द्वारा कह गई, वही उसके घर का रहस्य है। कवि ने शब्दों को जो कुछ कहने की आज्ञा दी उससे अधिक वे यदि प्रमादवश भी बता जाएँ, तो हम अपनी सफलता पर धन्य हो जाएँगे। अस्तु काव्य का प्रस्तुत पक्ष निश्चय ही महत्त्वपूर्ण अध्ययन का विषय है, परंतु उसका प्रस्तुत पक्ष महत्त्व के साथ-साथ प्रमाण रूप में अधिक विश्वसनीय है।' अप्रस्तुत अभिव्यक्ति की रमणीय शैली की आवश्यकता है। इसका विकासमानवीय अनुभूति और भाषा के साथ जुड़ा हुआ है। इससे हमें भावाभिव्यंजन के विशेष प्रकारों का परिचय भी सहज ही प्राप्त हो जाता है। मनुष्य अपने सामाजिक संपर्क में आनेवाली प्रत्येक वस्तु के आकार-प्रकार स्वरूप एवं गुण के विषय में अपनी विशिष्ट अनुभूतियों को प्रकट करने का प्रयत्न करता है। सामान्य जीवन के संकेत इतने दुर्बल होते हैं कि उसे अपनी मौलिक अनुभूतियों को ज्ञेय वस्तुओं में समाविष्ट करके अप्रस्तुत रूप प्रदान करने में ही उनकी सौंदर्य गर्भित उपयुक्तता परिलक्षित होती है। आचार्य भिखारीदास ने प्रतिभाशाली सुकवियों द्वारा प्रतिपादित काव्य रीतियों का अध्ययन और लोकाचार या लोक-व्यवहार पटुता को श्रेष्ठ कवियों का गुण मानकर यही संकेत दिया है–

सक्ति कवित्त बनाहबे की जेहि जन्म नक्षत्र में दीन्हि विधातैं।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों देखी सुनी बहुलोक की बातैं।
दास हैं जा में इकत्र ये तीनि बनै कविता मनरोचक तातैं।
एक बिना चलै रथ जैसे धुरंधर सूत की चक्र निपातैं। [5]

अप्रस्तुत वस्तु के माध्यम से कवि अपने मनोनुकूल भावार्थ के साथ बाह्य संसार की वस्तुओं का सादृश्य स्थापित करके उन्हें सभी के लिए महत्त्वपूर्ण और प्रभावाभिव्यंजक बना देता है। भाव कविता का सबसे अधिक सजीव और सशक्त तत्त्व है। यही भाव विविध प्रकार की अप्रस्तुत-सामग्री की सहायता से अग्रसर होकर हमारे मनोभावों को सप्राण और मूर्त्त रूप में साधारणीकृत करने का सफल प्रयास करता है। डॉ॰ नगेंद्र के अनुसार 'भाव की रमणीयता और उक्ति की रमणीयता अथवा अनुभूति के सौंदर्य तथा अभिव्यक्ति के सौंदर्य में सहज संबंध है। भारतीय रीतिशास्त्र ने इन दोनों तत्त्वों के महत्त्व को पूर्णत: ग्रहण कर लिया था, परंतु उसने उन्हें अभिन्न रूप में न देखकर पृथक्-पृथक् ही देखा था। यह बात नहीं कि इन दोनों के संबंध से वह अनभिज्ञ था, परंतु इनकी अनिवार्यता एकता का कायल वह नहीं था। इसलिए उसने अनुभूति और अभिव्यक्ति के पार्थक्य का सर्वथा लोपन नहीं होने दिया। इसके विपरीत विदेश का नवीन सौंदर्य शास्त्र दोनों का अनिवार्य अपार्थक्य मानता है। उसका कहना है कि भाव की रमणीयता की स्थिति उक्ति की रमणीयता के अतिरिक्त और है ही क्या? इस प्रकार वह वस्तु और आकार-प्रकार की एकता का प्रतिपादन करता है। यह सिद्धांत चाहे पूर्ण रूप से संगत न हो, परंतु वस्तु की समृद्धि बहुत कुछ आकार की समृद्धि पर आश्रित है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता।' [6] वास्तविकता यह है कि अनुभूति की उत्तेजना अथवा रमणीयता को अभिव्यंजित

करने में अभिव्यंजना के सामान्य उपकरण असमर्थ हो जाते हैं, तब उसको निरूपित करने के लिए कवि को चेतन अथवा अवचेतन रूपमें विशेष समर्थ एवं रमणीय उपादानों का उपयोग करना अपरिहार्य हो जाता है। भावोद्वेलन की दशा में हमारी अभिव्यक्ति किसी प्रकार की क्यों न हो, अतिशयता के वैचित्र्य से परिपूर्ण अवश्य होती है। अतिशयता और भावानुभूति परस्पर इतने जुड़े हुए हैं कि कविता के सामान्य धर्म के रूप में स्वीकार किए जा सकते हैं। वैसे कविता का कार्य मनहरण सौंदर्य से विभूषित अतिशयता अर्थात् कल्पना वैचित्र्य से परिपूर्ण अप्रस्तुत वस्तु के प्रभाव से पाठक को भाव विभोर कर देना ही है। महाकवि देव ने अनुप्रास, यमक, उपमा और रूपक अलंकार के माध्यम से 'सराहनीय कवि' के लक्षणों को इस प्रकार बताया है–

जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहिं छोभ की छाहौं।
मोहन जाहिर है जगजाहिर मोल जवाहिर तौ अति चाहौं।
वानी पुनीत ज्यों देव धुनी रस आरदसारद के गुन गाहौं।
सील सनी छविता सविता कविताहि रचै कविताहि सराहौं।[7]

गंगा के समान वाणी की पवित्रता और रसार्द्रता, शील से परिपूर्ण और छवि के सूर्य की प्रखरता एवं निर्लोभता को प्रदर्शित करने वाली वाणी उत्तम अप्रस्तुत योजना से ही संभव है। डॉ॰ विद्या निवास मिश्र ने लिखा है कि 'देव उस अठारहवीं शताब्दी के कवि हैं, जिसमें सबकुछ बिखर रहा था, साम्राज्य टूट रहा था, सामंत उभर रहे थे, भक्ति वाह्यचार में अधिक चली जा रही थी, मनुष्य को कहीं चैन नहीं थी (स्वयं देव को कहीं ठीक ठिकाना नहीं मिला) संबंधों में अविश्वास आने लगा था, ऐसे जमाने में भक्ति युग के बाद मानवीय मूल्यों की नई परीक्षा का अवसर जिन्हें मिला, उन्होंने इन्हें कवि होकर परखा, अपने कर्म में पूरी निष्ठा रखी, सजगता बरती, मनुष्य को जोड़ने वाले व्यापार की सूक्ष्म अर्थवत्ता की पहचान कराई और आस्तिक भाव की पूरी सँभाल रखी।'[8] आचार्य केशवदास जी ने कविता को गंगा जल के उदाहरण द्वारा निर्दोष होने की स्थिति में ही शोभनीय माना है। उनकी दृष्टि में कविता वनिता और मित्र अलंकार के बिना सुशोभित नहीं होते–

अलंकार कवितानि को सुनि–सुनि विविध विचार।
कविप्रिया से सब करी कविता को सिंगार।
राजत रंचन दोषजुत कविता वनिता मित्र।
बुंदक हालाहोत ज्यों गंगाघट अपवित्र।
जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनुन बिराहज हीं कबिता बनिता मित्र।[9]

अप्रस्तुत योजना का आधार साम्य है और साम्यमूलक अलंकारों में काव्य कला कुशल कवि का उद्देश्य केवल वैचित्र्यमयी अतिशयता का प्रदर्शन ही नहीं होता, अपितु वह अनुभूति की प्रगाढ़ सघनता को भी इसके माध्यम से सहज रूप में अभिव्यंजित करना चाहता है। कभी–कभी कथन के वैचित्र्य एवं वक्रता के कारणप्राप्त आनंद प्रयत्न साध्य होने पर भी रुचिकर प्रतीत होता है। यही वह तत्त्व है, जिसके आश्रय से अप्रिय से अप्रिय तथ्य भी प्रियतर से प्रियतर रूप में कहा जा सकता है और किसी को भी किसी भी समय प्रभावित किया जा सकता है। प्रमाण के लिए रीति कालीन आचार्य कवि पद्माकर के जीवन से संबंधित घटना

अवलोकनीय है। कहा जाता है कि पद्माकर जब दूसरी बार जयपुर पहुँचे तब 'उन दिनों तत्कालीन नृपति जगतसिंह से मिलना बड़ा कठिन था वे राजभोग में लगे हुए थे। इन्होंने उनसे मिलने की अद्‍भुत युक्ति निकाली। जगतसिंह गुरु से कविता का भी कुछ अभ्यास किया करते थे। उनके गुरु एक समस्या की पूर्ति में कई दिनों से उलझे थे, क्योंकि उसका काफ़िया तंग था। इन्होंने किसी प्रकार समस्या का पता लगाया और पूर्ति की। समस्या थी–'सारे नभमंडल में भारगव चंद्रमा'। समस्यापूर्ति लेकर ये गुरु शिष्य के समीप पहुँचे और पढ़ सुनाया। समस्यापूर्ति सुनकर वे लोग अवाक् रह गए। परिचय पूछने पर इन्होंने अपने को पद्माकर कवि का साईस बताया और दूसरे दिन सभा में स्वामी को उपस्थित करने का का वचन दिया। राजसभा में पहुँचकर इन्होंने अपने परिचय का कवित्त पढ़ा।' महाराज ने प्रसन्न होकर पद्माकर को अपना राजकवि बना लिया। [10] इनके द्वारा विरचित उपर्युक्त समस्यापूर्ति का कवित्त इस प्रकार है–

संभु के अधर माहिं काहे की सुरेख राजै
गाई जातिरागिनी सुकौन सुरमंद्रमा।
देत छवि को है कोकनद में, नदी में कहो
नखत बिराजै कौन निसि में अतन्द्रमा।
एकदृग को है कौन बर्नन असंभवित
घटै बढ़ै सो तो दिन पाय पाय पंद्रमा।
कालीजू के कज्जल की ललित लुनाई, सो तो
सारे नभमंडल में भारगव चंद्रमा। [11]

प्रभात में चंद्रमा के समान चमकते हुए मुखमंडल युक्त पार्वती ने उषा की लालिमा से अनुरंजित वातावरण में जब काली के राग-रंग से अनुरंजित शंकर के लाल अधरों पर काली के तीक्ष्ण नेत्र-कोरकों पर विद्यमान काजल की रेखा को दमकते हुए देखा, तब उन्होंने शंकर से प्रश्न किया कि उनके अधरों पर किसके काजल की सुंदर देखा सुशोभित हो रही है? आज ऐसा कौन सा सुख मिल गया है, जिसके कारण अनुराग के मंद्र स्वर में रागिनी गुनगुनाई जा रही है, यह लालिमा और नीलिमा कौनसी है, जो कि मुख-कमल और भावनाओं के जल में बिंबित-प्रतिबिंबित होकर सुशोभित हो रही है? श्यामल तन्द्रा रहित वक्षस्थल पर लगे नख-क्षत नक्षत्रों के रूप में किसकी मिलनयामिनी की सूचना दे रहे हैं? सदैव आवेश के कारण बंद रहनेवाला और कामदेव को भस्म करने वाला यह एक तीसरा नेत्र इतना आनंद मग्न क्यों है? ऐसा प्रतीत होता है कि इससे वरदान पाकर कामदेव ही इसके रूप में दिन के चरणों के आश्रय से पूर्णिमा को अथवा पूर्ण प्रसन्नता को प्राप्त करने में सफल हो गया है। इसीलिए पार्वती का मुखमंडल शंकर के अधरों पर लगी हुई ललित लावण्यमयी काजल की रेखा रूपी शुक्रतारा को देखकर प्रभातकालीन लालिमा से युक्त चंद्रमा के रूप में क्रोध से तमतमाया हुआ प्रतीत हो रहा है। 'रोष में अनुराग, कालिमा में लालिमा, गर्व में उपहास, भार्गवी में भार्गव रूप को कवि ने छंद की परिथि में समेटकर मानों अपने विराट को समेट लिया है। आशुता और रचना-क्षमता की यह कलादर्शनीय है।' [12] यमक, अनुप्रास, दृष्टांत, रूपकातिशयोक्ति इत्यादि अलंकारों के माध्यम से प्रयुक्त उपर्युक्त अप्रस्तुत योजना अत्यंत चमत्कारपूर्ण होने के साथ-साथ रीतिकालीन साहित्यिक जीवन का भी परिचय देती है, जिसमें समस्यापूर्ति इत्यादि के माध्यम

से कवि की रचना कुशलता, राजसम्मान और आजीविका के साथधन की अभिवृद्धि भी होती थी। जब पद्माकर राजदरबार में पुनः बुलाए गए, तब उन्होंने निम्नलिखित आत्मपरिचयात्मक कवित्त पढ़कर अपनी अद्भुत काव्य-सृजन-क्षमता को स्पष्ट कर दिया–

भट्ट तिलंगाने को बुंदेलखंड बासी कवि
सुजस प्रकासी पद्माकर सुनामा हौं।
जोरत कवित्त छंद छप्पय अनेक भाँति,
संस्कृत प्राकृत पढ़े जुगुन ग्रामा हौं।
हयरथ पालकी गायंद गृह ग्रामचारू
आखर लगाय लेत लाखन की सामा हौं
मेरे जान मेरे तु कान्ह हौ जगतसिंह
तेरे जान तेरे वह विप्र हौं सुदामा हौं। [13]

कृष्ण और सुदामा हमारे सांस्कृतिक जीवन में धनधान्य संपन्न दानवीर और दान लेने योग्य अत्यंत दरिद्र व्यक्ति के प्रतीक बन गए हैं। इन दोनों अप्रस्तुतों के माध्यम से कवि ने महाराजा जगत सिंह की प्रशंसा के साथ-साथ अपनी सुपात्रता और पूर्व मैत्रीभाव भी सूचित कर दिया है। रीतिकाल के वैभव-विलासपूर्ण वातावरण में, जिसमें एक से एक बढ़कर कुशल कवि और कलाकार अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखा रहे थे, पद्माकर को मिलने वाले सम्मान का बहुत कुछ श्रेय उनके द्वारा प्रयुक्त व्यापक अर्थगर्भित अप्रस्तुत तथा तद्जनित मनहरण प्रभाव शीलता को जाता है। रीतिकाल में गुणवान होने का लक्षण ही चमत्कारशीलता और राजकीय प्रसन्नता था। यह उस सार्थक अप्रस्तुत योजना का ही वैशिष्ट्य था, जिसने पद्माकर को 'राजकवि' और 'कविराज' का महत्त्वपूर्ण पद प्रदान कराया। इस संदर्भ में महाकवि बिहारी लाल जी की चर्चा करना भी उचित प्रतीत होता है। उनका निम्नलिखित दोहा अन्योक्तिपूर्ण अप्रस्तुत योजना की दृष्टि से संपूर्ण हिंदी-साहित्य में अत्यंत आदर के साथ पढ़ा जाता है–

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं बिकासु हहिंकाला
अलीकली ही सौं बंध्यौ, आगैं कौन हवाल। [14]

मुग्धासक्त प्रेमी महाराजा जयसिंह को शिक्षा देने के लिए लिखे गए इस दोहे में कवि द्वारा प्रयुक्त अप्रस्तुत 'अली' और 'कली' नई-नवेली महारानी और रस-ग्रहण करने में कुशल और प्रेमासक्त राजा के आचरण को निरूपित करने में पूर्णतया सटीक सिद्ध हुएहैं, 'आगैं कौन हवाल' में भविष्य के अनिष्ट की संभावनाएँ भी प्रस्तुत कर दी गई हैं। पंडित पद्मसिंह शर्मा ने इसकी समालोचना करते हुए लिखा है कि 'भौंरे के लिए बिहारी की हित-चिंता बहुत ही गंभीर, मधुर और हृदय-स्पर्शी है। न इसमें तटस्थता की झलक है, न रसपान का प्रकारोपदेश है। न एक अनखिली कली को छोड़कर खिली क्यारियों में खुल खेलने की छुट्टी है। वाह! विषयासक्त मित्र के भावी अनर्थ की चिंता से व्याकुल सुहृज्जन की चिंतोक्ति का क्या ही सुंदर चित्र है। कहने वाले की एकांत हितैषिणा, परिणामदर्शिता, विषयायक्त मित्र के उद्धार की गंभीर चिंता के भाव इससे अच्छे ढंग पर किसी प्रकार प्रकट नहीं किए जा सकते।' [15] अप्रस्तुत योजना से कविता के प्रभाव में असाधारण श्रीवृद्धि होती है। इसका सबसे अच्छा प्रमाण उपर्युक्त दोहा है। पंडित जी ने इसके आगे लिखा है कि 'बिहारी के दोहे ने अपने मदांध भौंरे पर जो अद्भुत

चमत्कार दिखाया, वह जगत्प्रसिद्ध है। जो काम राजनीति धुरंधर बड़े-बड़े मंत्रियों का मंत्र न कर सका, वह बिहारी ने इस दोहे के जादू से कर दिखाया। राजा मिर्जा जयसिंह को अंत:पुर की 'अनखिली कली' के बंधन से छुड़कार फिर सिंहासन पर सबके सामने लाकर आसीन कर दिया।' [16] कला एवं काव्य हमारी दिवास्वप्नवत दमित आकांक्षाओं की तृप्ति का साधन हैं। इनके सृजन कर्त्ता कवि और कलाकार स्वभाव से ही 'न्यूरोटिक' होते हैं और किसी न्यूरोटिक के अनुरूप ही अपनी अतृप्त आकांक्षाओं को लिए हुए ज़िंदगी की असलियत से दूर एक कल्पना-लोक अर्थात् मन:कल्प का निर्माण कर लेते हैं; जहाँ से 'न्यूरोसिस' को दिशा मिलना प्रारंभ हो जाती है, फिर भी वह पूरी तरह न्यूरोटिक बनने में सफल नहीं होता है, क्योंकि उसके पास इस स्थिति से ऊपर उठकर उन्नयन करने की सशक्त सामर्थ्य और सुयोग्यता सदैव विद्यमान है, इसलिए वह फिर से यथार्थ जगत की असली ज़िंदगी में लौट आता है। वह अपने दिवास्वप्नों को इस प्रकार विस्तृत करने का प्रयत्न करता, जिससे वे अपने नितांत वैयक्तिक स्वरूप से उन्मुक्त होकर उन्नयित होने में समर्थ हो जाते हैं। प्रकारांतर से उसमें अपने दिवास्वप्नों को छिपाने की कला सामान्य लोगों की अपेक्षा अधिक और आकर्षक रूप में विद्यमान होती है। उसमें एक विशेष प्रकार की रहस्यात्मक सामर्थ्य सृजित होती रहती है, जिससे वह अपने मन:कल्प के विचारों को ईमानदारी से अभिव्यंजित करने में सफल होता है। यही नहीं मन:कल्पात्मक जीवन के अहसास में एक सशक्त आनंद कोश समाहित करने की सुयोग्यता भी उसमें यथेष्ट मात्रा में निहित रहती है। यही सुयोग्यता अप्रस्तुतों के सृजन की परिकल्पना का आधार है। इसके माध्यम से विशेष रूप ग्राह्य अप्रस्तुत योजना दमित आकांक्षाओं की तृप्ति का अत्यंत सुंदर प्रयास है। जिससे कवि के भीतर असामान्य सृजन प्रतिभा के राग विराग का उल्लास विकसित होता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार बिहारी 'रसिक जीव थे, पर इनकी रसिकता नागरिक जीवन की रसिकता थी। यद्यपि इन्होंने अपने काव्य के लिए वर्ण्य विषय जीवन की सामान्य लोक-भूमि से ही लिया था, और यदि इनकी अप्रस्तुत योजनाओं पर विचार किया जाए तो भी ये परंपरागत कुछ रूढ़ियों को छोड़कर सामान्य जीवन से संगृहीत हैं, तथापि इनका जीवन था नागरिक जीवन ही, क्योंकि साधारण जीवन के माधर्यु में इनकी वृत्ति रमती नहीं थी। ये नागरता के नाम पर बराबर रोते रहे। इनका स्वभाव भी नागरिकों का सा ही विनोदी और व्यंग्य प्रिय था।' [17] बिहारी की गागर में सागर भरने की कला के विकास में भी बहुत कुछ योगदान उनकी अप्रस्तुत योजना का है। उनका समस्त मानसोल्लास दोहा छंद के लघु कलेवर में निहित होकर रीतिकालीन चमत्कारशील काव्य प्रवृत्ति का प्रतीक बन गया है। वैसे इस परंपरा का प्रारंभ आचार्य केशवदास से हुआ था। आचार्य राम चंद्रशुक्ल के शब्दों में यदि कहें तो केशव काव्य में 'अलंकारों का स्थान प्रधान समझने वाले चमत्कार वादी कवि थे। उनकी इस मनोवृत्ति के कारण हिंदी साहित्य के इतिहास में एक विचित्र संयोग घटित हुआ। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विकासक्रम की एक संक्षिप्त उद्धरणी हो गई। साहित्य की मीमांसा क्रमश: बढ़ते-बढ़ते जिस स्थिति पर पहुँच गई थी। उस स्थिति से सामग्री न लेकर केशव ने उससे पूर्व की स्थिति से सामग्री ली। उन्हांने हिंदी पाठकों को काव्यांग निरूपण की उस पूर्व दशा का परिचय कराया, जो भामह और उद्भट के समय में थी।' [18] धीरे-धीरे रीति-ग्रंथों की परंपरा चल पड़ी और भक्ति-काव्य की परिणति घोर शृंगार में होती चली गई। धार्मिक भावना

का प्रवाह तिरोहित होता गया और राधिका कन्हाई का स्मरण करने के लिए नायिकाओं के नख-शिख, रतिरहस्य तथा काम के लिए तक का उत्तेजक वर्णन प्रारंभ हो गया। रामभक्ति काव्यधारा भी शृंगार वर्णन के इस प्रभाव से मधुर भाव की उपासना की ओर आकर्षित हुई। 'रसिक संप्रदाय के प्रवर्त्तन से रामभक्ति में मधुरोपासना का समावेश हुआ और राम-सीता की लीलाओं का वर्णन उसी मनोयोग से किया जाने लगा, जिस प्रकार राधा-कृष्ण की लीलाओं का किया जा रहा था। इस युग के सूफी संत एवं कवि भी इस काल के विलासपरक प्रभाव से अलग न रह सके। उनके काव्यों में आध्यात्मिक संकेत धीरे-धीरे समाप्त होने लगे और सूक्ष्म शृंगार नख-शिख वर्णन एवं नायिका भेद आदि का समावेश होने लगा।' [19] कविगण राज्याश्रित हो गए और अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए उनकी इच्छानुसार काव्य-रचना करने लगे। इस काव्य-धारा के अधिकांश कवियों को एक बँधी हुई परंपरा 'रीति' का अनुगमन करना पड़ा। वे सैद्धांतिक रूप से स्वीकार करते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से साहित्य के उच्च लक्ष्य को भूलने लगे और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में से अर्थ और काम को सब-कुछ कहते हुए भी उन्हें अभीष्ट मानकर काव्य-सृजन में संलग्न हो गए। यद्यपि कभी-कभी उन्हें अपनी इस दशा पर ग्लानि भी होती थी, फिर भी समय और समाज के बंधन में फँसकर ज्यों-ज्यों उन्होंने इससे सुलझने का प्रयास किया त्यों-त्यों और अधिक उलझते चले गए। बिहारी लाल जी ने संभवतः इस मनोवृत्ति को लक्ष्य करके 'कुरंग' अप्रस्तुत का प्रयोग करते हुए निम्नलिखित अन्योक्ति कही है–

को छूट्यौ इहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यौ चहत, त्यौं-त्यौं उरझत जात। [20]

डॉ॰ श्याम सुंदरदास का कथन है कि 'उनमें कहीं उच्चातिउच्च भावनाएँ कलुषित प्रसंगों के पास ही खड़ी हैं, तो कहीं सौंदर्य और प्रेम के मर्मस्पर्शी उद्‌गार अतिश्योक्ति और बात की करामात से घिरे हुए हैं। कहीं उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के बोझ से वास्तविक बात दब गई है, तो कहीं श्लेष की ऊटपटाँग योजना भानमती का पिटारा दिखला रही है।, जैसे किसी को कुछ कहना ही न हो, कविता केवल दिल बहलाव, गपशप या ऐयाशों की बहक के लिए हुंकारी हो। यह सब होते हुए भी प्रतिभावान कवियों की कृतियाँ रीति की सामान्य शैली से बहुत ऊपर उठकर मुक्तक छंदों में जैसी सुंदर और तीव्र भावना प्रकट करती हैं, उससे कवियों के हार्दिक आंदोलन का पता लगाया जा सकता है। कुछ कवियों ने प्रेम के सूक्ष्म तत्त्व का निरूपण भी किया है। ऐसे कवियों का स्थान सौंदर्य सृष्टा मौलिक साहित्यकारों के बीच चिरकाल तक रहेगा।' [21] आचार्य केशवदास जी का चमत्कार प्रदर्शन, बिहारी काल का गागर में सागर, मतिराम, देव, भिखारी दास, रसलीन, पद्‌माकर इत्यादि का सरस एवं चमत्कारपूर्ण उक्ति वैचित्र्य विलसित शृंगार वर्णन, ऋतुवर्णन, भूषण का वीरकाव्य, घनानंद की विरह-विथा, और उसका कारण 'सुजान प्रिया' का तरल सरल, मादक सौंदर्य तथा ठाकुर की सहज लोकानुभव से परिपूर्ण उक्तियाँ रीतिकालीन कविता का अक्षय वैभव हैं। इन सब कवियों ने हिंदीकाव्य को कलापक्ष के क्षेत्र में ही नहीं, भावपक्ष के क्षेत्र में भी पर्याप्त सौंदर्य राशि प्रदान की है। रीतिकाव्य के कला-कलित ललित सरोवर में इनकी रचनाएँ कमल-राशि के समान मनोहर एवं आनंदवर्द्धक हैं, जिन पर साहित्य रस-रसिक पाठक भ्रमर के समान लुब्ध होते

दिखाई पड़ते हैं। अपने भोगमूलक दृष्टिकोण के कारण अधिकांश कवियों की दृष्टि रूप और प्रेम का उद्दीपन करनेवाले अप्रस्तुतों पर ही अधिक रही हैं। आश्रयदाताओं की प्रशंसा, ऋतुवर्णन और उत्सव वर्णन, भक्ति तथा नीति इत्यादि विषयों के वर्णन में भी उन्होंने अपनी काव्य कुशलता का परिचय अप्रस्तुतों के माध्यम से दिया है। इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है–

आश्रयदाताओं की प्रशंसा :

रीतिकाव्य का अधिकांश भाग आश्रयदाता राजा-महाराजा और सामंतों की छत्र-छाया में विरचित हुआ हैं। प्रत्येक कवि अपने आश्रयदाता की प्रशंसा करना अपना कर्त्तव्य समझता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में ऐसे बहुत से कार्य जो मनुष्य को कर्म विमुख या सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन निर्वाह के दायित्वों से उदासीन बनाया करते थे, अर्थोपार्जन का महत्त्वपूर्ण साधन बन गए थे। काव्य सृजन भी उन्हीं में से एक था। जीविकोपार्जन के अन्य साधनों की अपेक्षा जब काव्य-रचना एक सुलभ और एकमात्र साधान रह गया हो तो, प्रशंसा और काव्यात्मकता के द्वारा कलात्मकता में परिवर्तन लाना अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि तब कविता का संबंध मानव अस्तित्व से जुड़ जाता है। एक ही कवि द्वारा अनेक राजाओं तथा सामंतों इत्यादि के दरबार में जाकर काव्य-पाठ करना और उनसे अधिक से अधिक धनोपार्जन की लालसा आर्थिक तंगी का परिणाम माना जा सकता है। इसके लिए ये सुकवि शिरोमणि अपने सामान्य से आश्रयदाताओं को भी आसमान पर चढ़ाने के लिए इस प्रकार तत्पर रहते थे , कि उनकी प्रसन्नता हेतु रची गई उक्तियाँ अधिक से अधिक धन वर्षा का हेतु बन जाए। प्रमाण के लिए आचार्य कवि मतिराम द्वारा उल्लेख अलंकार के उदाहरण के रूप में की गई राव राजा भाव सिंह की प्रशस्ति देखिए–

कविजन कलपद्रुम कहैं ज्ञानी ज्ञान समुद्र।
दुरजन के गन कहत हैं भावसिंह रनरुद्र। [22]

इस दोहे में राजा भावसिंह के लिए 'कलपद्रुम', 'ज्ञानसमुद्र' और 'रनरुद्र' अप्रस्तुत गुण साम्य के आधार पर प्रयुक्त हुए हैं। इनमें प्रशंसा एवं चमत्कार प्रदर्शन की प्रबल संभावना निश्चित रूप से विद्यमान है। किंतु यथार्थ गुण सादृश्य बहुत कम है। फिर भी इतना तो मानना ही चाहिए कि तत्कालीन कवि जन इस प्रकार की काव्य-रचना में काफ़ी परिश्रम करते होंगे, क्योंकि यही उनकी जीवन-वृत्ति और सामाजिक-सम्मान का आधार था। उल्लेख अलंकार के 'द्वितीयोदाहरण' में भी मतिराम जी ने लिखा है–

सत्ता को सपूत राव संगर को हिंसा सो है
जैतवार जगत करेरी किरवान को।
कहै मतिराम अवलंब राजैधरम को
महोदधि मरजाद मेरु परिमान को
कीरति की कौमुदी सुहाई छिति छोरनि लौं
विमल कलानिधि है कुल चहुवान को
दानि कलपद्रुम सुजान मनि भावसिंह
भानु भूमितल को दिवान हिंदुवान को। [23]

राजा भावसिंह युद्ध वीरता और दानवीरता को प्रदर्शित करने के प्रयुक्त सभी अप्रस्तुत तत्कालीन कवि समाज में परिव्याप्त प्रशस्ति गान का उत्कृष्ट रूप प्रदर्शित करते हैं। 'कलपद्रुम', 'भूमितलकोभानु', 'विमल कलानिधि', 'महोदधि' और 'मेरु' इत्यादि प्रयोगों में आश्रय दाता को प्रसन्न करने की कला कुशलता के साथ-साथ उसे अतिशय सम्मान देने की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। बूँदी राज्य के इतिहास में यह तथ्य बहुत स्पष्ट रूप से वर्णित है कि राव राजभाऊ सिंह (भावसिंह) काफ़ी उदार स्वभाव के थे। उनकी दानशीलता की चर्चा तत्कालीन इतिहास लेखकों ने भी की है। भारतीय राज-परिवारों में 'गजदान' का विशेष गौरव है। 'शायद बूँदी राजघराने के समान गजदान करने का सौभाग्य तत्कालीन दिल्लीश्वर को छोड़कर और किसी भी राजघराने को प्राप्त नहीं हो सका था। भाऊ सिंह जी के पूर्वज छत्रसाल जी ने अपने विवाह में जो कि उदयपुर में हुआ था, इतना दान किया कि लोग आश्चर्य चकित रह गए थे। बूँदी के इतिहास से पता चलता है कि दान में दिए जाने वाले अकेले हाथियों की संख्या ही सात सौ थी। भाऊसिंह जी अपने पूर्वजों के ऐसे गौरव को भुलाने वाले पुरुषों में न थे। गजदान करने में उन्होंने भी अपने हृदय को कभी कुंठित नहीं किया।'[24] मतिराम ने अभिन्न रूपक में अधिकता सूचक शब्द जोड़कर हाथी के लिए परंपरागत रूप से प्रयुक्त 'पहाड़' अप्रस्तुत को 'सजीव पहार' के रूप में नया प्रशस्तिपरक प्रयोग करने का प्रयास किया है–

जंग में नीर कठोर महा मदनीर झरै झरना सरसे हैं।
झूलनि रंग घने मतिराम महीरुह फूल प्रभा निकसे हैं।
सुंदर सिंदुरमंडित कुंभनि गैरिक श्रृंग उतंग से हैं।
भाऊ दिवान उदार अपार सजीव पहार करी बकसे हैं।[25]

महाकवि बिहारीलाल ने अपने आश्रय दाता को राजकाज सँभालने के लिए निर्भीक भाव से परामर्श भी दिया है और उसका प्रशस्ति पाठ भी प्रस्तुत किया है–

यों दल काढ़े बलक तैं तैं जयसिंह भुवाल।
उदर अधासुर कैं परैं ज्यों हरिगाइ गुवाल।[26]

इस दोहे में मिर्ज़ा राजा जयसिंह के लिए 'हरि' अर्थात् श्रीकृष्ण, बलक या बलख के लिए 'अघासुर का उदर' तथा बादशाही सेना के लिए 'गाइ और गुवाल' अप्रस्तुत का प्रयोग उदाहरण अलंकार के माध्यम से किया गया है। ये अप्रस्तुत प्रशंसा की दृष्टि से तो निश्चित रूप से पुरस्कार योग्य हैं किंतु मुगल सम्राट की अधीनता में रहकर वीरता का प्रदर्शन करने वाले महाराज के लिए श्रीकृष्ण के उदाहरण रूप में ग्रहण करना बहुत कम, औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। फिर भी कहीं न कहीं गुण और कार्य का साम्य निश्चित रूप से है। यह एक ऐतिहासिक घटना है। 'सन्‌ 1647 ई० में शाहजहाँ की आज्ञानुसार औरंगजेब ने, जोकि उस समय दक्षिण का सूबेदार था बलख पर चढ़ाई की थी। उसके साथ मिर्जा राजाजय शाही भी थे। उस चढ़ाई में सफलता प्राप्त नहीं हुई और शत्रु के आक्रमणों से ऐसी विपत्ति उपस्थित हुई कि औरंगजेव को अक्टूबर मास में वहाँ से लौटना पड़ा और वह 27 अक्टूबर को यहाँ से काबुल पहुँच गया, पर उसकी सेना मिर्जाराजा जयशाही के साथ पीछे रह गई, जो बड़ी कठिनता तथा आपत्तियाँ झेलने के पश्चात 10 नवंबर को काबुल पहुँची। सेना को बर्फ़ तथा शत्रुओं से बचाकर निकाल लाने में जयशाही ने बड़ी ही बुद्धिमानी तथा वीरता दिखाई थी।'[27] आमेरगढ़ में मिर्ज़ा

राजा जयसिंह के द्वारा एक शीशमहल का निर्माण कराया गया था। उसमें छोटे-छोटे शीशे इस प्रकार जड़े हुए हैं कि उनमें बिंब-प्रतिबिंब पड़कर एक मनुष्य के अगणित श्रेणीबद्ध रूप परिलक्षित होते हैं। राजा जयसिंह के सौंदर्य तथा शीशमहल की प्रशंसा करते हुए कवि ने राजा के 'कामदेव' और शीशमहल के लिए काव्य व्यूह अप्रस्तुत का प्रयोग उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से किया है–

प्रतिबिंबित जयसाहि दुति दीपति दरपन धाम।
सबु जगु जीतन कौं करयौ काव्य-व्यूह मनु काम।[28]

युद्ध के लिए सैनिकों के किसी विशेष शृंखला या आकार की स्थिति में खड़े होने को व्यूह कहते हैं। इसी का अन्य नाम मोरचा भी है। यहाँ पर 'कायव्यूह' से तात्पर्य नायिकाओं के शरीरों का मोरचा या व्यूह है, जोकि तत्कालीन राजनीतिक तथा विलासपूर्ण जीवन की भोग-प्रवृत्ति का परिचायक है। कविवर पद्माकर एक नहीं, कई आश्रयदाताओं के यहाँ जाते थे। इनमें अनूप गिरि हिम्मत बहादुर, अर्जुनसिंह, प्रतापसिंह, जगतसिंह, परीक्षित, रघुनाथराव, दौलतराव सिंधिया, रतनसिंह आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इससे उनकी लोकप्रियता तथा कविकर्म की कुशलता का प्रमाण मिलता है। राजा जगतसिंह की प्रशंसा में लिखा गया छंद देखिए–

प्रबल प्रताप कुलदीपक छता के पुन्य,
पालक पिता के रामराजा ज्यों भगतराज।
कान्ह अवतार बैरी-वारिधि मथन काज,
सील के जहाज बली विक्रम तखत राज।
म्लेच्छ-अंधकार मेटिबे को मारतंड दिन
दूलह दुनी के हिंदु जन के नखत राज।
पारथ से पृथु से परिच्छित पुरंदर से
जादौ से जजाति से जनक से जगतराज।[29]

इस छंद में कवि ने मालोपमा अलंकार के माध्यम से 'रामराजा', 'कान्ह अवतार', 'जहाज', 'बिक्रम तखतराज', 'मारतंड', 'दूलह', 'नखतराज', 'पारथ', 'पृथु', 'पारीच्छित', 'पुरंदर', 'जादौ', 'जजाति' और 'जनक' अप्रस्तुतों की योजना की है। 'वारिधि' तथा 'अंधकार' अप्रस्तुतों में रूपक अलंकार भी दिखाई देता है। इन सभी अप्रस्तुतों में अतिरंजना है। वैसे इनका उद्‌देश्य खुशामद में आमद तो है ही। रीतिकाल के व्यापक प्रशस्ति काव्य में जहाँ अतिशयोक्ति ही प्रतिष्ठा का साधन है, पद्माकर के परंपरागत अप्रस्तुतों में अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक प्रभाव निश्चित रूप से है और उनका कवि कर्म भी अपेक्षाकृत सराहनीय है, इसीलिए तो उन्हें आश्रयदाताओं की छत्र-छाया और मान-सम्मान प्राप्त हुआ। यहाँ महाकविभूषण के प्रशस्ति काव्य की चर्चा भी आवश्यक है। उनके काव्य में बहुत कुछ सच्चाई भी है और प्रशस्ति भी। छत्रपति शिवाजी की प्रशंसा का एक उदाहरण देखिए–

इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअंभ पर
रावन सदंभ पर, रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह पर, संभुरति नाह पर

ज्यों सहसबाहु पर, राम द्विजराज है
दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगझुंड पर
भूषन वितुंड पर, जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलिच्छ बंस पर, सेर सिवराज है। [30]

मालोपमा अलंकार के माध्यम से गृहीत उपर्युक्त अप्रस्तुत योजना में 'मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज' प्रस्तुत है, और अप्रस्तुत हैं– 'इंद्रजिमि जंभ पर', 'बाड़व सुअंभ पर', 'रावन संदभ पर रघुकुल राज', 'पौन वारिवाह पर', 'संभुरतिनाह पर', 'सहसबाहु पर राम द्विजराज', 'द्रुमदंड पर दावा', 'मृगझुंड पर चीता', 'वितुंड पर मृगराज, 'तमअंस पर तेज' और 'कान्ह कंस पर' ये सभी अप्रस्तुत साधर्म्य के आधार पर प्रयुक्त हुए हैं। इनसे छत्रपति शिवाजी के प्रभाव की भी सुंदर अभिव्यंजना हुई है। छत्रपति शिवाजी का शौर्य और औरंगजेब की सेना के विनाश हेतु प्रदर्शित अदम्य साहस एवं शक्ति प्रदर्शन इतिहास प्रसिद्ध है। अत: अतिरंजनात्मक वर्णन होते हुए भी कवि का उपर्युक्त अप्रस्तुत प्रयोग सार्थक प्रतीत होता है। मिश्रबंधुओं ने लिखा है कि 'यद्यपि वर्तमान समय की दृष्टि से इस कवि की मुसलमानों के प्रति कटूक्तियाँ अनुचित एवं विषयगर्भित ज्ञात होती हैं, तथापि हम लोगों को इनकी कविता को इस दृष्टि से न जाँचना चाहिए। उस समय औरंगजेब के अधम बर्ता के कारण हिंदू-मुसलमानों में मूषक मार्जार की भाँति स्वाभाविक शत्रुता थी। अत: इन्होंने चाहे जो कुछ कहा, उस समय वह अनुचित न था। फिर उस काल में शत्रुओं के विषय में परम कटु शब्द कहने की कुछ रीति-सी पड़ गई थी, यहाँ तक कि मुसलमान इतिहासकार शिवाजी एवं मुसलमानों के अन्य शत्रुओं के विषय में साधारणत: यों लिखा करते थे कि वह 'कुत्ता खाँ साहब से पूना में लड़ा', 'उस कुत्ते ने' अमुक स्थान पर अमुक खाँ साहब से लड़कर पराजय पाई।' [31] भूषण ने छत्रसाल हाड़ा बूँदी नरेश का प्रशस्तिगान भी अत्यंत उच्च स्वर में किया है। ये राव रतन सिंह के पौत्र और महाराज गोपीनाथ के सुपुत्र थे कहा जाता है कि इन्होंने बावन लड़ाइयाँ लड़ी थीं। सन 1658 ई॰ की धौलपुर में हुई दारा तथा औरंगजेब की लड़ाई में ये दारा के साथ ये सेना के अग्रभाग (हरावल) में थे। उसी में वीरगति को प्राप्त हुए। भूषण ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है–

चले चंद बान धनबान औ कुहुक बान
चलत कमान धूम आसमान छै रहो।
चली जमडढ़ैं बाढ़ बारैं तरवारैं जहाँ
लोह आँच जेठ के तरनि मान वै रहो।
ऐसे समै फौजैं विचलाईं छत्रसाल सिंह
अरिकेचलाए पाँय बीर रस च्वै रहो।
हय चले हाथी चले संग छोड़ि साथी चले,
ऐसे चला चली मैं अचल हाड़ ह्वै रहो। [32]

पूर्णोपमा, दीपक, परिसंख्या और पर्याय अलंकार से विभूषित उपर्युक्त छंद में हाड़ा अर्थात् छत्रसाल साल बूँदी नरेश के लिए 'अचल' या पहाड़ अप्रस्तुत का अत्यंत सटीक प्रयोग किया गया है। दूसरे छत्रसाल बुंदेला महेवानरेश अत्यंत प्रसिद्ध तलबारवाज थे। उनकी

तलवारवाजी की प्रशंसा करते हुए कवि ने लिखा है–

निकसत म्यान ते मयूखैं प्रलै भानु-कैसी
कारैं तम-तोम-से गयंदन के जाल को।
लागति लपटि कंठ बैरिन के नागिनि-सी
रुद्रहि रिझावै दै-दै मुंडन के माल को।
लाल छितिपाल छत्रसाल महा बाहुबली,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करबाल को।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि-काटि
कालिका-सी किलकि कलेऊ देति काल को। [33]

इस कवित्त में मालोपमा अलंकार के माध्यम से 'तम-तोम' नागिनी और 'कालिका' अप्रस्तुतों का अत्यंत सशक्त प्रयोग किया गया है। इनमें सादृश्य तथा साधर्म्य के साथ-साथ प्रभाव साम्य भी है। यहाँ रीतिकाल के प्रवर्त्तक आचार्य केसवदास जी की चर्चा भी आवश्यक है। उनका प्रशस्ति वर्णन अतिशयता पूर्ण भी है और वैचित्र्यपूर्ण भी–

अरिगन ईंधन जरि गए, जद्यपि केसौदास।
तदपि प्रताप नलनि को, पल-पल बढ़त प्रकास।
गुन-गन कौ आदरस सो, कमल मित्र कौं सूर।
सरनागत कौं सिंधु सो, अध को गंगा पूर।
सत्यलता कौं वृक्ष सो, क्षमा-दया को गेह।
दीनमीन मानस सबै जाचक-चातक मेह। [34]

इसमें केशवदास जी ने जहाँगीर के प्रतापरूपी अनल में शत्रुओं के भस्म होने के उपरांत भी पल-प्रतिपल उसके प्रकाश अर्थात् यश की अभिवृद्धि की चर्चा रूपक और विशेषोक्ति अलंकार के माध्यम से की है। मुगल सम्राट की तेजस्विता का यह अद्भुत रूप सर्वथा प्रशंसनीय है। जहाँगीर के प्रताप को निरूपित करने के लिए प्रयुक्त 'अनल' अप्रस्तुत प्रभाव साम्य के आधार पर परिकल्पित हुआ है। इसमें उक्ति वैचित्र्य भी सराहनीय है, जिसे अरिगण के लिए लाए गए 'ईंधन' के रूपक ने और अधिक सटीक बना दिया है। उसके लिए 'आदरस' अर्थात् दर्पण, 'सूर' अर्थात् सूर्य, सिंधु और गंगापूर अर्थात् गंगाप्रवाह अप्रस्तुत उल्लेख अलंकार के माध्यम से आए हैं। मित्र के लिए ग्रहण किया गया 'कमल' अप्रस्तुत कवि की सहज कल्पना शक्ति की उच्चता का द्योतक है। इसमें रूपक अलंकार है। इसी प्रकार सत्य के लिए 'लता' और जाचक के लिए 'चातक' अप्रस्तुत भी इसी अलंकार के द्वारा ग्रहण किए गए हैं। सम्राट के लिए 'वृक्ष', 'मानस' सरोबर और मेह अप्रस्तुतों में उल्लेख अलंकार है। दीन के लिए 'मीन' अप्रस्तुत में रूपक है। इनमें भी साधर्म्य और प्रभावासाम्य है। एक अन्य उदाहरण भी देखिए–

नल सो जगत दानी साँचो हरिचंदजू सो,
पृथु सोपरम पुरुषारथनि लेखियै।
बलि सो बिबेकी जु दधीच ऐसो धीर धरु,
साधु अंबरीषजू सो उर अवरेखियै।

भृगुपतिजू सो सूर हनुमंतजू सो जसी
केसौराय बिक्रम तें साहसी बिसेखियै।
साहिन को साहि जहाँगीर साहि धर-धाता,
दाता कीनो दूसरो बिधाता ऐसो देखियै। [35]

इसमें 'नल', 'हरिचंद', 'पृथु', 'बलि', 'अंबरीष', 'दधीच', 'भृगुपति', 'हनुमंत' तथा 'बिक्रम', अप्रस्तुत मालोपमा अलंकार के माध्यम से आए हैं और 'दूसरो विधाता' अप्रस्तुत का आधार 'समतद्रूप रूपक' है। ये सभी अप्रस्तुत अतिरंजनात्मक हैं और केवल सम्राट की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए प्रयोग में लाए गए हैं। फिर भी कवि कर्म और युगीन परिस्थितियों के कारण इनका महत्त्व असंदिग्ध है।

नायक-नायिका एवं नख-शिख वर्णन :

रीतिकालीन कवियों ने अपनी प्रतिभा का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन नायक-नायिका वर्णन तथा उनके नख-शिख वर्णन अर्थात् सौंदर्य प्रदर्शन में किया हैं यद्यपि उन्होंने नायिका-भेद की सामग्री संस्कृत साहित्य-शास्त्र से प्राप्त की है; फिर भी नायिकाओं के रूप वर्णन में उनका प्रयास मौलिक एवं प्रशंसनीय है। इसमें भी अप्रस्तुत-योजना में चमत्कार है और पूर्व परंपरा का अनुकरण भी है परंतु प्रयोग-वैचित्र्य एवं चित्रात्मक सौष्ठव ने अप्रस्तुतों को नवीनता का आवरण प्रदान करनेमें यथेष्ट सफलता प्राप्त की है। कुछ प्रयोग मौलिक भी हैं; जिनसे इन कवियों की सौंदर्यभिव्यंजनक कल्पना शक्ति का पर्याप्त परिचय मिल जाता है। आचार्य केशवदास जी द्वारा रचित निम्न कवित्त इस संदर्भ में अवलोकनीय है—

हँसत कहत बात फूल-से झरत जात
गूढ़ भूरि हाव-भाव कोक की सी कारिका।
पन्नगी-नगी कुमारि, आसुरी सुरी निहारि
डारौ वारि किन्नरी नरी गँवारि नारिका।
तापै हौं कहा ह्वै जाउँ, बलि जाऊँ केसोदास
रची बिधि एक ब्रजलोचन की तारिका।
भौंर-से भँवत, अभिलाष लाख भाँति दिव्य
चंपे की सी कली वृषभान की कुमारिका। [36]

इसमें 'कोक की कारिका' और चंपे की कली' अप्रस्तुत पद्मिनी नायिका 'वृषभान की कुमरिका' राधा के लिए और उनसे संबंधित नायक की 'अभिलाष' के लिए 'भौंर' अर्थात् भ्रमर तथा 'हंसत कहत बात' के लिए 'फूल' अप्रस्तुत मालोपमा अलंकार के माध्यम से ग्रहण किए हैं। ये अप्रस्तुत परंपरागत है; फिर भी प्रयोग-वैचित्र्य एवं बिंब योजना के कारण कवि की नई सूझ प्रतीत होते हैं। इनमें रूप, गुण, क्रिया के साथ-साथ प्रभाव साम्य का विशेष चमत्कार कवि द्वारा प्रयुक्त अर्थ सौष्ठव की दृष्टि से अवलोकनीय है। बिहारी लाल जी को तो इस दिशा में कमाल ही हासिल है—

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौं जोवन अंग।
दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता रंग। [37]

इस दोहे में तद्‌गुण अलंकार के माध्यम से नायिका की देह की दीप्ति को निरूपित करने के लिए 'ताफता रंग' अप्रस्तुत का उपयोग हुआ है। यह अप्रस्तुत नायिका की वय: संधि का निरूपण करने में पूर्ण समर्थ है और एक नया चमत्कार प्रदर्शित करता हुआ-सा दिखाई देता है। 'ताफता' एक प्रकार का रेशमी वस्त्र होता है, जिसका ताना और रंग का और बाना और रंग का होता है, जिसके कारण उसमें दोनों रंगों की झलक दिखाई देती है।यही स्थिति नायिका की है उसमें यौवन भी आया है और बचपन पहले से ही है। 'ताफता' फारसी भाषा का शब्द है। हिंदी में इसे 'धूप छाँह' कहते हैं। तत्कालीन समाज के उच्च वर्ग में इस प्रकार के वस्त्र का प्रचलन बहुत अधिक था। पद्‌माकर के नायिका वर्णन का एक उदाहरण देखिए–

जाहिरै जागत-सी जमुना जब बूड़ैं बहै उमहै वह बैनी।
त्यों पद्‌माकर हीर के हारन गंग तरंगन को सुख दैनी।
पाइन के रंग सों रँगि जात सो भाँति ही भाँति सरस्वति सैनी।
पैरे जहाँई जहाँ ब्रजबाल तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिवैनी। [38]

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार 'यदि किसी ने त्रिवेणी तट पर संगम के दर्शन किए हों, तो पद्‌माकर ने जो रमणीय दृश्य यहाँ अंकित किया है, उसे वह भली-भाँति हृदयंगम कर सकता है। वहाँ गंगा और यमुना की धाराएँ अलग-अलग प्रतीत होती हैं। संगम की रेखा इस प्रकार दोनों को विभाजित कर देती है, मानो सजल चित्र खिंचा हुआ हो। ब्रजबाल तैर रही है ताल में और वह जलाशय है, जल का तीर्थ है, कोई धार्मिक तीर्थ नहीं जिसका महात्म्य हो, पर उसके कारण वह ताल आज त्रिवेणी संगम हो गया, तीर्थराज बन गया। यमुना की नीलिमा ही नहीं दिखती है, गंगा से मिलती यमुना में आलिंगन-प्रवाह और उमंग की जैसी वृत्तियाँ प्रतीत होती हैं, वे वेणी के डूबने बहने और उमहने में हैं। गंगा-यमुना में तो मिली नहीं यमुना ही गंगा में जा मिली।' [39] प्राय: वेणी ही हारों से उलझने का कार्य अनचाहे ही करती है, हार कभी नहीं उलझते। हीरे के हार पानी में पड़े रहने के कारण कम दमकते हैं और नीलिमा दूर से ही चमकने लगती है। इसी प्रकार यमुना भी दूर से ही झलक जाती है। गंगा की तरंगों में यमुना से कहीं अधिक तीव्रता परिलक्षित होती है। उसकी धारा का स्वरूप विशेष प्रखरतापूर्ण है। उसमें यमुना मिलने के कारण आवेग में कमी आई और गति भी मंद हो गई है। इससे चंचलता कम हुई है। और कुछ स्थिरता आई और निरंतर गतिशील तरंगों को सुख मिला है। 'जहाँ एक ओर यमुना इतनी प्रत्यक्ष है, वहीं सरस्वती अप्रत्यक्ष है। पाँव में जो सहज रंग है उसमें सरस्वती सी' दिखने लगती है। उसका भान भर होता है, वह प्रत्यक्ष कहाँ होती है। 'भाँति ही भाँति' इसलिए कि अन्य रंगों के साथ उसका मेल होता है। कहना इतना ही है कि संगम के साथ उसकी समंजसता पूरी उतारी गई है। वेणी चोटी भी है और सरित्प्रवाह भी।' [40] इस प्रकार विविध वर्णों के संयोजन से त्रिवेणी' अप्रस्तुत का नयनाभिराम दृश्य उपस्थित करके कवि ने सुंदर नायिका का रूप वर्णन तद्‌गुण अलंकार के माध्यम से किया है। तुल्ययोगिता अलंकार के माध्यम से गृहीत अप्रस्तुत-योजना भी इस संदर्भ में अवलोकनीय है–

मुख ससि निरखि चकोर अरु, तन पानिप लखि मीन।
पद-पंकज देखत भ्रमर, होत नयन रसलीन। [41]

इसमें मुख के लिए 'ससि' और पद के लिए 'पंकज' तथा तन के लिए 'पानिप'

अप्रस्तुत सादृश्य और साधर्म्य के आधार पर ग्रहण किए गए हैं। 'रसलीन' और 'पनिप' में श्लेष है। मुख के सादृश्य एवं साधर्म्य हेतु आचार्य भिखारीदास द्वारा रचित निम्न उदाहरण देखिए–

चंद कहै तिय आनन सों, जिन कीमति बाँके बखान सों है रली।
आनन एकता चंद लखै मुख के लखे चंद गुमान घटै अली।
दासन आनन सों कहैं चंद दई सों भई यह बात न है भली।
ऐसो अनूप बनाइ कै आनन, राखिबे को ससि हू की कहा चली।'[42]

कवि ने इस अप्रस्तुत योजना में प्रतीप अलंकार के पाँच भेंदों का समावेश करके चमत्कार प्रदर्शन तथा अपनी काव्य-कुशलता प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। 'चंद' को 'तिय आनन' बताना प्रथम प्रतीप है। 'चंद' से नायिका में मुख की समानता की आकांक्षा रखना द्वितीय प्रतीप है। नायिका के मुख के दर्शन से 'चंद' का गुमान घटना तृतीय प्रतीप है और उसे मुख के समान न कह सकता चतुर्थ प्रतीय है। यही नहीं नायिका के सुंदर मुख के दर्शन के कारण चंद्रमा की उपयोगिता या आवश्यकता का समाप्त होना पंचम प्रतीप का उदाहरण है। इसमें कवि का प्रकांड पांडित्य एवं काव्यकला कौशल प्रदर्शित हुआ है। भ्रांतिमान से पुष्ट अपह्नुति अथवा भ्रांत्यापह्नुति अलंकार का चमत्कार भी यहाँ अवलोकनीय है; इससे कवि की उत्कृष्ट काव्य-सृजन क्षमता का प्रमाण भी मिलता है–

आनन है अरविंद न फूले अलीगन भूले कहा मड़रात है।
कीर तुम्हें कहा बाय लगी भ्रम बिंब के ओठ न को ललचात है
दास जू व्याली न बेनी बनाव है पापी कलापी कहा इतरात है
बोलती बाल न बाजती बीन कहा सिगरे मृग घेरत जात है।[43]

इस छंद में 'अरविंद', 'बिंब', 'व्याली' और 'बीन' अप्रस्तुत भ्रांतिमान और अपह्नुति के प्रयोग वैचित्र्य से रोचक तथा नायिका के सौंदर्य वर्णन में अत्यंत सटीक प्रतीत होते हैं। रीति स्वच्छंद कवि आलम ने भी नायिका का सौंदर्य वर्णन करते हुए लिखा है–

कुस भी पहरिये कुसुम के हार गूँथे,
केसरि कुसुम लखि लागैं दृग दूतरी।
अछराते आछी आछे चच्छु छवि छोरनि लौं,
आछी आछी काछी आँगी उरज अछूतरी।
आजही मैं देखी कबि आलम अकेली बाल,
चाँद सो अथैगो अबै अटा ही ते ऊतरी।
चितवन हू ते प्यारी हित वित बस करि
चित में समाय रही चित्र की सी पूतरी।[44]

आलम ने नायिका के अद्‌भुत सौंदर्य के निरूपण हेतु उपर्युक्त छंद में प्रतीप अलंकार के माध्यम से नायिका को 'अप्सरा' से भी श्रेष्ठ कहा गया है। उसकी अट्टालिका से उतरने की स्थिति को 'चाँद सो अथैगो' के द्वारा स्पष्ट करके उसे अपूर्व सौंदर्य संपन्न होने के कारण 'चित्र की पूतरी' चित्र में बनी हुई सुंदर, आकर्षक और शोभाशालिनी स्त्री के रूप में उपमा अलंकार के माध्यम से निरूपित किया है। इन दोनों ही अप्रस्तुतों ने सादृश्य विधान के द्वारा नायिका का अत्यंत नयनाभिराम स्वरूप प्रस्तुत कर दिया है। अनुप्रास अलंकार से विलसित

अप्सरा का प्रतीप भी उसकी अपार सुदंरता और कवि की उसके प्रति अतिशय प्रेम-भावना का द्योतक है। अपार सौंदर्य और तत्कालीन तड़क-भड़क से युक्त राजदरबारों के वैभव के कारण घनानंद को उनकी प्रेयसी 'सुजान' के रूप-वैभव में विलसित 'नेह-मकरंद' का अद्‌भुत आस्वाद प्राप्त हुआ, जोकि उसकी निष्ठुरता के कारण एकपक्षीय होते हुए भी उनके जीवन का आधार तथा कवित्तों का सार बन गया है। इन्होंने उसके रूप वर्णन में लिखा है–

स्याम घटा लपटी थिर बीज कि सोहै अमावस अंक उज्यारी।
धूम के पुंज मैं ज्वाल की मालसी पै दृग सीतलता सुखकारी।
कै छकिछायौ सिंगार निहारि सुजान-तिया-तन दीपति प्यारी।
कैसी फबी घन आनंद चोपनि सों पहिरी चुनि साँवरी सारी।[45]

इस छंद में कवि ने उत्साह से चुनकर पहनी हुई साँवरी साड़ी में आवेष्टित नायिका के लिए 'सयाम घटा लपटी थिर बीज' (विजली), 'अमावस अंक उज्यारी', धूम के पुंज में ज्वाल की माल', तथा 'दीप्ति' (दीवट) अप्रस्तुत का प्रयोग संदेह से पुष्ट उपमा अलंकार के माध्यम से किया है। 'तनदीपति' में रूपक अलंकार भी है, जो कि तत्कालीन चमत्कार शील मनोवृत्ति का परिचायक है। इसमें काली साड़ी के लिए श्रृंगार के श्यामल वर्ण तथा सुजान के गौर वर्ण से युक्त शरीर के लिए 'दीपति' या अंधकार में दमकने वाली 'दीवट' की परिकल्पना की है। इंद्रियोत्तेजक सौंदर्य का ऐसा प्रभावशाली वर्णन घनानंद की श्रेष्ठ कवित्व-शक्ति का परिचायक है। इन्होंने नायक श्रीकृष्ण के रूप वर्णन में भी यथेष्ट चमत्कारपूर्ण और सार्थक अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है–

रसिक रंगीले भली-भाँतिनि छबीले घन
आनंद रसीले भरे महासुख सार हैं
कृपा-धन-धाम स्याम सुंदर सुजान मोद
मूरति सनेही बिना बूझे रिझबार हैं।
चाह आलबाल औ अचाह के कलपतरु
कीरति-मयंक प्रेम-सागर अपार हैं
नित हित-संगी, मनमोहन त्रिभंगी मेरे
प्राननि अधार नंदननंदन उदार हैं।[46]

उपर्युक्त कवित्त में कृपा के लिए 'धनधाम' मोद के लिए 'मूरति' चाह के लिए 'आलबाल', अचाह के लिए 'कल्पतरु' कीरति के लिए 'मयंक' और प्रेम के लिए 'सागर' अप्रस्तुत का प्रयोग रूपक अलंकार के आधार पर किया है। नायक के विविध रूपों का वर्णन होने के कारण यहाँ उल्लेख अलंकार भी है। डॉ॰ पद्‌मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'कृष्ण रसिक हैं, रंगीलें हैं, पूर्ण शोभाशाली हैं, रसमय हैं और परमानंद स्वरूप हैं। वे श्याम सुंदर कृपारूपी संपत्ति के घर हैं, उल्लास की मूर्त्ति हैं, प्रेमी हैं और अयाचित रूप में भक्तों पर रीझने वाले हैं। संसार में जिनके चाहने वाले हैं, उनके लिए थाँवले हैं और जिनके कोई चाहने वाले नहीं हैं, उनके लिए कल्पवृक्ष हैं। वे कीर्ति रूपी चंद्रमा के लिए अपार प्रेम के समुद्र हैं। वे शाश्वत प्रेम करनेवाले हैं, मनमोहन हैं और त्रिभंगी हैं। वस्तुत: वे उदार नंदनंदन तो मेरे प्राणों के आधार हैं।'[47] महाकवि बिहारीलाल ने भी नायक के रूप वर्णन में

लिखा है–

मकराकृति गोपाल कैं सोहत कुंडल कान।
धर्‌यौ मनौ हिय-धर समरु ड्‌यौढ़ी लसत निसान।[48]

इसमें नायक के कानों में सुशोभित मकराकृति कुंडलों को उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से कामदेव का 'ड्‌योढ़ी लसतनिसान' माना गया है। इसमें आकार-सादृश्य के साथ-साथ प्रभाव सादृश्य भी है। कुंडल कानों में पहनने का आभूषण विशेष है, जो कि विभिन्न प्रकार की आकृतियों का होता है। इस दोहे में मकराकृति के कुंडलों का वर्णन है। मकर कामदेव का प्रतीक चिह्न है और 'निशान' उस ध्वज का नाम है, जिस पर उसके स्वामी का प्रतीक चिह्न अंकित होता है। इसीलिए कामदेव को मकरध्वज, मीन केतन, मकरकेतन इत्यादि नामों से जाना जाता है। 'सखीनायक के पास होकर आई है और नायिका का वर्णन सुनकर नायक पर कामदेव का जो प्रभाव पड़ा हैं, उसका वर्णन करती है कि उसके हृदय को कामदेव ने वशीभूत कर लिया है, जिसका प्रमाण यह है कि कंप सात्विक के कारण उसके कुंडल थहरा रहे हैं। कान की उत्प्रेक्षा ड्‌योढ़ी से करने से यह व्यंजित होता है कि कामदेव के हृदय-देश में प्रवेश करने का मार्ग कान ही हैं, अर्थात्‌ नायक पर कामदेव का प्रभाव गुण श्रवण ही के द्वारा हुआ है।'[49] कविवर मतिराम ने नायिका के सौंदर्य वर्णन में व्यतिरेक से कुंदन का रंग फीका माना है और उसकी मुसकान को मिठाई का रूपक प्रदान किया है–

कुंदन कौ रंगु फीको लगै झलकै अति अंगन चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि चितौन में मंजु विलासन की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसुकानि मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरै निकरैसी निकाई।[50]

नायिका यह सजह-सौंदर्य पूर्णरूप रीतिकालीन चमत्कारशीलता के वैचित्र्य से परिपूर्ण होते हुए भी अप्रस्तुत योजना का ऐसा नयनाभिराम तथा हृदयानुरंजक चित्र उपस्थित करता है, जिसे शोभा, कांति और सुदीप्ति के बाह्य उपादानों से ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इनके रूढ़ लक्षणों के उपयोग से किसी अप्रस्तुत पूर्ण चित्रण को उत्कृष्ट मानना प्राय: अनुचित प्रतीत होता है' वास्तविकता यह है कि जो अप्रस्तुत-योजना सहृदय की संपूर्ण अंत:चेतना को जितनी गहराई से प्रभावित करती है, वह उतनी ही उत्कृष्ट मानी जाती है। इसके लिए तत्संबंधी भावभिव्यंजकता का अधिक सूक्ष्म और अनुभूति पूर्ण होना आवश्यक है। मतिराम के उपर्युक्त रूप वर्णन में सबसे अधिक प्रभावशाली है आँखों की 'अलसानि' चितवन और 'मंजु विलास' की सरसता।' इनमें मन्मथ से आप्याति द्युति देखी जा सकती है। स्मर विलास से अभिवृद्ध शोभा को देखा जा सकता है। 'निकाई' के खरेपन का चित्रण इसका अभिप्रेत है और इस अर्थ में यह निस्संदेह श्रेष्ठ चित्र है। जहाँ तक सरलता और स्पष्टता का प्रश्न है यह बेजोड़ है। पर पहले की अनुभूत्यात्मकता अधिक गहरी है। एतदर्थ उसकी प्रभान्विति का तीव्रतर होना भी स्वाभाविक है।'[51]

संयोग एवं वियोग कालीन मन:स्थितियाँ :

रीतिकालीन कवियों ने संयोग तथा वियोग-कालीन संदर्भों तथा स्थितियों के निरूपण

में भी अप्रस्तुत योजना की यथासंभव सहायता ली है। इसमें रूपासक्ति के साथ-साथ शारीरिक आकर्षण तथा परस्पर मिलन की आकांक्षा, हाव-भाव, विभिन्न चेष्टाएँ, सुरत, आहार-बिहार तथा उत्सवों में परस्पर आमोद-प्रमोद जनित क्रियाएँ व्यापक रूप में चित्रित की जाती हैं। पाणिग्रहण संस्कार के अवसर नायक-नायिका की प्रसन्नता के संदर्भ में सीता के द्वारा राम को पहनाई गई जयमाला के लिए उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से गृहीत अप्रस्तुत प्रयोग देखिए–

सीता जू रघुनाथ को अमल कमल की माल।
पहिराई जनु सबनि की हृदयावलि-भूपाल। [52]

जब राम ने शंकर के धनुष को तोड़ दिया तब स्वयंवर की शर्त के अनुसार सीता ने अपने पिता की आज्ञा से स्वच्छ, सुंदर, कमलों की जयमाला उन के कंठ में पहनाई।' वह जयमाला ऐसी प्रतीत होती थी मानों सब भूपालों की हृदयावलि हृदयों की पंक्ति ही हो। उत्प्रेक्षा बहुत ही सुंदर है। हृदय की आकृति भी कमलवत् होती है और वैसे भी जयमाला पहनाते समय सभी, के हृदय, ईर्ष्या, क्रोध, प्रसन्नता एवं हार्दिकता से निकले ही जा रहे होंगे।' [53] केशवदास जी ने संयोगावस्था के चित्रण में त्रेतायुग की देशकाल परिस्थिति को दृष्टि में रखकर ही संभवत: तत्कालीन संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ सौंदर्य प्रतिमान कामदेव, रति और बसंत का चयन 'पंचवटी वर्णन' में किया है–

फल-फूलनि पूर ते तरुवर रूरे, कोकिल कुल कलरव बोलैं।
अतिमत्त मयूरी, पियरसपूरी, बन-बन प्रति नाचत डोलै।
सारी सुक पंडित, गुनगन मंडित, भावनमय अरथ बखानै।
देखे रघुनायक, सीय सहायक, मनहुँ मदन रति मधु जानै। [54]

उपर्युक्त छंद में उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से गृहीत रघुनायक राम, सीता और सहायक लक्ष्मण के लिए मधु अर्थात् बसंत की संभावना प्रदान करके राम और सीता की संयोगावास्था का पंचवटी के सुखद वातावरण की दृष्टि से अत्यंत मनोरम चित्र उपस्थित किया है। राम, सीता और लक्ष्मण पंचवटी की विस्तृत वनस्थली में सामान्य नायक-नायिका नहीं हैं। उनके दिव्य-प्रभाव और संयोग शृंगार की आनंदमयी संभावना के अनुसार उपर्युक्त तीनों ही अप्रस्तुत पूर्णतया सार्थक प्रतीत होते हैं। प्रकृति के उद्‌दीपन रूप ने इनके प्रभाव को और अधिक व्यापकता प्रदान की है। यहाँ मतिराम का निम्न वर्णन भी अवलोकनीय है–

प्रान प्रिया मनभावन संग अनंग-तरंगनि रंग पसारे।
सारी निसा मतिराम मनोहर केलि के पुंज हजार उधारे।
होत प्रभात चल्यो चहै प्रीतम सुंदरि के हिय में दुख भारे।
चंद सो आनन दीपसी दीपति स्याम-सरोज-से नैन निहारे। [55]

इस छंद में कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों द्वारा विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त अप्रस्तुत 'चंद', 'दीप', 'स्याम सरोज' का प्रभातकालीन अवलोकन नायिका की पीड़ा और संयोगजनित आनंद के प्रसंग में प्रर्याप्त प्रभावपूर्ण प्रतीत होता है। इसी प्रकार रीति-स्वच्छंद कवि आलम के निम्नलिखित सुरति-वर्णन को काव्य-कला की दृष्टि से अत्यंत उच्चकोटि का माना जाता है। इसमें तत्कालीन राजदरबारों की नृत्य-कला का अत्यंत सजीव चित्र विद्यमान है–

घूँघट जवनिका में कारे-कारे केस निसि

खुटिला जराउ जरे दीवटि उजारी है।
उघरि किलक कटि किंकिनी-नूपुर बाजै
नैना नटनायक लकुट लट धारी है।
कहै कवि आलम सुरति बिपरीति समै
श्रमजल अंजुली पुहुप भरि डारी है।
अधर सुरंग भूमि नृपति अनंग आगे
नृत्य करे बेसर को मोती नृत्यकारी है।' [56]

सांगरूपक अलंकार के माध्यम से लाल अधर रूपी 'सुरंग भूमि' पर बेसर के मोती का 'नृत्यकारी' अर्थात् नर्त्तक रूप कवि की उत्कृष्ट कल्पनाशक्ति तथा काव्य-सृजन-क्षमता का परिचायक है। ऐसे ही प्रसंग में उदयनाथ कवींद्र की अप्रस्तुत-योजना देखिए। इसमें उन्होंने रूपक अलंकार के माध्यम से 'वंदन' के लिए 'नछत्रपति छत्रप' और उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से तारों के लिए सैनिकों की 'कतारें' अप्रस्तुत का प्रयोग सादृश्य और साधर्म्य के आधार पर किया है–

दंपति सुरति बिपरीति में रमत, मत
कोक की कलानि के अखिलव धारे हैं।
भनत 'कविंद' बिहंसत बतरात, सत
रात अंग-अंगनि, अनंग रंग भारे हैं।
उचटे ललाटतें समेत बेना माँग मोती
ऐसे केस पासनि पै परे उलझारे हैं।
बदन-नछत्रपति छत्रप हुकुम पाय
कूदे मानो तम पै कतारें बाँधि तारे हैं। [57]

घनानंद की अप्रस्तुत-योजना और प्रयोग वैचित्र्य ने तो प्रियतमा की रीझ के प्रतिसमर्पित होकर बुद्धि को बावरी तथा दासी बना दिया है–

रूप चमूप सज्यौ दल देखि भज्यौ तजि दे सहि धीर-मवासी।
नैन मिलें उरके पुर पैठते लाज लुटी न छुटी तिनका-सी।
प्रेम-दुहाई फिर घन-आनंद बाँधि लिए कुल-नेम गढ़ासी।
रीझ सुजान सची पटरानी बची-बुधि बावरी ह्वैकरि दासी। [58]

इसमें कवि ने रूप के लिए 'चमूप' अर्थात् सेनापति, धीर के लिए 'मवासी' गढ़पति, कुलनेम के लिए 'गढ़ासी' विप्लव करनेवाले, सुजान की रीझ के लिए 'सची पटरानी' और 'बुधि' या बुद्धि के लिए 'दासी' अप्रस्तुत का प्रयोग रूपक अलंकार के माध्यम से किया है। लाज के लिए 'तिनका' अप्रस्तुत मुहावरे के रूप में प्रयुक्त होकर उपमा अलंकार का उदाहरण बन गया है। प्रभावसाम्य के द्वारा गृहीत ये सभी अप्रस्तुत भावाभिव्यक्ति तथा कवि के व्यक्तिगत दृष्टिकोण को निरूपित करने में पूर्णतया सफल प्रतीत होते हैं। वियोगिनी नायिका की दशा के वर्णन के लिए विरचित छंद में मालोपमा अलंकार के माध्यम से प्रयुक्त अप्रस्तुत-योजना देखिए–

आई तजि हौं तौ ताहि तरनि तनूजा तीर

ताकि ताकि तारापति तरफति ताती सी।
कहै पदमाकर धरीक ही में घन स्याम
काम तौ कतलबाज कुंज ह्वै है काती सी।
याही छिन वाही सों न मोहन मिलौगे
जो पै लगनि लगाए एती अगिनि अबातीसी।
राउरी दुहाई तौ बुझाई न बुझैगी फेरि
नेह भरी नागरी की देह दिया बाती सी। [59]

उपर्युक्त छंद में कामदेव के लिए ‘कतलबाज’, कुंज के लिए ‘काती’, लगनि के लिए ‘अगनिअबाती’ और देह के लिए दिया बाती अप्रस्तुत प्रभाव साम्य के आधार पर चुने हैं। ये सभी अप्रस्तुत परंपरागत होते हुए भी वियोगिनी नायिका की शारीरिक और मानसिक स्थिति को अभिव्यंजित करने में पूर्णतया सक्षम और सहज प्रतीत होते हैं। यहाँ घनानंद की विरह दशा का अवलोकन करना भी उचित प्रतीत होता है–

आसहि अकासमधि अवधि गुनै बढ़ाय
चोपनि चढ़ाय दीनौ कीनौ खेल सोय है।
निपट कठोर ये हो ऐंचत न आपओर
लाड़िले सुजान सों दुहेली दसा को कहै।
अचिरज मई मोहि भई घन आनंद यौं
हाथ साथ लाग्यौ पै समीप न कहूँ लहै।
विरह-समीर की झकोरनि अधीर, नेह
नीर भीज्यौ जीवतऊ गुड़ी लौं उड्यौ रहै। [60]

इसमें ‘आसहि’ अर्थात् आशा के लिए ‘अकास’ अवधि के लिए ‘गुन’ विरह के लिए ‘समीर’ और नेह के लिए नीर अप्रस्तुत रूपक अलंकार के माध्यम से आए हैं। छंद की अंतिम पंक्ति में भीगकर भी उड़ने के कारण जीव को पतंग से अधिक प्रभावशाली माना गया है। इसमें व्यतिरेक अलंकार है। इसमें विभावना भी हो सकती है और जल से गलने की स्थिति उत्पन्न होने की वजह से विशेषोक्ति भी है। विरह और समीर में साधर्म्य है। अन्य सभी अप्रस्तुत प्रभाव साम्य का उत्कृष्ट स्वरूप अभिव्यंजित करते हैं। उड़ने की स्थिति में क्रिया साम्य भी है। प्रेमी की वियोगजनित पीड़ा को सहने की सामर्थ्य और उसके प्रति समर्पित रहने की संकल्पशीलता तथा प्रिय की उसकी दुर्दशा के प्रति सहानुभूतिहीन निश्िंचतता एवं कठोरता को निरूपित करना इस अप्रस्तुत योजना का अभीष्ट है। इसमें ‘आशा को आकाश के साथ जोड़कर भाव की व्यापक असीमता, अवधि को गुण बताकर उसकी लंबाई, विरह के लिए समीर का उपमान उसकी प्रखरता, तीव्रता, नेह का जल से संबंध स्थापित कर उसकी तरल स्निग्धता-सरसता, जीव का पतंग होना उसके विरह में हलकेपन को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। पतंग वास्तव में सामंतीय वातावरण का विलास उपकरण है, जिसका आश्रय रीतिबद्ध कवियों ने भी ग्रहण किया है, किंतु घनानंद ने जिस विषय के लिए पतंग-क्रिया को अप्रस्तुत बनाया है, वह सर्वथा नवीन है। इसके लिए सांगरूप में विलासिता का आभास तक नहीं है। पदार्थों को कवि ने सर्वत्र ही इसी रूप में अप्रस्तुतों के अंतर्गत ग्रहण किया है।’ [61] रीति स्वच्छंद कवि ठाकुर

की वियोगिनी नायिका का यह स्वरूप द्रष्टव्य है–

जब तें बिलोकि गई रावरो बदन बाल
तब तें अचेत सी वियोग आग झुरई।
हेम की लतासी चपलासी चारु चाँदनी–सी
मदन सताई पै न मैं जनाई भुरई
ठाकुर कहत भूमि बिकल बिहाल परी
देखियै गोपाल ताहि उपमान जुरई।
रति के भंडारतें दुराह कै चोराइ मानो
काहू आनि मंदिर में रूपरासि कुरई। [62]

इस छंद में कवि ने वियोग के लिए 'आग' अप्रस्तुत रूपक अलंकार की सहायता से चुना है। नायिका रूप और गुण–सादृश्य के लिए हेम की लता, 'चपला', 'चारु चाँदनी' अप्रस्तुत ग्रहण किए हैं। उसकी विरह व्याकुल स्थिति को देखकर उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से 'रति के भंडार से चुराकर मंदिर में कुरई रूपरासि' की अप्रस्तुत के रूप में संभावना की गई है। नायिका की विरह विदग्ध दशा और अपार सौंदर्य के लिए ग्रहण किया गया यह अप्रस्तुत पूर्णतया सटीक और प्रभावाभिव्यंजक प्रतीत होता है। वियोगिनी नायिका का यह मर्मस्पर्शी रूप कवि की उत्कृष्ट प्रयोगशील मनोवृत्ति का परिचायक है।

प्राकृतिक दृश्य एवं ऋतु वर्णन :

आचार्य केशवदास जी को रीतिकाव्य का प्रवर्त्तक आचार्य माना जाता है। वे चमत्कारवादी होने के साथ–साथ तत्कालीन ललित कलाओं की अलंकरण शैली से विशेष प्रभावित थे। इसलिए उन्होंने अलंकारों को काव्य में प्रमुख स्थान प्रदान करने का प्रयत्न किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'केशव के लिए प्राकृतिक दृश्यों में कोई आकर्षण नहीं था। वे उनकी देशगत विशेषताओं का निरीक्षण करने क्यों जाते? दूसरी बात यह है कि केशव के बहुत पहले ही इसकी परंपरा एक प्रकार से उठ चुकी थी। कालिदास के दृश्य वर्णनों में देशगत विशेषता का जो रंग पाया जाता है, वह भवभूति तक तो कुछ रहा, उसके पीछे नहीं। फिर तो वर्णन रूढ़ हो गए। चारों ओर फैली हुई प्रकृति के नानारूपों के साथ केशव के हृदय का सामंजस्य कुछ भी न था।' [63] उनकी इस मनोवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए शुक्ल जी ने निम्नलिखित छंद की अंतिम दो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं–

एक कहै अमल कमल मुख सीताजू को
एकै कहैं चंद सम आनंद को कंद री।
होई जौ कमल तौ रयनि में न सकुचै री
चंद जौ तौ बासर न होई दुति मंद री।
बासर ही कमल रजनि ही में चंद
मुख बासर हूर जनि बिराजै जगबंद री।
देखे मुख भावै अनदेखे ई कमल चंद
तातें मुख मुखै सखी कमलौ न चंद री। [64]

इसमें 'कमल' और 'चंद' अप्रस्तुत का प्रयोग व्यतिरेक तथा अनन्वयोपमा अलंकार के माध्यम से हुआ है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्पष्ट किया है कि रामचंद्रिका में 'पंचवटी और प्रवर्षण गिरि ऐसे रमणीय स्थलों में शब्द साम्य के आधर पर श्लेष के एक भद्दे खिलवाड़ के अतिरिक्त और कुछ न मिलेगा। केवल शब्द साम्य के सहारे जो उपमान लाए गए हैं, वे किसी रमणीय दृश्यों से उत्पन्न सौंदर्य की अनुभूति के सर्वथा विरुद्ध या बेमेल हैं–जैसे प्रलयकाल, पांडव, सुग्रीव, शेषनाग। सादृश्य या साधर्म्य की दृष्टि से दृश्य वर्णन में जो उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ आदि लाई गई है, वे भी सौंदर्य की भावना में वृद्धि करने के स्थान पर कुतूहल मात्र उत्पन्न करती हैं। जैसे श्वेत कमल के छत्ते पर बैठे हुए भौंरे की यह उक्ति 'केशव केशवराय मनौ कमलासन के सिर ऊपरे सोहै।' पर कहीं-कहीं रमणीय और उपयुक्त उपमान भी मिलते हैं; जैसे जनकपुर के सूर्योदय वर्णन में, जिसमें कापालिक काल को छोड़कर और सब उपमान रमणीय हैं।' [65] रीतिकाव्य में सेनापति का ऋतुवर्णन बहुत प्रसिद्ध है; लेकिन उनके द्वारा इस प्रकारण में प्रयुक्त अप्रस्तुत पूर्णतया सहज और परंपरागत हैं। कहीं-कहीं कुछ अच्छे प्रयोग भी इनके द्वारा किए गए है। विरह विदग्धनायिका के लिए सावन की रातें बहुत लंबी प्रतीत होती हैं। कवि ने इनके लिए 'बावन की डग' अप्रस्तुत लुप्तोपमा अलंकार के माध्यम से चुना है–

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी औ,
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ।
आई सुधिबर की, हिय में आनि खरकी,
सुमिरि प्रान-प्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मन भावन की
डग भई बावन की सावन की रतियाँ। [66]

रीतिकाव्य में प्रकृति वर्णनों का उपयोग उद्दीपन रूप में सबसे अधिक हुआ है, जिसके कारण वह संयोग और वियोग की दशाओं के लिए उद्दीपन कारक बन कर रह गया है। बिहारीलाल जी का निम्न दोहा देखिए–

रुक्यौ साँकर कुंजमग करतु झाँझि झकुरात।
मंद-मंद मारुत-तुरंगु खूँदत आवत जातु।' [67]

वियोगिनी नायिका को संकेत निकुंज-स्थल पर नायक को न देखकर बहुत कष्ट हुआ है। उसे उस सघन कुंज में प्रवाहित शीतल समीर अत्यंत दुखदायक प्रतीत होता है उसने वायु के इसी कृत्य को घोड़े की टापों से रौंदे जाने के रूप में अनुभव किया है। इसमें क्रिया और प्रभाव साम्य के आधार पर रूपक अलंकार है। 'यदि किसी बहुत पतली गली में कोई खड़ा हो और उसमें कोई बिगड़ैल घोड़ा खूँद करता हुआ आए-जाए, तो वह उसकी टापों से अवश्य ही भली-भाँति कुचल जाएगा क्योंकि स्थान की संकीर्णता के कारण न तो उसको ही बचने का ठौर मिल सकता है और न घोड़े ही को उसे बचाकर आने-जाने का मार्ग।' [68] यह अप्रस्तुत प्रकृति के उद्दीपन रूप को निरूपित करने में पूर्ण समर्थ है। सांगरूपक अलंकार के माध्यम से महाकवि देव ने बसंत को बालक के रूप में महत्त्व प्रदान किया है–

डारद्रुम पालन बिछौना नवपल्लव के
सुमन झंगूला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै केकी-कीर बतरावैं देव
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै।
पूरित पराग सों उतारौ करै राई लोन
कंजकली नायिका लतान सिर सारी दै।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि
प्रातहि जगावै गुलाब चटकारी दै। [69]

इसमें द्रुम के लिए 'पालन', बिछौना के लिए 'नव पल्लव', झंगूला के लिए 'सुमन', राई-नोन के के लिए 'पूरित पराग', नायिका के लिए 'कंजकली' और सेवक गुलाब के लिए अप्रस्तुत प्रयुक्त हुए हैं। इनमें रूप और क्रिया साम्य है, लेकिन मदन महीप के पुत्र के रूप में 'बसंत' का रूपक प्रभाव साम्य के आधार पर ही संभव हुआ है। 'कवि के सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति प्रशंसनीय है। मालियों के कथनानुसार सूर्योदय से पूर्व ऊषा-काल में गुलाब की कली जब फूल बनती है, तो उससे चटक शब्द होता है। उद्यानों में सोने वाले माली रात को उसे सुनते हैं। इस सांग रूपक के द्वारा बसंत का बड़ा ही सजीव और चित्रोपम वर्णन ही नहीं उसका मानवीकरण करने में भी कवि को अपूर्व सफलता मिली है। गुलाब की चटकारी में अर्थध्वनन चमत्कार है।' [70] प्रकृति के उद्‌दीपन विभाव वर्णन में पद्‌माकर जी के द्वारा विरचित 'जागद्विनोद' का निम्न छंद देखिए-

बरसत मेह नेह सरसत अंग-अंग
झरसत देह जैसे जरत जबासो है।
कहै पदमाकर कलिंदी के कंदबन पै
मधुपनि कीन्हो आइ महत मवासो है।
ऊधौ यह जताइ दीजौ मोहन को
ब्रज को सुबासो भयो अगनि अबासो है।
पातकी पपीहा जलपान को न प्यासो
काहू बिथित वियोगिनि के प्रानन को न प्यासो है। [71]

इस छंद में देह के लिए 'जवासो' और ब्रज के सुबास के लिए 'अवा' अप्रस्तुत का प्रयोग कवि ने उपमा अलंकार के द्वारा किया है। इसमें पातकी पपीहा की जलपान की प्यास के लिए 'वियोगिनी के प्रानन की प्यास' अप्रस्तुत दृष्टांत अलंकार के माध्यम से ग्रहण किया गया है। कालिंदी के कदंबन के लिए 'मवासो' अप्रस्तुत लुप्तोपमा अलंकार केआधार पर आया है। इसमें प्रकृति का अत्यंत प्रभावशाली स्वरूप वर्षा के उद्‌दीपनकार रूप में प्रस्तुत हुआ है। 'जवास' पानी बरसने पर झुलसकर नष्ट हो जाने वाली वनस्पति है। नायिका का शरीर भी वर्षा के कारण इसके समान ही झुलस रहा है। वर्षा ऋतु में भ्रमर पेड़ों की डालियों से चिपक जाते हैं। इस तथ्य को कवि ने मवासो अप्रस्तुत के द्वारा निरूपित किया है। ये डलियाँ भ्रमरों के लिए किले जैसी सुरक्षा प्रदान करती हैं और फिर विरहिणी गोपियों पर आक्रमण करने के लिए भी तो कोई सुरक्षित स्थान चाहिए। अवा वह स्थान है जहाँ पर अग्नि को दहकाकर मिट्‌टी के पात्रों

इत्यादि को पकाया जाता है। गोपियों के विरह के कारण ब्रज के आवास के लिए यह अत्यंत सुरक्षित स्थान है। 'प्रानन को प्यासो' में मुहावरे के साथ प्रयुक्त अप्रस्तुत का सहज रूप नायिका के विरह संदेश को अत्यंत प्रभाव पूर्ण, सरस तथा मर्मबेधक बना देता है।

भक्ति-नीति इत्यादि विषय :

रीतिकालीन कवियों ने अपनी आस्तिक प्रवृत्ति और समय-समय पर उदित होने वाली वैराग्य-भावना के कारण भक्ति-नीति आदि विषयों पर अपनी लेखनी के चमत्कार प्रदर्शन हेतु अप्रस्तुतों का प्रयोग किया है। आचार्य केशवदास जी ने 'गणेशवंदना' में लिखा है–

बालक मृणालिनी ज्यों तोरि डारै सबै काल,
कठिन कराल ज्यों अकाल दीह दुख को।
विपति हरत हठि पद्‌मिनी के पातसम,
पंक ज्यों पाताल पेखि पठवै कलुख को।
दूरि कै कलंक-अंक भवसीस ससिसम,
राखत हैं केशोदास दास के बपुख को।
सांकरे की साँकरन सनमुख होत तोरै,
दशमुख मुख जोवैं गजमुख मुख को' [72]

कवि ने गणेश जी को परंपरागत अप्रस्तुत 'गजशावक' के रूप में निरूपित करके उनके व्यापक महत्त्व का परिचय दिया है। दुखों के दीर्घ समूह के लिए 'गजशावक' की शक्ति के परिप्रेक्ष्य में 'मृणालदंड' कहा गया है। इसमें उदाहरण अलंकार है। विपत्ति के लिए 'पद्‌मिनी के पात', कलुष के लिए 'पंक' और दास के वपुख अर्थात् शरीर को 'भवसीसससि' उपमा अलंकार के माध्यम से प्रयुक्त अप्रस्तुत हैं। 'सांकरे की सांकरन' में परिकरांकुर और रूपक अलंकार है। इनमें गणेश जी की अद्‌भुत शक्ति को स्पष्ट करने तथा उसे प्रभावाभिव्यंजक बनाने की क्षमता पूर्णतया विद्यमान है। महाकवि पद्‌माकर ने भगवान राम की भक्ति का उपदेश इस प्रकार दिया है–

राम को नाम जपौ निसिबासर राम ही को इक आसरो भारो।
भूलो न भूल की भीरन में पद्‌माकर चाहि चितौन को चारो।
ज्यों जल में जल जात के पात रहै, जग में त्यों जहानते न्यारो।
आपुनो सो सुख और दुख दौरिजु और को देखै सुदेखन हारो। [73]

इसमें चितौन के लिए 'चारो' में क्रिया साम्य के आधार पर रूपक अलंकार का प्रयोग हुआ है और 'जहानत तें न्यारो' रहने के लिए 'जल में जल जात' अप्रस्तुत उदाहरण अलंकार के माध्यम से आया है। इसमें अतद्‌गुण अलंकार भी है। ये दोनों अप्रस्तुत परपंरागत होते हुए भी भाव सौंदर्य की दृष्टि से सर्वथा औचित्यपूर्ण तथा प्रभावाभिव्यंजक प्रतीत होता है। महाकवि बिहारीलाल ने सगुण और निर्गुण के संदर्भ में इस प्रकार लिखा है–

दूरिभजत प्रभु पीठि दै गुन-विस्तारन-काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि चंग-रंग भूपाल। (गोपाल) [74]

पतंग का खपच्ची वाला भाग उसका पेट या छाती कहा जाता है तथा उसके पीछे

का भाग जिसमें डोरी बाँधकर पतंग को उड़ाया जाता है। उसकी पीठ कहलताा है। पंतग को उड़ाते समय उसकी पीठ उड़ाने वाले को ठीक वैसी ही दृष्टिगोचर होती है, जैसी कि भागने वाले व्यक्ति की होती है। इस सादृश्य के आधार पर ही कवि ने 'पीठिदै'कहकर 'गुण' शब्द के श्लेष से चमत्कार भी उत्पन्न किया है और पतंग के संदर्भ में 'डोर' या 'धागा' तथा भगवान के संदर्भ में उनकी प्रकृति तथा प्रभाव वैशिष्ट्य का संकेत दिया है। जिस प्रकार डोर का विस्तार होने से पतंग दूर चली जाती है, उसी प्रकार गुणों का विस्तार होने से ईश्वर दूर होता चला जाता है और मन उसके गुणों में ही उलझकर विभिन्न प्रकार की परिकल्पनाओं से भर जाता है। भूपाल या गोपाल अर्थात ईश्वर के सगुण, निर्गुणरूप का तद्‌गुण अलंकार के माध्यम से प्रयुक्त 'चंग' या पतंग का अप्रस्तुत प्रयोग अत्यंत सटीक तथा सारगर्भित प्रतीत होता है। इसमें सगुणोपासना और निर्गुणोपासना की स्थिति स्पष्ट करते यह समझाने का प्रयास किया गया है कि 'सगुणोपासना में तो प्रभु के गुणों का अनंत तथा अनीह होने के कारण, पार नहीं मिलता। अत: ज्यों-ज्यों उनका विस्तार किया जाता है, त्यों-त्यों प्रभु दूर ही होते चले जाते हैं, पर निर्गुण स्वरूप में सबके निकट ही अर्थात् अंत:करण ही में मिल जाते हैं, क्योंकि वह भूपाल अर्थात् पृथ्वी भर का पालन करने वाले सर्वव्यापी हैं। इसी बात को कवि बड़ी चातुरी से उनकी उपमा चंग अर्थात् 'गुड्डी' से देकर एवं गुण शब्द का श्लिष्ट प्रयोग करके कहता है। दोहे के पूर्वार्द्ध में कवि ने 'प्रभु' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि सगुणोपासन में सेव्य-सेवक भाव रहता है, जिसमें बड़ा अंतर है, पर उत्तरार्द्ध में उसने 'भूपाल' शब्द का प्रयोग करके उसके सर्वव्यापित्व का भाव दर्शाया है। इस भाव में सृष्टि तथा सृष्टिकर्त्ता में अंतर का अभाव हो जाता है। यद्यपि पालक तथा पाल्य में भी भेद है, पर यहाँ 'भूपाल' शब्द से सर्वव्यापी ही का भाव कवि ने ग्रहण किया।' [75] रीति स्वच्छंद कवि घनानंद की कृष्ण-प्रेम की भावना भी यहाँ अवलोकनीय है–

रस सागर नागर स्याम लखें अभिलाषनि धारमंझारत बहौं।
सुनसूझत धीर को तीर कहूँ पचि हारि कै लाज-सिवारग गहौं।
घन आनंद एक अचंभे बड़ो गुन हाथ हूँ बूड़ति कासों कहौं।
उर आवत यौं छवि छाँह ज्यौं हौं ब्रज छैल की गैल सदाई रहौं। [76]

इसमें नागर स्याम को 'रससागर', अभिलाषनिको 'धार' और लाज को 'सिवार' अप्रस्तुत का रूपक अलंकार के माध्यम से अत्यंत सहज तथा भावाभिव्यंजक प्रयोग हुआ है। इसमें छवि के लिए 'छाँह' अप्रस्तुत का चयन उपमा अलंकार के माध्यम से करके कवि ने अपने आराध्य के प्रति अगाध प्रेम के वैशिष्ट्य का परिचय दिया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रीतिकाल के वैभव और व्यापक-पांडित्य से संपन्न वातावरण में विलसित कला तथा सौंदर्य के विभिन्न परंपरागत उपादानों तथा साहित्यिक अलंकरण की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर तत्कालीन दरबारी संस्कृति के अनुकूल अप्रस्तुतों का चयन करके कवियों ने अपनी प्रतिभा का उत्कृष्ट प्रदर्शन किया है। कलापक्ष की रोमांचकता के प्रति अधिक सजग होने के कारण इनके द्वारा प्रयुक्त पूर्व परंपरा से प्राप्त अप्रस्तुत भी नए जैसे प्रतीत होने लगते हैं। इन्होंने अपने प्रयोगों से अप्रस्तुतों को जितनी मौलिक गुणवत्ता प्रदान की है, उतनी ही इनकी काव्यगत उत्तमता भी अनुमानित की जा सकती है। प्राय: प्रशंसा, प्रसिद्धि और अंतर्मन

के उद्‌गारों का प्रस्तुत करने की तीव्र आकांक्षा से प्रणीत रीति कालीन कवियों की अप्रस्तुतों की योजना मध्यकालीन सांस्कृतिक कला विलास में विकसित दीपमालिका का दिग्‌-दिगंतव्यापी उल्लास है; जिसके प्रकाश से हम आज भी चमत्कृत और विस्मय-विमुग्ध होकर जीवन-व्यापी सौंदर्य की खोज में तत्पर हो जाते हैं।

संदर्भ

1. जगन्नाथप्रसाद 'भानु', काव्य प्रभाकर, सं॰ सुधाकर पांडेय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं॰ 2028 वि॰, पृ॰ 62-63
2. आनंदवर्द्धन, ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत-4, सं॰ डॉ॰ नगेंद्र, ज्ञानमंडल लि॰, वाराणस, प्रथम संस्करण
3. ब्रजनाथ, घनानंद ग्रंथावली, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी वितान, ब्रह्मनाल, वाराणसी सं॰ 2009 वि॰, पृ॰ 4
4. डॉ॰ ओमप्रकाश, हिंदीकाव्य और उसका सौंदर्य, पृ॰ 4, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली, 1957 ई॰
5. भिखारीदास, काव्यनिर्णय, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ॰ 5
6. डॉ॰ नगेंद्र, देव और उनकी कविता, पृ॰ 189-190, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
7. देव, देवकी दीपशिखा, भूमिका, पृ॰ 82, सं॰ विद्यानिवास मिश्र, वाणी प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण, पृ॰ 82
8. वही, पृ॰ 7
9. केशवदास, केशव सुधा, पृ॰ 92, सं॰ विजयपाल सिंह
10. पद्‌माकर ग्रंथावली, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ॰ 44, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
11. पद्‌माकर, वहिलपिका, पद्‌माकर ग्रंथावली पृ॰ 324
12. डॉ॰ भालचंद्र राव तैलंग, पद्‌माकर श्री, पृ॰ 61
13. पद्‌माकर, पद्‌माकर ग्रंथावली, प्रकीर्णक, पृ॰ 309
14. बिहारी, बिहारी रत्नाकर, पृ॰ 42
15. पं॰ पद्‌मसिंह शर्मा, बिहारी की सतसई, पृ॰ 36-37, ज्ञान मंडल, वाराणसी
16. वही, पृ॰ 37
17. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बिहारी, पृ॰ 90-91, संजय बुक सेंटर, वाराणसी
18. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 161, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
19. डॉ॰ राजकिशोर पांडेय, हिंदी साहित्य का रीतिकाल : भावात्मक परिचय, पृ॰ 12
20. बिहारी, बिहारी रत्नाकर, पृ॰ 299, सं॰ जगन्नाथदास रत्नाकर
21. डॉ॰ श्यामसुंदर दास, हिंदीभाषा और साहित्य, पृ॰ 439-440, इंडियन प्रेस, प्रयाग
22. मतिराम, ललित लमाम, मतिराम ग्रंथावली, पृ॰ 312, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
23. वही, पृ॰ 313
24. वही, भूमिका, पृ॰ 56-57
25. वही, ललित ललाम, पृ॰ 311
26. बिहारी, बिहारी रत्नाकर, पृ॰ 318, सं॰ जगन्नाथदास रत्नाकर
27. वही, पृ॰ 318-319
28. वही, पृ॰ 95

29. पद्माकर, पद्माकर ग्रंथावली, प्रकीर्णक, पृ॰ 308, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र
30. भूषण, शिवराजभूषण, भूषण ग्रंथावली, पृ॰ 17, सं॰ मिश्रबंधु, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
31. वही, भूमिका, पृ॰ 51
32. वही, श्री छत्रसाल दशक, पृ॰ 128-129
33. वही, पृ॰ 129-130
34. केशवदास, जहाँगीर जसचंद्रिका, पृ॰ 107, सं॰ डॉ॰ किशोरीलाल
35. वही, पृ॰ 108
36. केशवदास, रसिक प्रिया, केशव सुधा, पृ॰ 89, सं॰ विजयपाल सिंह
37. बिहारी, बिहारी रत्नाकर, पृ॰ 55
38. पद्माकर, जगद्विनोद, पद्माकर ग्रंथावली, पृ॰ 81, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र
39. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिंदीसाहित्य का अतीत, पृ॰ 250-251
40. वही, पृ॰ 251
41. रसलीन, रसप्रबोध, रसलीन, ग्रंथावली, पृ॰ 18, सं॰ सुधाकर पांडेय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
42. भिखारीदास, काव्यनिर्णय, पृ॰ 23, सं॰ जवाहर चतुर्वेदी
43. वही, पृ॰ 92-93
44. आलम, आलमकेलि, आलम ग्रंथावली, पृ॰ 30, सं॰ विद्यानिवास मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
45. घनानंद, सुजानहित, घनानदं ग्रंथावली, पृ॰ 78, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी वितान, वाराणसी
46. वही, पृ॰ 131
47. डा॰ पदमसिंह शर्मा 'कमलेश', पृ॰ 65
48. बिहारी, बिहारी रत्नाकर, पृ॰ 69
49. वही, पृ॰ 69
50. मतिराम, रसराज, मतिराम ग्रंथावली, पृ॰ 202, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
51. डॉ॰ बच्चनसिंह, हिंदी साहित्य बृहत इतिहास, पृ॰ 190, सं॰ डॉ॰ नगेंद्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
52. केशवदास, रामचंद्र चंद्रिका, केशव कौमुदी, पृ॰ 75, सं॰ विजयपाल सिंह
53. रमेश मिश्र 'अज्ञात' रामचंद्रिका संक्षिप्त, पृ॰ 85
54. केशवदास, रामचंद्र चंद्रिका, केशव कौमुदी, पृ॰ 79, सं॰ विजयपाल सिंह
55. मतिराम, रसराज, मतिराम ग्रंथावली, पृ॰ 208, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
56. आलम, आलमकेलि, आलम ग्रंथावली, पृ॰ 28, सं॰ विद्यानिवास मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
57. उदयनाथ 'कवींद्र', रसचंद्रोदय, उदयनाथ कवींद्र ग्रंथावली, सं॰ रामानंद शर्मा, लोकहित प्रकाशन, दिल्ली
58. घनानंद, सुजानहित, घनानंद ग्रंथावली, पृ॰ 16, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी वितान, वाराणसी
59. पद्माकर, जगद्विनोद, पद्माकर ग्रंथावली, पृ॰ 160, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
60. घनानंद, सुजानहित, घनानंद ग्रंथावली, पृ॰ 17, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी वितान, वाराणसी

61. डा॰ लखनलाल सिंह, घनानंद का काव्यशिल्प, पृ॰ 112, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
62. ठाकुर, ठाकुर ग्रंथावली, पृ॰ 41, सं॰ चंद्रशेखर मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
63. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 145, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
64. केशवदास, रामचंद्र चंद्रिका, केशव कौमुदी, पृ॰ 79, सं॰ विजयपाल सिंह
65. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ॰ 145-146, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
66. वही, पृ॰ 156 से उद्धृत
67. बिहारी, बिहारी रत्नाकर, पृ॰ 305, सं॰ जगन्नाथदास रत्नाकर
68. वही, पृ॰ 306
69. देव, देवकी दीपशिखा, पृ॰ 71, सं॰ विद्यानिवास मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
70. वही, पृ॰ 72
71. पद्माकर, जगद्विनोद, पद्माकर ग्रंथावली, पृ॰ 164, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
72. गणेशबंदना, रामचंद्र चंद्रिका, केशव सुधा, पृ॰ 71, सं॰ विजयपाल सिंह
73. पद्माकर, प्रबोधपचासा, पद्माकर ग्रंथावली, पृ॰ 337, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
74. बिहारी, बिहारी रत्नाकर, पृ॰ 198, सं॰ जगन्नाथदास रत्नाकर
75. वही, पृ॰ 199
76. घनानंद, सुजानहित, घनानंद ग्रंथावली, पृ॰ 7, सं॰ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी वितान, वाराणसी

❐ 6/7 **खन्ना बिल्डिंग**
सुभाष नगर, बरेली
मो॰ 09927373723

नागार्जुन के काव्य में नारी-संवेदना : पौराणिक संदर्भ

डॉ॰ दीपा त्यागी
हिंदी विभाग
आई॰एन॰पी॰जी॰ कॉलिज, मेरठ (उ॰प्र॰)

प्राचीनकाल से ही नारी पुरुष की प्रेरणा-स्रोत और उसके जीवन को मधुमय बनानेवाली रही है। नारी, गंगा और गीता ये तीनों ही भारतीय संस्कृति के मेरुदंड हैं। वास्तव में नारी समाज की आधारशिला है। शरीर का सौंदर्य एवं हृदय की मधुरिमा को पुरुष के लिए न्यौछावर करनेवाली नारी युगों-युगों से पददलित एवं तिरस्कृत थी। कभी अबला तो कभी श्रद्धामय बनकर वह काव्य में अवतरित हुई। जनवादी बाबा को नारी की ये दोनों ही स्थिति माँ स्वीकार नहीं थीं, क्योंकि 'नागार्जुन ने न तो नारी के रूप-वैभव को कल्पना की दृष्टि से देखा और न नारी के सौंदर्य को स्वर्गिक जादू ही माना है। उनका विश्वास नारी-पूजा में भी नहीं। वस्तुतः उनके लिए नारी केवल नारी है ... जो पुरुष की भाँति स्थूल सृष्टि का एक अविभाज्य अंग है।' [1]

नागार्जुन ने अपनी कविताओं में पौराणिक संदर्भों को आधुनिक संवेदनाओं में ढाला है, जिसमें उनका नारी के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण उजागर होता है। उनके उपन्यासों के नारी-पात्र अपने अधिकारों के प्रति सचेत हैं परंतु काव्य में उन्हें संघर्ष करता हुआ नहीं दिखाया है। 'युगधारा' की भिक्षुणी अवश्य ही समाज में आदर एवं सम्मान प्राप्त करना चाहती है, एक अवलंब की आकांक्षी है, क्योंकि नरभेषी भेड़ियों के मध्य एक युवती कैसे सुरक्षित रहे? क्या लोलुपता-भरी दृष्टि उसे जीने देगी–

> अभी तो तरुणी हूँ
> चौंकते युव-जन
> भिक्षा-पात्र लेकर जब मैं निकलती
> मेरा यह काषाय ...
> जाने किस-किसको उन्मादित करता। [2]

भिक्षुणी निःसंकोच कहती है–'भूख मातृत्व की मेरी मिटा देता/ सतीत्व का सुफल पाकर अनायास/ धन्य मैं होती। [3]

भिक्षुणी के उपर्युक्त शब्द 'मेरा यह काषाय' ... भारतीय समाज में नारी के प्रति पुरुष के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं। 'भिक्षुणी' कविता कामुकता से ऊपर स्त्री-सुलभ भावनाओं की सहज मार्मिकता के साथ वात्सल्य की ओर मुड़ जाती है। कवि नारी की प्रकृतिजन्य

मन:स्थिति दर्शाते हुए 'जीवन की ग्रंथि' सुलझाने की चेष्टा करता है। उसकी दृष्टि में नारी-दुर्दशा का प्रमुख कारण आर्थिक परावलंबता है। आर्थिक दृष्टि से वह पुरुष पर आश्रित रही है। विवाह से पूर्व पिता या भाई पर तथा विवाह के पश्चात पति, तत्पश्चात पुत्र भी माता को अपने अनुशासन में ही रखता है। 'प्यासी पथराई आँखें' की 'रेणुका' अपने पति एवं पुत्र दोनों के ही दुर्व्यवहार का शिकार है–

शक्की और सनकी पति देव...
पितृभक्त सहज क्रोधी पुत्र ...
शहीद हुई रेणुका बेचारी
सच-सच बोल के
क्या किया था उसने? [4]

'रेणुका' की यह कहानी एक स्त्री की नहीं, अपितु उन सभी स्त्रियों की कहानी है, जो पुरुष के शोषण का शिकार हैं। विलंब से लौटने का कारण सत्य बतलाने वाली नारी के शहीद होने पर नागा बाबा हार्दिक संवेदना व्यक्त करते हैं। 'विवशता की इन सजीव प्रतिमाओं के पल्ले में केवल कर्त्तव्य ही आ पाते हैं, अधिकार नहीं। कठोर कर्त्तव्यों की वेदी पर स्वयं को अर्पित करने पर भी उसे अन्याय एवं अपमान के अतिरिक्त कुछ नहीं मिल पाता। [5] रेणुका जैसी ही स्थिति 'शकुंतला' की है। पुरुष को अपने प्रेमरस से सराबोर करनेवाली, अपनी रग-रग से समस्त परिवार को समृद्ध करनेवाली को क्या मिलता है? मात्र संत्रास, पीड़ा। उदारता एवं सरलता की प्रतिमूर्ति शकुंतला की करुण गाथा से नागार्जुन की संवेदना कैसे अछूती रह सकती थी, जिसने चंद क्षणों के प्रेम-प्रदर्शन पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। 'शकुंतला के साथ हुए छल से आहत कवि मन कह उठा–

अँगूठी?
सोने की अँगूठी
क्या हुआ लेकर सोने की अँगूठी
प्रीति का प्रतीक।
मूर्ख थी शकुंतला
(महर्षि की पालतू लड़की)
शोहदे की अँगूठी पर किया था भरोसा। [6]

गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या की कथा तुलसीकाव्य में राम की महत्ता का प्रतिपादन करती है, किंतु 'आधुनिक समय में वह नारी की विवशता एवं पुरुष के अन्याय की कथा है। सौंदर्य के वरदान से अभिशापित वह नारी पतिपरायण होने पर भी पति-शाप के निर्मम दंड को भुगतने को विवश हो गई ...।' [7] रूपलोलुप इंद्र द्वारा छली गई अहिल्या एक निर्वासित नारी है। निर्दोष होते हुए भी कलंकिता बनी तथा क्रुद्ध पति द्वारा शापित हुई ... 'नाहक ही/ उतना अधिक रूप दिया विधाता ने/ गौतम की शकल बना के/ सचमुच क्या इंद्र ही आया था?/ समान आकृति वाले .../ दो पुरुषों की छाया में/ पथरा गई बेचारी। [8]

शापित अहिल्या के प्रति नागार्जुन ने अपनी समस्त दया, करुणा, सहानुभूति उड़ेल दी है। धरा पर स्वर्ग का निर्माण करनेवाली नारी प्राणेश्वरी एवं प्रियतमा होकर भी संसार-सिंधु में

निरवलंब रहती है। रेणुका, शकुंतला, अहिल्या जैसी नारियों के प्रति ही नहीं बल्कि 'शूर्पणखा' के प्रति भी कवि का दृष्टिकोण उदारवादी है। वह भी एक नारी है, फिर उसकी स्थिति के अच्छी होने की कल्पना कैसे की जा सकती है? भाई की आज्ञा मानकर ही वह राम के पास गई थी। श्रीराम से उसे तिरस्कार मिला। सीता पर शूर्पणखा का क्रोध स्वाभाविक था, क्योंकि उसने जल में अपना बिंब देखकर सीता के सौंदर्य से तुलना की थी, जिसके कारण उसमें क्रोध उत्पन्न हुआ। अत: उसकी प्रतिशोधात्मक नारी-सुलभ प्रवृत्ति सहज थी। रामकाव्य में घृणित पात्र के रूप में वर्णित शूर्पणखा नागार्जुन के लिए एक सामान्य नारी है–

भाई ने लगाया था
दुश्मन के पीछे
रिझा नहीं पाई वनवासी राम को
नाक कटवा के आ गई वापस ...। [9]

कवि नारी-जीवन की इस विडंबना को विस्मृत न कर सका। 'उनकी दृढ़ आस्था थी कि लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए नारी की वर्तमान स्थितियों में पर्याप्त बदलाव लाने की आवश्यकता है। अपेक्षित बदलाव नारी-शिक्षा, नारी-समानता, नारी-स्वातंत्र्य, राजनीति में नारी की सक्रिय एवं रचनात्मक भूमिका तथा नारी को स्वतंत्र आर्थिक आधार मिलने पर ही घटित हो सकता है।' [10] नारी-मुक्ति के लिए तथा उसकी स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए कवि ने अथक् प्रयास किया। भगवान महावीर जैसे महापुरुषों द्वारा नारी को गौरवमय स्थान प्रदान कराया। महावीर आराध्य है, आराध्य ही अगर नारी को सम्मान देगा तो उसकी अवहेलना करने की सामर्थ्य ही किसमें हो सकती है–

दीनहीन उपेक्षित पददलित/अश्रुमुख क्रय कीत दासी के हाथ से/ होगा यदि भिक्षा लाभ/ करूँगा, आहार तभी/ अन्यथा खाली लौट आऊँगा।' [11]

भगवान राम ने भी अहिल्या को देवी, माता जैसे शब्दों से संबोधित करके आदर एवं सम्मान प्रदान किया तथा उन्होंने पाषाण बनी अहिल्या का उद्धार किया–

रोवे मत, देवि।
अब न आपको होगा कोई कष्ट। [12]

इतना ही नहीं बल्कि शाप से मुक्त करके उन्हें पूर्णत: पवित्र मानते हुए श्रीराम कहते हैं–

कैसे छुए किसी को कोई शाप
किया नहीं जब सपने में भी पाप?
था न कलुष-लवलेश, शुद्ध थीं आप। [13]

शाप से त्रस्त हुई यह अहिल्या का ही उद्धार नहीं है, अपितु उन सभी नारियों के उद्धार का स्वप्न है, जो पुरुष के अत्याचारों से पीड़ित हैं। पावन होते हुए भी शंका की दृष्टि से देखी जाती हैं। पाषाणी बनकर सब कष्टों को झेलती हैं। प्रभु राम का यह कहना 'रोवे मत देवि' कवि का नारी को दिया गया सम्मान है। भीतर-भीतर नारी की पीड़ा उसे उद्वेलित कर रही थी। अत: कवि ने नारी के आँसू पोछने एवं दासता की बेड़ियाँ काटकर पुरुष के समान अधिकार दिलाने का संकल्प ले लिया। नागार्जुन का विश्वास था कि समाज एवं राष्ट्र के समुचित विकास में

नारी ही महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकती है। नारी को सबल बनाना समाज एवं राष्ट्र को सबल बनाना है।

संदर्भ

1. बाबूराम गुप्त, उपन्यासकार नागार्जुन, पृ॰ 86
2. नागार्जुन, युगधारा, पृ॰ 18
3. वही, पृ॰ 19
4. नागार्जुन, प्यासी पथराई आँखें, पृ॰ 63
5. डॉ॰ सावित्री डागा, आधुनिक हिंदी मुक्तक काव्य में नारी, पृ॰ 77
6. नागार्जुन, प्यासी पथराई आँखें, पृ॰ 64
7. डॉ॰ सावित्री डागा, आधुनिक हिंदी मुक्तक काव्य में नारी, पृ॰ 360
8. नागार्जुन, प्यासी पथराई आँखें, पृ॰ 62
9. वही, पृ॰ 61
10. बाबूराम गुप्त, उपन्यासकार नागार्जुन, पृ॰ 87
11. नागार्जुन, युगधारा, पृ॰ 26
12. वही, पृ॰ 40
13. वही, पृ॰ 41

नई कविता में भाषा-सौंदर्य

डॉ॰ अमिता

भाषा अभिव्यक्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम है। इसी के द्वारा मनुष्य अपने सुख-दुख, राग-विराग आदि को सहज ढंग से अभिव्यक्त करता है। समय के साथ काव्यभाषा के स्वरूप में भी परिवर्तन होता है, क्योंकि पुरानी भाषा में थकान आ जाने के कारण वह नए भावबोध को पकड़ नहीं पाती। इसीलिए आज नई कविता में नूतन भाषा-प्रयोग पर बल दिया जा रहा है।

दूसरी बात यह भी है कि आज का जीवन जितना जटिल और उलझनपूर्ण है, उसको कविता में व्यक्त करने और साधारणीकरण के द्वारा ग्राह्य बनाने के लिए पूरी काव्यभाषा में यथोचित परिवर्तन अपरिहार्य भी हैं और अनिवार्य भी। नई कविता के कवियों ने अपने बहुमुखी विद्रोह के बिगुल द्वारा जिस क्रांतिकारी परिवर्तन की घोषणा की, उसमें भाषागत परिवर्तन सर्वोपरि थे। नए कवियों ने भाषा के महत्त्व और कविता में उसकी भूमिका को आवश्यक समझकर उसका प्रयोग सतर्क होकर किया है। 'आत्मनेपद' में अज्ञेय ने लिखा है कि 'मैं उन व्यक्तियों में से हूँ और ऐसे व्यक्तियों की संख्या दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है, जो भाषा का सम्मान करते हैं और अच्छी भाषा को अपने आपमें एक सिद्धि मानते हैं।' [1] नागार्जुन ने भी स्पष्ट लिखा है, 'एक-एक शब्द है दुधारू गाय, उसका दुरुपयोग न करना हाय'[2], शमशेर के लिए एक शब्द की तलाश एक समूचे ब्रह्मांड की तलाश की तरह है। शमशेर का एक-एक शब्द एक-एक अंक की तरह है, एक भी अंक ग़लत हो जाने से सारा हिसाब ग़लत हो जाता है।

भाषा सिर्फ़ अभिव्यक्ति या संप्रेषण का माध्यम ही नहीं, संवेदना को भी नियमित और अनुशासित करती है। इस संदर्भ में अज्ञेय का कथन समीचीन है कि 'काव्य सबसे पहले शब्द है और सबसे अंत में यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द हैं। सारे कवि-धर्म इसी परिभाषा से नि:सृत होते हैं; शब्द का ज्ञान, शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृति बनाती है'। [3]

नई कविता ने जनभाषा से जीवन-शक्ति ग्रहण कर काव्यभाषा में नए जीवन-रस और ऊष्मा का संचार किया है। अज्ञेय के अनुसार, 'आज के कवि की प्रकृति काव्य की और साधारण बोलचाल की भाषा के भेद को मिटा देना है, काव्य की भाषा अलग होती है या होनी चाहिए, यह वह नहीं मान सकता। प्रश्न केवल शब्द-चयन का नहीं है, काव्य-रचना का है, योजना का है, अन्विति का है। [4]

मुहावरों, पद-विन्यास, शब्द-योजना और अन्विति की दृष्टि से किए गए नए प्रयोगों के कारण कविता की भाषा दैनिक व्यवहार की भाषा के अनुरूप बनी है। अभिव्यक्ति की सहजता और सरलता के कारण नई कविता की भाषा बोधगम्य भी है। मूलत: नई कविता भाषा के सहज, सरल, जनवादी स्वरूप को स्वीकार करती है। इसलिए नई कविता की भाषा को

जनभाषा और सर्वहारा वर्ग की भाषा के रूप में देखा जा सकता है।

कविता में नवीनता सबसे पहले भाषा के स्तर पर ही प्रकट होती है, जॉन बेन की यह मान्यता नई कविता पर पूरी तरह लागू होती है। जीवन के विविध क्षेत्रों से शब्दों का ग्रहण कर दर्शन और विचार की शब्दावली को युगीन संदर्भ में प्रयुक्त किया गया है, जिसका परिणाम यह हुआ कि नई कविता जहाँ एक ओर तत्त्व तथा दर्शन से संबद्ध हुई, वहीं उसमें सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक तथा सैद्धांतिक शब्दावली का प्रयोग हुआ। भाषिक सौंदर्य का अध्ययन इन उपशीर्षकों के तहत किया जा सकता है।

नई कविता अपनी शब्द-स्रोत सामर्थ्य के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसमें शब्द की ध्वनि और वाद आदि का विशेष ध्यान रखा गया है। नया कवि मानता है कि 'सर्जक कवि का सरोकार भाषा से नहीं, शब्द से होता है और रचनात्मक प्रयोग वास्तव में भाषा का नहीं, शब्द का प्रयोग है। अज्ञेय शब्द के सम्यक् प्रयोग के प्रति जागरूक रहे हैं। उन्होंने लिखा है कि आज भी मेरे सामने जो समस्या है और जिसका हल पा लेना मैं अपने कवि-जीवन की चरम उपलब्धि मानूँगा, वह अर्थवान शब्द की समस्या है।

नई कविता ने शब्द-चयन और शब्दों का संग्रह अनेक स्थानों से किया है। वह अपने लिए ज्ञान-विज्ञान और विभिन्न कलाओं से शब्दों का चयन करती है। राजनीति, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, भाषाशास्त्र, पत्रकारिता, विज्ञान, खेलकूद जैसे साहित्येतर क्षेत्रों से गृहीत शब्दावली द्वारा नई कविता को एक नई संपन्नता मिली है। डॉ॰ राजनारायण मौर्य की, मुक्तिबोध की काव्यभाषा पर की गई टिप्पणी वस्तुत: सभी नए कवियों पर सटीक बैठती है कि 'नई चेतना एक नई धारा की तरह अपने-आप अपना मार्ग बना लेती है। मुक्तिबोध की नई चेतना इसी प्रकार की है। वह कभी संस्कृतनिष्ठ सामासिक पदावली की अलंकृत वीथिका से गुज़रती है, कभी अरबी, फ़ारसी तथा उर्दू के नाजुक लचीले हाथों को थामकर चलती है, कभी अँग्रेज़ी की इलैक्ट्रॉनिक ट्रेन पर बैठकर जल्दी से खटाके-खटीक निकल जाती है और कभी विशाल जनसमूह के शोरगुल और धक्के-मुक्के के बीच एक-एक पर तीव्र दृष्टि डालती हुई रुककर चलती है।' [5] आज नई कविता की जो भाषा है, उसको मुख्यत: तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–

(1) तत्समनिष्ठ संस्कृत शब्दावली
(2) तद्भव शब्दावली
(3) अन्य भाषाओं से गृहीत शब्द

नई कविता में संस्कृतनिष्ठ भाषा का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। काव्यभाषा के इस अभिजात रूप से काव्य-सौष्ठव का सम्यक् निर्वाह हुआ है; पर कहीं-कहीं इसके कारण दुर्बोधता भी आ गई है। अत: कविता-वाचन के समय अर्थग्रहण के लिए शब्दकोश की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। नकेन के प्रपद्य की भाषा प्राय: संस्कृतनिष्ठ अभिजात काव्यभाषा है–

उत्क्षेपों से शिरा-शिरा कंप
अंतस्तंद्रा में चेतना,
कोयले का कण दाईं आँख में,
जो बिंदुविद्ध, परिमृदित साश्र। [6]

नई कविता की भाषा यद्यपि बोलचाल की खड़ीबोली हिंदी है, फिर भी संस्कृत भाषा

के तत्सम शब्दों का प्रभूत परिमाण में प्रयोग नए कवियों ने केवल अपने ज्ञान-प्रदर्शन हेतु नहीं किया, वरन् उदात्त भावों की अभिव्यक्ति-हेतु कथ्य की आवश्यकता के अनुसार किया है। अज्ञेय, मुक्तिबोध, नरेश मेहता, गिरिजाकुमार माथुर, दुष्यंत, शमशेर, मदन वात्स्यायन, सर्वेश्वर आदि सभी नए कवियों ने प्रचलित संस्कृत शब्दों को तो अपनाया ही है, अनेक अप्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे भाषा की प्रेषणीयता में वृद्धि हुई है। यथा–तक अंतराल, दुर्दांत, इयत्ता, नीरंध्र, तीड़ल्ला आदि।

नए कवियों ने अभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार विभिन्न बोलियों के शब्दों का व्यवहार कर अपनी भाषा में मधुरिमा, कोमलता, सहजता और अर्थाभिव्यंजकता का संचार किया है। ब्रजभाषा की शब्दावली का प्रचुर प्रयोग अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, प्रयागनारायण, सर्वेश्वरदयाल आदि ने किया है। ब्रजभाषा के धाम, असाढ़, तिसूल, कलस, दुबकी, ललक, सई-साँझ आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा भाषा की एकरसता को तो इन कवियों ने तोड़ा ही है, उसमें अनूठी मिठास, लालित्य और सहजता का भी समावेश किया है। नागार्जुन ने जनपदीय शब्दों के प्रयोग द्वारा अपनी काव्यभाषा को लोकभाषा जैसी आत्मीय सुगंध से भर दिया है–

रिसती-सी यादों में पिरा-पिरा उठना। [7]
लहरों पर लहरों की बाढ़ अर्राती है [8]
गाझिन पाटल बल्लरी के [9]
भोरी कहीं कुंठा में [10]

नई कविता में बड़ी संख्या में ग्रामीण शब्दावली भी अपनाई गई है। भारतभूषण अग्रवाल ने अटारी, ताबड़-तोड़, पटापट, गुत्थम-गुत्था, झोंटे जैसे ध्वनि की दृष्टि से सार्थक ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया है। 'औद्योगिक बस्ती' शीर्षक कविता में ऐसे प्रयोग द्रष्टव्य हैं–

बँधी लीक पर रेलें लादे माल
चिहुँकती और रँभाती अफराए डाँगर-सी
ढिलती चलती जाती हैं।

इसमें चिहुँकना, रँभाना, अफराए, डाँगर आदि शब्द लोकभाषा के हैं। यहाँ लदी मालगाड़ी के चित्र को कवि रँभाती अफराए डाँगर के माध्यम से उभारना चाहता है।

इससे पता चल जाता है कि औद्योगिक बस्ती तो है, लेकिन ठेठ देहाती इलाके में स्थित है। ऐसे बहुतसे भाषा-प्रयोगों द्वारा 'अज्ञेय' ने छायावाद से अपने-आपको अलग किया है। परंपरागत साहित्यिक संवेदना को तोड़ने के लिए अज्ञेय ने प्रथमतः कविता के माध्यम को तोड़ा। छायावादी काव्यभाषा का तोड़ा जाना इस दृष्टि से सबसे अधिक आवश्यक था। किसी भी नए भाव-संचरण के लिए अज्ञेय ने इस स्थिति को समझा और भाषा को नया संस्कार दिया, ऐसा संस्कार जो बोलचाल की भाषा का था। इस मौखिक भाषा को जनभाषा कहकर ही वे संतुष्ट नहीं रहे, वरन इसके माध्यम से उन्होंने समूची काव्य-संवेदना का परिष्कार किया। कुल मिलाकर अज्ञेय की कविता की भाषा सहज, लोकप्रचलित तथा परंपरागत शिल्पविधि से विहीन है और भाषा के इस क्रांतिकारी प्रयोग से उन्होंने कविता को एक नई अर्थवत्ता प्रदान की है। [11]

नई कविता में आवश्यकतानुसार अन्य भाषाओं के शब्दों को भी पर्याप्त ग्रहण किया गया है। भारतभूषण अग्रवाल अँग्रेज़ी शब्दावली का प्रयोग युक्तिसंगत मानते हैं, क्योंकि

सामाजिक जीवन में विदेशी भाषा का इतना व्यवहार होता है कि भावाभिव्यक्ति के लिए इन शब्दों का बहिष्कार नहीं किया जा सकता। 'यथार्थ की भूमि पर जो काव्य खड़ा है, उसका माध्यम यथार्थ भाषा ही हो सकती है' [12], शब्दकोश की भाषा नहीं। नए कवि हिंदी के कवि हैं और अँग्रेज़ी के पाठक। कुछ तो अँग्रेज़ी के अच्छे विद्वान भी हैं। जैसे भी हो, इनका परिचय अँग्रेज़ी से अधिक है, अन्य स्वदेशी भाषाओं की अपेक्षा। अत: स्वाभाविक ढंग से इनकी कविताओं में भी अँग्रेज़ी के शब्द आ जाते हैं। जैसे नलिन जी की कविता चित्राधाम है–

ईजेल और बुरूश और रंग और कैनवस नहीं थे पास में
नहीं तो कई लैंडस्केप बनाता चलते-चलते रास्ते। [13]

यहाँ चिंतन-प्रक्रिया में अँग्रेज़ी के ये शब्द स्वाभाविक ढंग से आ गए हैं। भावों से इनका ताल-मेल बैठ गया है; अत: ये शब्द विदेशी होकर भी खटकते नहीं।

इस प्रकार नए कवियों ने कभी-कभी समूची अँग्रेज़ी पदावली का प्रयोग भी कर दिया है। जैसे–'चाइल्ड इज़ द फादर आफ़ मैन (अज्ञेय); कभी-कभी हिंदीभाषा के अनुरूप इन्हें परिवर्तित किया गया है, जैसे सिनेमाघरों, होटलों, टैक्सियों का प्रयोग। अज्ञेय, माचवे, अजितकुमार आदि ने अँग्रेज़ी वाक्यांशों का छायानुवाद करके अपनी भाषा को सुसज्जित किया है। जैसे– हंटर आफ़ ईस्ट, भोर का बावरा अहेरी, डस्टबिन आदि। जहाँ कहीं से प्रयोग संदर्भानुरूप किसी विशिष्ट आशय से या व्यंग्य हेतु आए हैं, वहाँ अर्थ-सौंदर्य में वृद्धि हुई है। कभी-कभी इनका प्रयोग थोपा हुआ भी लगता है। नई कविता में उर्दू, अरबी और फ़ारसी आदि भाषाओं के अनेक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। भारती, भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेर एवं दुष्यंतकुमार ने इसका सर्वाधिक प्रयोग किया है जैसे–अलबरुनी, शाइर और सूफ़ी, आलिमोफाज़िल, सिपहसालार है, खामोश। बंगला भाषा का सर्वाधिक प्रभाव नरेश मेहता पर दिखाई देता है। जैसे–

यथा: प्रभु मोरे कंठ के
बल देवो, घोष देवो, न्याय देवो। [14]

नई कविता के कवियों ने शब्द-प्रयोग में व्याकरण-संबंधी स्वच्छंदता भी दिखलाई है। कहीं तो व्याकरण के परंपरागत नियमों का उल्लंघन हुआ है और कहीं इन नियमों का निर्माण। उदाहरणस्वरूप अज्ञेय की एक कविता में संज्ञा का प्रयोग क्रिया के रूप में हुआ है–

जागो
और खाओ
स्मृति में अनुरागो। [15]

नियमत: अनुराग संज्ञा में करना जोड़कर क्रिया बनाई जाती है। पर यहाँ सीधे अनुराग संज्ञा से अनुरागो क्रिया बन गई है। कुछ संज्ञाओं से विशेषण भी बनाए गए हैं। यथा–

शिखर वस्त्रित वायु की बन बालियाँ [16]

या फिर 'दक्षिण पश्चिम से हहर-हहर अरबी सागर उद्धाम स्वप्न, ज्वारित अखंड, बहती जिस पर' [17] यहाँ 'वस्त्र से वस्त्रित' और 'ज्वार से ज्वारित' विशेषण बनाए गए हैं, जो हिंदी-व्याकरण में बिलकुल नए हैं।

नई कविता में लिंग-संबंधी स्वतंत्रता भी पर्याप्त मात्रा में बरती गई है। कहीं स्त्रीलिंग का पुल्लिग और कहीं पुल्लिग का स्त्रीलिंग प्रयोग हुआ है। राजा दूबे की एक कविता में बार

शब्द का प्रयोग पुल्लिंग रूप में हुआ है–

किंतु जिह्वा को
दाँतों तले दबा के उतने बार काट लिया
जिनते बार कि ओंठों पर आया गया तुम्हारा नाम। [18]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नई कविता चेतना की नई अभिव्यक्ति है और अपनी नूतन संवेदना के अनुरूप उसने नई काव्यभाषा की तलाश की है। खड़ीबोली की समस्त विशेषताओं व संभावनाओं का काव्यात्मक उपयोग करते हुए उसके सहज-स्वाभाविक बोलचाल के रूप को काव्यभाषा के रूप में अंगीकार किया गया है। आभिजात्य और आलंकारिता से मुक्त अनौपचारिक एवं व्यावहारिक खड़ीबोली को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया है। बोलचाल की भाषा का काव्यात्मक उपयोग करने में नए कवियों को अभूतपूर्व सफलता मिली है। नए कवियों ने अपनी अभिव्यंजना हेतु अन्य भाषाओं से भी शब्दों का नि:संकोच ग्रहण किया है। संस्कृत, अँग्रेज़ी, उर्दू, अरबी, फ़ारसी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं–बंगला, मराठी आदि से भी शब्द ग्रहण किए गए हैं। स्थानीय, देशज एवं ग्रामीण शब्दों के प्रयोग द्वारा भाषा अधिक अर्थवान हुई है।

संदर्भ

1. पूर्व ग्रह, पृ॰ 12
2. वही, पृ॰ 12
3. तार सप्तक, पृ॰ 309
4. नई कविता-2, पृ॰ 37-38
5. गंगाप्रसाद विमल, सं॰ मुक्तिबोध का रचना-संसार, पृ॰ 38-39
6. भारती : सात गीत वर्ष, पृ॰ 58
7. भारतभूषण अग्रवाल : अनुपस्थित लोग, पृ॰ 28
8. जगदीश गुप्त : हिमबिद्ध, पृ॰ 69
9. रामदरश मिश्र : माध्यम मैं, पृ॰ 65
10. डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी : काव्यभाषा का स्वरूप, कल्पना, मई 1963 ई॰, पृ॰ 09
11. भारतभूषण अग्रवाल : तारसप्तक, पृ॰ 110
12. नलिनविलोचन शर्मा : नकेन के प्रपद्य, पृ॰ 16
13. बनपाखी सुनो, पृ॰ 30
14. अज्ञेय : इंद्रधनुष रौंदे हुए, पृ॰ 54
15. नरेश मेहता : बनपाखी सुनो, पृ॰ 20
16. प्रभाकर माचवे : स्वप्न-भंग, पृ॰ 28
17. राजा दूबे : एक हस्ताक्षर, पृ॰ 19

❒ **द्वारा श्री रूपचंद चौहान**
म॰नं॰ 181, भगवती कालोनी,
बेहट रोड, सहारनपुर

समाज-राजनीति : अंतर्संबंध

डॉ॰ कामना कौशिक
अध्यक्ष हिंदी विभाग
सी॰एम॰के॰ नेशनल गर्ल्स कालेज, सिरसा

जिस प्रकार कर्ता और कर्म का अटूट संबंध होता है, ठीक उसी प्रकार समाज और राजनीति का अटूट संबंध है। यदि यूँ कहा जाए कि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इन दोनों के अंतर्संबंध को मैं श्री नरेश मेहता की निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्ट करना चाहती हूँ–

व्यक्ति
राजनीति और राज्य
इन्हें पृथक् कर पाना
इतना सरल है सीता? [1]

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति, राजनीति और राज्य परस्पर संबद्ध हैं, इनकी पृथकता संभव नहीं है। इन दोनों के अंतर्संबंध पर प्रकाश डालने से पूर्व दोनों के पृथक्-पृथक् शाब्दिक अर्थ को स्पष्ट करना चाहती हूँ।

समाज : समाज का अर्थ है–'समूह या गिरोह'। जिस प्रकार विविध अनुभूतियों और विचारों की समष्टि का नाम साहित्य है, उसी प्रकार विविध व्यक्तियों की समष्टि का नाम 'समाज' है। यदि समाज पर विचार किया जाए तो ज्ञात होता है कि 'समाज प्राणियों के उस समूह को कहते हैं, जिसमें वे एकत्र होकर रहते हैं, खाते-पीते हैं, जीवन-यापन की सुख-सुविधाओं की उपलब्धि का प्रयास करते हैं तथा राग-द्वेष में लीन होकर अपनी-अपनी वैयक्तिक एवं सामूहिक सत्ता को बनाए रखने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। [2]

जिस प्रकार एक-एक ईंट के सम्मिलित रूप को एक मकान की संज्ञा दी जाती है, उसी प्रकार एक-एक व्यक्ति से समाज निर्मित होता है। जिस प्रकार ईंट की समष्टि का नाम मकान है, उसी प्रकार व्यक्ति-समष्टि का नाम समाज है।

'समाज' शब्द का शाब्दिक अर्थ है–'बहुत से लोगों का गिरोह या झुंड अथवा संबंधों के जाल को समाज कहते हैं।' 'समाज' शब्द को परिभाषित करते हुए डॉ॰ नर्मदेश्वर प्रसाद ने कहा है 'मनुष्य ऐसे सामाजिक संगठन का निर्माण तथा पुनर्निर्माण करता है, जो उसके अचार-विचार और व्यवहार को ठीक रास्ते पर ले जाए और उस पर नियंत्रण रखे। मनुष्य का यह संगठन समाज कहलाता है।' [3]

मैकाइवर तथा पेज ने 'समाज' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है 'मनुष्यों में जो

चाल-चलन है, जो कार्यविधियाँ हैं, पारस्परिक सहायता की जो प्रवृत्ति है, शासन की जो भावना है, जो अनेक समूहों, विभागों में विद्यमान है, मानव-व्यवहार के संबंधों में जो स्वतंत्रता व मर्यादाएँ हैं, उनकी व्यवस्था को ही समाज कहते हैं। इस निरंतर परिवर्तित होती हुई जटिल व्यवस्था को ही समाज कहा जाता है। यह सामाजिक संबंधों का एक ताना-बाना है, जो सदा परिवर्तित होता रहता है।'[4]

मनुष्य तथा समाज दोनों का अटूट संबंध है तथा दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। अत: जब मनुष्य समाज में रहते हुए कुछ भी सोचता है, विचारता है तथा करता है तो यह मनुष्य की सामाजिक चेतना कहलाती है। समाज में मनुष्यों का आपसी व्यवहार तथा समाज पर उनका प्रभाव इस जानकारी को ही सामाजिक चेतना कहा जाता है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, समाज में रहना उसकी प्रकृति है। अपनी इसी प्रकृति के कारण मनुष्य अपने साथी, अन्य मनुष्यों के साथ अनेकविध संबंध स्थापित करता है। ये संबंध मनुष्य की क्रियाओं को अनेक प्रकार से नियंत्रित व मर्यादित करते हैं। एक संगठन का अंग होने के कारण मनुष्यों को एक निश्चित व्यवस्था का अनुसरण करना होता है। समाजशास्त्र में इसी को 'समाज' कहा जाता है।

अब मैं राजनीति शब्द पर प्रकाश डालना चाहती हूँ। राजनीति शब्द दो शब्दों के योग से बना है : राज तथा नीति। 'नीति' शब्द 'नी' धातु से बना है, 'नी' का अर्थ है किसी को किसी ओर ले जाना या मार्ग-प्रदर्शन करना। प्राय: राज्य से राज्य तथा नीति से नियम, अर्थ लगाया जाता है। 'राजनीति' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अरस्तु ने अपनी राज्य संबंधी पुस्तक के शीर्षक के रूप में किया। 'पॉलिटिक्स' शब्द की व्युत्पत्ति 'पोलिस' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है 'नगर'। यूनानियों के लिए नगर ही राज्य था। नगर-राज्य से संबंधित विषय को उन्होंने 'पालिटिक्स' नाम प्रदान किया।

राजा राज्य को चलाने हेतु जो रुख़ अपनाता है, जो नीतियाँ निर्धारित करता है, जिस व्यवस्था-विशेष को राज्य में लागू करता है, वही राजनीति कहलाती है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने राजनीति को भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। डॉ॰ महादेवप्रसाद शर्मा उस विधा या शास्त्र को राजनीति मानते हैं, जो राज्य की सांगोपांग विवेचन करता है, जिसमें राज्य के विभिन्न अंगों और प्रकारों, उसके संगठनों तथा कार्य-संबंधी सिद्धांतों का अध्ययन किया जाता है। [5]

रामचंद्र वर्मा उन नियमों तथा विधान आदि को राजनीति मानते हैं, जिसके अनुसार किसी राज्य का कोई शासन कार्य चलाता है। [6]

राजनीति एक व्यापक शब्द है, जो राजा तथा प्रजा से संबंधित नियम, सिद्धांत और तत्कालीन आवश्यकता के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण एवं प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है। अत: राजनीति के अंदर वो नीति-नियम और सिद्धांत होते है, जिनके द्वारा देश का शासन-तंत्र चलाया जाता है। इसी राजनीतिक व्यवस्था को जब देशवासी अपने देश, समाज या राज्य के हित-अहित के आलोक में देखने लगते हैं तो उसे राजनीतिक चेतना कहते हैं।

समाज और राजनीति का घनिष्ठ संबंध है, दोनों ही एक-दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं। एक-दूसरे के अभाव में दोनों की कल्पना करना असंभव है। मानवता के इतिहास में एक ऐसा

समय भी था, जब मनुष्य पूर्णतया स्वतंत्र थे और उनको नियंत्रित करने हेतु कोई भी शक्ति या सत्ता नहीं थी। उस समय का समाज वर्गहीन था, जो परस्पर सहयोग से जीवन-यापन करता था। धीरे-धीरे उत्पादन के साधनों के विकास के साथ समाज में दो वर्ग हो गए। एक वह जिनका उत्पादन के साधनों पर अधिकार था। दूसरा वर्ग जो उत्पादन करता था। यहीं से व्यक्ति और समाज में अन्योन्याश्रित संबंध स्थापित हुए तथा राज्य की उत्पत्ति हुई।

राज्य मनुष्य के सामाजिक जीवन का सर्वाधिक विकसित रूप है। मनुष्य के आर्थिक, धार्मिक, नैतिक प्राय: सभी क्षेत्रों पर राज्य का प्रभाव पड़ता है। प्राचीन काल से ही समाज में राजनीति की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। समाज के परिवर्तन के साथ राजनीति भी परिवर्तित होती रहती है। आज आधुनिक युग में राजनीति का प्रभाव इतना अधिक व्यापक हो गया है कि मानव-जीवन का कोई भी पक्ष इसके प्रभाव से अपने-आपको दूर नहीं रख सकता। जीवन के प्रत्येक पहलू का विकास अंतत: राजनीति के संदर्भ में ही होता है। मानव-जीवन की समस्त समस्याएँ भी राजनीति द्वारा प्रत्यक्ष-परोक्ष अनुशासित एवं प्रभावित होती हैं।

आज युग में मानव की नियति को शासित करनेवाली प्रमुखत: दो शक्तियाँ हैं–राजनीति और विज्ञान। राजनीति, सामाजिक जीवन को नियमित और परिचालित करनेवाली शक्ति के रूप में उभरकर सामने आई है। आज के युग में राजनीति समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। समाज-निर्माण में, व्यक्ति के उत्थान-पतन में राजनीति का विशेष योगदान रहता है। आज़ादी के बाद इस राजनीतिक फलक पर राजनेताओं के भ्रष्ट चेहरे, दोगली नीतियाँ जनता के सामने खुलकर आईं। जनता का चुनाव-प्रणाली पर से लगभग विश्वास उठ गया। परिणामस्वरूप निराशा, हताशा, मूल्यविहीनता, बेकारी, अत्याचार, हिंसा और अव्यवस्था का माहौल बन गया।

स्वतंत्रता-संग्राम के दौरान जो नेता पूज्य होते थे, अब उनकी स्वार्थी एवं भ्रष्ट नीतियों से मन कचोट उठता है, आत्मा कराह उठती है। ऐसे समय में तिलक, गांधी, सुभाष, गोखले, नेहरू तथा उनके समकक्ष अन्य महान आदर्शों को लेकर राष्ट्रीय स्वाधीनता और सम्मान के लिए सर्वस्व त्याग करनेवाले नेताओं की बातें तथा आदर्श केवल किताबों तक सीमित रह गए। जो काँग्रेस समर्पण-भाव से आज़ादी के लिए लड़ी थी, स्वतंत्रता के बाद सत्ता से ऐसी चिपकी कि सत्ता पर चिपके रहने के लिए हर हथकंडे अपनाने को तत्पर रहती है।

वर्षों तक अनवरत संघर्ष के बाद जनता ने आज़ादी मिलने के बाद देश के कर्णधारों से इतनी अपेक्षा की थी कि वे आम आदमी को रोटी-कपड़ा-मकान मुहैया करवाएँगे, बेकारी की समस्या से निजात दिलाएँगे। शिक्षा पर सभी का अधिकार होगा, सबको रोज़गार मिलेगा इत्यादि। परंतु जल्द ही जनता के स्वप्न धराशायी हो गए। चारों तरफ़ भुखमरी, ग़रीबी, शोषण, भ्रष्टाचार जैसी समस्याएँ मुँह-बाए खड़ी हैं। पंचवर्षीय योजनाएँ, हरितक्रांति, पंचशील के सिद्धांत, नेहरू का समाजवाद सब आदमी को सामान्य ज़रूरतें पूरी करने में असमर्थ रहे हैं। जनता की दशा दुर्दशा में बदलती जा रही है। राजनीति आपाधापी, भाई-भतीजावाद का अखाड़ा बनती जा रही है। जनता के सब्र का बाँध टूटता जा रहा है। इस सडाँध-भरी राजनीति से व्यक्तियों की आस्था एवं विश्वास की ज्योति बुझ-सी गई है।

आज का नेता लड़ता है, आम आदमी को ऊँचा उठाने के लिए नहीं, अपितु वोटों

की लड़ाई लड़ता है। समकालीन राजनीति भ्रष्टाचार और खोखलेपन से ग्रस्त-त्रस्त है। राजनीति में नीति का स्थान अनीति, स्वच्छंदता का स्थान छल-कपट और सत्य का स्थान असत्य ने ले लिया है। राजनीति के इस प्रभाव से सामाजिक संबंधों में कटुता तथा प्रशासन तंत्र में भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है।

समाज पूर्णतया राजनीति के कुप्रभाव से प्रभावित है। समाज में जो ग़रीबी है, वह भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से राजनीति की देन है। आज राजनीति ने जो अमानवीय स्वार्थांधता विकसित की है, वह सच्चे सहज मनुष्य के श्रम को निगल रही है। ग़रीबी ने मनुष्य को इतना लाचार-विवश बना दिया है कि उसे अपनी आम दैनिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु लाइन में लगकर ख़ून बेचना पड़ता है। इसे मैं युवा कवि रमेश गौड़ की पंक्तियों के माध्यम से चित्रित करना चाहती हूँ–

सामने आ खड़ा होता है
वह एम॰ए॰ पास युवक
जो पंद्रह रुपए की ख़ातिर
डेढ़ घंटे तक
ख़ून बेचने वालों की क़तार में खड़ा है
याद आने लगता है, वह कमज़ोर शख़्स
जो चाहते हुए भी गाली न देकर
नमस्कार करने लग गया है।[7]

चुनाव लड़ना, जीतना और सत्ता प्राप्त करना हर नेता की चाह है। इसके लिए वह जनता को कोरे वायदों से बहकाए रखने में दक्ष है। रोटी, कपड़ा और मकान इत्यादि समस्याओं का हल राजनेता अपने भाषणों में देते रहते हैं। चुनाव जीतने के पश्चात जनता को किए वायदों को भूल जाना और फिर चुनाव आने पर नए-नए वायदों की बौछार करना उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। चुनाव शासन-प्रणाली में बहुमत का विशेष महत्त्व है। बहुमत-प्राप्त सरकार ही सारे राष्ट्र की नीति-निर्धारण का कार्य करती है। अपना बहुमत रखने के लिए वह किसी भी तरह के सौदे करने से नहीं चूकती। अपनी सत्ता को बरकरार बनाए रखने के लिए वह हर प्रकार के हथकंडे अपनाती है।

सामाजिक वातावरण इतना विषाक्त हो चुका है कि आदमी को आदमी पर विश्वास नहीं रहा। इसके पीछे भी कहीं-न-कहीं हमारे राजनेताओं का हाथ है। अपने वोटों की दौड़ में वे समाज में जाति-प्रथा का ज़हर घोलते जा रहे हैं। इसी का प्रभाव है कि आज भी कुछ गाँवों में निम्न जाति के लोगों को सवर्ण जाति वाले कुएँ से पानी नहीं भरने दिया जाता। यहाँ तक कि वे निम्न जाति से यथासंभव हर प्रकार से दूरी बनाए रखते हैं। लेकिन सामाजिक चेतना के फलस्वरूप आज का युवावर्ग समाज में फैले अंधविश्वासों को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए प्रयासरत है। सामाजिक रूढ़ियों से बँधे समाज को धर्म, जाति-पाँति इत्यादि की अंधी जंज़ीर से मुक्त करने के लिए संकल्पबद्ध हो गया है–

अब जाति-धर्म से ऊपर उठ
निज राष्ट्र को हमें बचाना है

देकर के तिलांजलि स्वहित की
परहित को आज निभाना है।[8]

मानव-जीवन की समस्याओं, दैनिक आवश्यकताओं परंपरा के सड़े-गले तत्त्व, फूहड़ जीवन स्थितियों, राजनीतिक शोषण व्यवस्थाओं, सामाजिक बंधनों की दमघोटू पिछड़ी मान्यताओं, धार्मिक आडंबर, खोखले आदर्श, लाचार व्यक्ति की छटपटाहट इत्यादि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से वोटों की राजनीति से जुड़े हुए हैं।

इस युग की राजनीति का स्वरूप डॉ॰ सत्यव्रत ने इस प्रकार बताया है– 'आज हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी का सहारा लेकर चल रहा है, कोई जातिवाद का सहारा लिए हुए है, तो कोई अपनी अपार संपत्ति का, कोई अपने रिश्तेदारों की उंगली थामे चल रहा है, तो कोई नक़ल करके उत्तीर्ण विद्यापीठों की उपाधियाँ जकड़े हुए हैं। कोई भाषावाद को पकड़कर आगे बढ़ना चाहता है, तो कोई प्रांतीयतावाद को। कोई चमचों के सहारे खा रहा है, तो कोई खानेवालों का चमचा बना हुआ है।[9]

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति में नेताओं द्वारा आदर्शों को छोड़कर स्वार्थपूर्ति हेतु निरंतर दल-बदल की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। दल-बदल की राजनीति का व्यापक प्रचार रहा है। ऐसा लगता है, नेताओं ने सत्ता-पक्ष में रहने को ही अपना राजनीतिक आदर्श मान लिया है। दलबदल-विरोधी क़ानून से भी इसको रोका नहीं जा सका। केंद्र की नरसिंहाराव सरकार धन-बल पर अर्जित बहुमत का ही परिणाम थी।

आज राजनीति के सारे घटक इतने ह्रासोन्मुख हो गए हैं कि उनकी चर्चा से हर विवेकशील व्यक्ति बच निकलना चाहता है। राजनीति इतनी ख़राब नहीं है, लेकिन मतिगूढ़ और स्वार्थगंध राजनेताओं ने इसको इतना दूषित-विकृत कर दिया है। अब इसकी काया की दुर्गंध असहनीय बन गई है। आज के विषाक्त समाज में संघर्ष, षडयंत्र और कुचक्रों से ही इसकी प्राप्ति होती है तथा इसी से इसकी सुरक्षा होती है। सदाशयता से न तो राज्य की प्राप्ति संभव है और न उसका संचालन-संवर्द्धन-रक्षण ही। हमारी राजनीति, नीति का राज न होकर, राज की नीति बन गई। किसी भी तरीक़े से राज्यसत्ता हथियाने की नीति को राजनीति माना जाने लगा है। आज के शासकों तथा राजनेताओं का राजनीति के प्रति दृष्टिकोण पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया है। आज की राजनीति कुनीति और कपट की राजनीति है।

यद्यपि आज की राजनीति मानवीय उदात्तता और करुणा की प्रतीक नहीं है तथापि हमें वर्तमान परिस्थितियों से घबराने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि राजनीति अपने प्रकृत स्वरूप में त्याज्य और उपेक्षित-गर्हित नहीं रहती है। नकारात्मक विचारों से ही राजनीति सदा गतिमान नहीं रहती, इसका सकारात्मक और सुंदर पक्ष भी होता है। ज़रूरत है धैर्य और विवेक की।

खग, सुंदर, विहग सुंदर, मानव तुम सबसे सुंदर, क्योंकि तुममें वह शक्ति और गति है, जो असंभव को संभव बना सकती है। वर्तमान में राजनीति का भले ही कुत्सित और घृणित रूप हम देख रहे हैं, लेकिन समाज के सापेक्ष प्रयास से वह दिन दूर नहीं, जब हम समाज में राजनीति का सुंदर पक्ष देखेंगे, जो लोक में सत्यं, शिवं और सुंदरं की प्रतिष्ठा और प्रस्तार करेगा।

संदर्भ

1. समिधा (प्रवाद पर्व) : खंड 2, पृ॰ 381-382
2. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना, साहित्यिक निबंध, पृ॰ 306
3. नर्मदेश्वरप्रसाद, मानव-व्यवहार तथा सामाजिक व्यवस्था, पृ॰ 201
4. मैकाइवर व पेज, सोसाइटी : एन इंट्रोडक्शन एनालसिस, पृ॰ 23
5. महादेवप्रसाद शर्मा, राजनीति के सिद्धांत, पृ॰ 1
6. सं॰ रामचंद्र वर्मा, मानक हिंदी-कोश, चौथा खंड, पृ॰ 414
7. रमेश गौड़, नई कविता मूल्य मीमांसाएँ, पृ॰ 289
8. सूरजमल शौर्यगाथा, पृ॰ 185
9. डॉ॰ सत्यव्रत, नवभारत टाइम्स, 13 फरवरी, 1977

समकालीन हिंदीकाव्य : सांस्कृतिक चेतना

डॉ॰ कामना कौशिक
अध्यक्ष हिंदी विभाग
सी॰एम॰के॰ नेशनल गर्ल्स कालेज, सिरसा

संस्कृति शब्द में 'इक' प्रत्यय लगाकर सांस्कृतिक शब्द बनता है, जिसका अभिप्राय है– संस्कृति का या संस्कृति-संबंधी। चेतना का अर्थ है जागृति, जानकारी, ज्ञान। इस प्रकार सांस्कृतिक चेतना का अर्थ है संस्कृति का ज्ञान, चेतना।

संस्कृति का इतिहास मानवता की प्रगति का परिचायक है। मनुष्य स्वभावत: बुद्धिमान है। मानव के विकास-पथ में बुद्धि का साथ उसकी सौंदर्य की अभिरुचि ने दिया है। सांस्कृति का मौलिक अर्थ सुधारना, सुंदर या पूर्ण बनाना है। प्रत्येक मनुष्य अपने जन्म से मृत्युपर्यंत संस्कृति से प्रभावित होता है तथा संस्कृति मनुष्य से प्रभावित होती है। संस्कृति को लेकर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न विचार प्रस्तुत किए हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुख भाग्भवेत।[1]

हमारे देश की संस्कृति, समानता एवं विश्वबंधुत्व की भावना की पूर्ण समर्थक रही है; जो सभी के सुख एवं समृद्धि की कामना करती है। डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह का मत है– 'संस्कृति किसी कौम की अच्छी से अच्छी चीज़ की अपनी आत्मा का आनंद, चमत्कार और प्रकाश होती है, जैसी जिस कौम की आत्मा होगी, वैसी ही संस्कृति होगी।'[2]

ऋग्वेद (1.89.8) का ऋषि कहता है–

भद्रं कर्णोभि: शृणुयाम: देवा भद्रं पश्येवमाक्षभिर्यजत्रा'।[3]

अन्य स्थान पर ऋग्वेद (5.60.5) समान भावना एवं समान आचरण की स्पष्ट घोषणा करता है–

अज्येष्ठासो अक निष्ठास एते समभ्रातरो वावृधुऽसौभाग्याय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुधा प्रश्नि सुदिना मरूदभ्य:।[4]

'संस्कृति मानव-जीवन को विकृति से बचाकर सुकृति की ओर अग्रसर करनेवाला एक ऐसा रचनात्मक प्रत्यय है; जो अतीत से प्रेरित, वर्तमान से प्रतिबद्ध और भविष्य के प्रति उन्मुख है।'[5]

संस्कृति से ही मनुष्य आचार-व्यवहार, जीवन-पद्धति लक्ष्य एवं आदर्शों का निर्माण करता है।'[6]

डॉ॰ रामसजन पांडेय के अनुसार–'संस्कृति मानव के गतानुगतिक संस्कारों का सफल

रूप है, जिससे उसके सामाजिक आचार-विचार, पर्व-त्योहार, रहनी-करनी, रीति-रिवाज़, नीति-कार्य, अध्यात्म-कला आदि की प्रतीति होती है। संस्कृति मानव की एक तरफ़ तो विधायिका है और दूसरी तरफ़ परिचायिका भी है। समुन्नत और सौंदर्यमयी संस्कृति समुन्नत्, स्वस्थ एवं सुंदर समाज की सर्जना करती है।'[7]

10 वीं शताब्दी तक चारों वर्णों के लोग एक-दूसरी जाति में विवाह-संबंध कर सकते थे। ऋग्वेद में ऋषियों का राजकुमारियों के साथ विवाह होने के कई उल्लेख मिलते हैं। महाभारत में भी प्रायः ब्राह्मण स्नातकों का क्षत्रिय कन्याओं के साथ विवाह करने का उल्लेख मिलता है। किंतु आगे चलकर भारतीय संस्कृति का यह रूप और आदर्श सर्वथा विलुप्त हो गया। जिसके कारण 'मानव-मानव सभी समान' का उच्च सिद्धांत ही समाप्त नहीं हुआ, सब ओर जातिवाद का ज़हर अपनी जड़ें फैला रहा है। कबीरदास ने भी समाज में व्याप्त कुरीतियों, रूढ़ियों एवं ऊँच-नीच के भेद पर करारा प्रहार किया है, वे जाति-पाति का खंडन करते हुए कहते हैं–

जाति न पूछौ साधु की, पूछ लीजियो ग्यान।
मोल करो तलवारि का पड़ी रहन दो म्यान।[8]
ब्राह्मण ग्यारसि करै चौबीसों, काज़ी माह रमजाना।
ग्यारह मास कहो क्यूं खाली, एक ही मांस निचाना।[9]

दलित साहित्य का मूल प्रेरणास्रोत बाबासाहेब अंबेडकर का दर्शन है, जो कई हज़ार वर्षों की यातना और पीड़ा से उपजा है। दर्शन भी ऐसा कि जिसके अहसास-मात्र से धर्म, ईश्वर समाज, इतिहास और संस्कृति के प्रतिष्ठानों पर तरस आए। होरोडोम की कृतियों के माध्यम से दलितों के जीवन की यातना और पीड़ा का दस्तावेज़ तो तैयार हुआ ही है। रांगेय राघव का 'मुर्दों का टीला' (1948), 'कब तक पुकारूँ' (1958), रेणु का 'मैला आँचल' (1954), 'परती परिकथा' (1961), चतुरसेन शास्त्री का 'सोमनाथ' (1954), 'गोली' (1957), 'उदयास्त' (1963), पांडेय बेचन शर्मा उग्र का 'बुधुआ की बेटी' (1964), गोविंद वल्लभ पंत 'जुनिया' (1965), अमृतलाल नागर का 'नाच्यौ बहुत गोपाल' (1979), निराला का 'चतुरी चमार'। निराला केवल स्रष्टा हैं और 'चतुरी चमार' इस स्रष्टा की सहानुभूति और करुणा की उपज।

समकालीन कविता जाति-पातिगत भेदभाव और वर्गभेद के प्रति जागरूक है। राष्ट्रप्रेम के महत्त्व को चित्रित करते हुए कवि कहता है–

इस धरती से प्यार हमें है
इस मिट्टी में खेले हैं हम
अरे जहाँ का अन्न खा रहे
और जहाँ का पानी पीते
उससे छल करते चलते हो।[10]

कविवर प्रसाद एक महान कवि होने के साथ-साथ एक महान चिंतक और विचारक भी थे। वे कहते हैं–

सब भेदभाव भुलवाकर

दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे! यह मैं हूँ,
यह विश्व नींड़ बन जाता। [11]

मानव-जीवन में प्रेम का अपरिहार्य महत्त्व होता है। प्रेम का क्षेत्र अत्यंत विशाल एवं व्यापक है। प्रेम भावात्मक एवं रागात्मक स्तर पर आधारित होता है। नारी प्रेम की प्रतिमूर्ति है। यौवन रूपी बेल पर प्रेम रूपी कली खिल जाती है। जिस प्रकार फूलों में रस छिपा रहता है, उसी प्रकार प्रेम में भी संयोग और वियोग रूपी रस छिपा रहता है–

माना तूने मुझे है तरुण विरहिणी
वीर के साथ ब्याहा,
आँखों का नीर ही क्या कम फिर मुझको?
चाहिए और क्या हा! [12]

अन्य स्थल पर प्रेमभाव प्रकट करते हुए कवि कहता है–'प्रेम में स्मृति का ही सुख है। एक टीस उठती है; वही तो प्रेम का प्राण है। आश्चर्य तो यह है कि प्रत्येक कुमारी के हृदय में वह निवास करती है। पर उसे सब प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, सबको उसका मार्मिक अनुभव नहीं होता।' [13]

नारी परंपरागत आदर्शों का महत्त्व जानती है, इसलिए आदर्श नारी अपने चरित्र पर किसी प्रकार का लांछन सहन नहीं कर सकती। प्रेम का अपना आदर्श और मर्यादा होती है। आज की नारी मात्र भोग्या बनकर जीवन-यापन की पक्षधर नहीं है अपितु स्वावलंबी बनकर जीना चाहती है। नारी के प्रति समकालीन कवि की नारी-चेतना में बदलाव देखा जा सकता है–

मेनका को नहीं चाहिए आश्रय
पत्नीत्व और सौभाग्य
वह इन स्थितियों से मुक्त
बनी रहना चाहती है स्त्री
आद्यंत उसने झेली है यंत्रणा। [14]

भारतीय संस्कृति में नैतिक आदर्शों का अपना महत्त्व है। गांधी जी ने अहिंसा परमोधर्म का जो सिद्धांत दिया, उसका अनुसरण आज भी हम कर रहे हैं। समकालीन कवियों ने इन आदर्शों पर भी तूलिका चलाई है–

धनुष, बाण, खड्ग और शिरस्त्राण।
मुझे ऐसी जय नहीं चाहिए
बाणविद्ध पाखी-सा विवश
साम्राज्य नहीं चाहिए
मानव के रक्त पर पग धरती आती
सीता भी नहीं चाहिए
सीता भी नहीं। [15]

लेकिन आधुनिकता की चकाचौंध में प्राचीन मान्यताओं, परंपराओं और बंधनों की

जकड़ ढीली पड़ती जा रही है–

कौन करेगा न्याय?
जो न्याय बाँटता है या जिसे न्याय की ज़रूरत है
या जो न्याय कर सकता है या जो न्याय का शिकार है
कौन करेगा न्याय?
वही जो न्याय करते आ रहे हैं लगातार
उन्हें ही लाना पड़ेगा न्याय के रास्ते पर बार-बार।[16]

नई संस्कृति के नाम पर सूचना-संसार माध्यमों द्वारा प्रचारित-प्रसारित जिस सांस्कृतिक परिवेश का निर्माण किया जा रहा है, वहाँ सभी मूल्यों का विघटन होता नज़र आता है। संस्कृति के नाम पर अपसंस्कृति का आयोजन हो रहा है। यथा–

बेशर्म जब आँख हो तो व्यर्थ घूँघट क्या करेगा
आदमी नंगा खड़ा है सभ्यता के आवरण में।[17]
खोजने जब फूल निकला आज के इंसान में
पत्थरों से घिर गया मैं आग के मैदान में।[18]

यह स्थिति निश्चय ही सांस्कृतिक संकट की स्थिति है। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत सत्य है। लेकिन आज जो सांस्कृतिक परिवेश है, उसे हम स्वस्थ परिवेश तो नहीं कह सकते। प्राचीन मान-मूल्य, मर्यादाएँ, आदर्श विघटित हो रहे हैं तो नए संस्कार अपनी जड़ें जमाने के लिए संघर्षरत हैं। इस संकटकालीन परिस्थिति से आज के रचनाकार को जूझना पड़ रहा है। समकालीन वैज्ञानिक सत्यों, जीवन के बदलते परिप्रेक्ष्य से कवि साक्षात्कार करता हुआ एक सजग और ईमानदार रचनाकार के रूप में अपने युवा के प्रति अपने सामाजिक दायित्व का पूरी निष्ठा के साथ निर्वाह कर रहा है। अवसाद तथा घोर निराशा की स्थिति में भी स्वर्णिम भविष्य के प्रति उसकी आस्था शेष है तथा वह कहता है–

आडंबर में
समाप्त न होने पाए
पवित्रता और समाप्त न होने पाए
मित्रता, शिष्टाचार में संभावना है
इतना भर अवधानपूर्वक, प्राणपूर्वक सहेजना है
मित्रता और पवित्रता।[19]

वर्तमान परिस्थितियों से डरने की आवश्यकता नहीं है अपितु धैर्यपूर्वक जूझने की आवश्यकता है। वर्तमान चाहे कितना डरावना क्यों न हो, सुनहरे भविष्य के अंकुर इसी के गर्भ में अंकुरित होंगे। नि:संदेह भारतीय संस्कृति की अपना विशिष्ट पहचान है तथा अपनी विशिष्टता तथा श्रेष्ठता के कारण अन्य देशों के लिए आज भी भारतीय संस्कृति अनुकरणीय है।

संदर्भ

1. आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद : राष्ट्रीय जीवनचरित : गुरु रविदास, पृ॰ 2
2. डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह : मानसी गंगा, पृ॰ 25

3. आचार्य पृथ्वीसिंह आज़ाद : राष्ट्रीय जीवनचरित : गुरु रविदास, पृ॰ 3
4. वही, पृ॰ 3
5. डॉ॰ हरिश्चंद्र शर्मा, निराला काव्य का सांस्कृतिक पक्ष, सप्तसिंधु, पृ॰ 41
6. रविंद्रनाथ मुकर्जी, भारतीय समाज और संस्कृति, पृ॰ 10
7. डॉ॰ रामसजन पांडेय, भक्तिकालीन हिंदी निर्गुण काव्य का सांस्कृतिक अनुशीलन, पृ॰ 12
8. डॉ॰ पूरणमल : दलित संघर्ष और सामाजिक न्याय, पृ॰ 150
9. वही,
10. जगपति सिंह, वर्तमान को कसकर पकड़ो, राष्ट्रधर्म, जनवरी, 1985, पृ॰ 36-37
11. डॉ॰ बी॰डी॰ विज, 'आधुनिक हिंदी कविता, 2007, पृ॰ 214
12. वही
13. वही, पृ॰ 26
14. डॉ॰ विनय : एक पुरुष और, पृ॰ 125
15. समिधा (संशय की एक रात), खंड 2, पृ॰ 212
16. विश्वंभरनाथ उपाध्याय, समकालीन कविता की अंतर्यात्रा, पृ॰ 109
17. हंस, समकालीन संदर्भ में हरियाणा की हिंदी-ग़ज़ल परंपरा, पृ॰ 39
18. राकेश वत्स, समकालीन संदर्भ में हरियाणा की हिंदी-ग़ज़ल परंपरा, पृ॰ 39
19. भवानीप्रसाद मिश्र, शरीर कविता फ़सलें और फूल, पृ॰ 105

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक की महिला कहानीकारों की हिंदी-कहानियों में नारी की बदलती मानसिकता

श्रीमती सुदेशकुमारी, शोधछात्रा
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, शोध-निदेशक
पूर्व रीडर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग
वर्धमान स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिजनौर (उ॰प्र॰)

आज की नारी पहले समाज में स्वयं को प्रतिष्ठित करती है, बाद में किसी रिश्ते में बँधकर उसके अनुसार चलती है। अतः दूसरों के साथ सारे संबंध स्वार्थ पर आधारित हैं। दिखावे और स्वार्थ पर आधारित संबंधों में मधुरता लुप्त होती है। अब नारी अपने जीवन का फ़ैसला अपनी इच्छा से करके, बंधनों से मुक्त होकर अपनी शैली से जीने में विश्वास रखती है और इसी के लिए वह निरंतर संघर्ष करती है। इसी संघर्ष-भावना से उसकी मानसिकता, उसकी सोच तथा उसके जीवन के मूल्यों में परिवर्तन आया है।

बहुधा यही कहा और सुना जाता है कि पुरुषवर्ग नारीवर्ग की भावनाओं का सम्मान नहीं करता, लेकिन यथार्थ में, पुरुषों से अधिक ऐसी महिलाएँ मिलेंगी, जो स्वयं महिलाओं को कष्ट एवं हानि पहुँचाती रहती हैं। यह नारी-जीवन की सबसे बड़ी समस्या है, जिसकी चर्चा बहुत ही कम होती है क्योंकि यह समस्या समाज की चमड़ी पर न होकर समाज के आंतरिक शरीर में है। 'महिलाएँ ही महिलाओं की सबसे बड़ी शत्रु हैं।' बहुतेरे लोगों का यह कहना है।' [1]

भारतीय संदर्भ में घरेलू महिलाओं की संख्या सर्वाधिक है। इनका जीवन सीमित है। श्रद्धा, व्रत, पूजा-पाठ, दान-पुण्य, चूल्हा-चौका, बच्चों का लालन-पालन, पति के लिए न्यौछावर होना, बुजुर्गों की सेवा में अपना भविष्य होम कर देना, धैर्य, क्षमा, ममता, दया, हर क्षेत्र की लाजवाब मिसालें इसमें पाई जाती हैं। मगर विडंबना यह है कि 'इस भोलेपन को, इस त्याग को जिसके कारण वे चंद सालों में ही बीमार और बूढ़ी हो जाती हैं—आप क्या कहेंगे? ... थोड़ी भी ईमानदारी से देखने पर यह बात ज़ाहिर हो जाती है कि अधिकारों के प्रति उदासीनता उन्हें कितनी महँगी पड़ती है और पुरुष को कितनी फ़ायदे। [2]

इसकी तुलना में, स्त्रियों का एक दूसरा वर्ग उभरकर सामने आया है, जो शहरी है, कामकाजी है। इनमें अधिकांश उच्च मध्यवर्ग और मध्यवर्ग से आई हैं, शिक्षा के बल पर। इनमें उत्साह है। बाहर की दुनिया से जोड़ने का एक सुख है। वे अक्सर तरोताज़ा दिखाई देती हैं। उनका सामाजिक चरित्र है। व्यापक क्षेत्र भी उनके पास है। 'अधिकांश सामाजिक सर्वेक्षणों, की, प्रेम, विवाह, यौन-संबंध, परिवार आदि विषयों की सामग्री प्रायः इसी वर्ग से जुटाई जाती है।' [3]

यहाँ भी पति, परिवार, नाते-रिश्तेदार हैं, पर अपनी बदली हुई परिस्थितियों में, पहले वर्ग की स्त्रियों से भिन्न। अत: स्वाभाविक रूप से पारिवारिक कलह, अंसतोष और ज़िम्मेदारियों के यहाँ बिलकुल बदले हुए रूप प्राप्त होते हैं। घोर प्रच्छन्न और अतिशय उत्पीड़क और थोड़ा-सा गहरे में जाएँ तो एक और महत्त्वपूर्ण बात पता चलती है कि इस समूह की नारियों का शोषण दोहरा-तिहरा है।

नारी-उत्पीड़न के प्रश्न को बारीकी से देखने पर यह अनुभव होता है कि समाज के सभी वर्गों में शिक्षित या अशिक्षित कामकाजी या घरेलू महिलाओं में महिलाएँ भी नारी को प्रताड़ित करने में बराबर की हिस्सेदार हैं। कैसी विडंबनापूर्ण स्थिति है कि इस सारे घटनाक्रम में महिलाएँ भी महिलाओं के प्रति पुरुषों के समान भूमिका निभाती रही हैं।

इस उत्पीड़न में वे कभी सास के रूप में विद्यमान हैं, कभी जेठानी और ननद के रूप में और कभी पास-पड़ोस की महिलाओं के रूप में। ... अपने यौवन में सताई गई महिला जब वृद्धावस्था तक पहुँचती है तो अतीत की स्मृतियों में छिपे हुए घावों का बदला वह किसी और से नहीं, अपनी पुत्रवधू से ही लेने लगती है। यह क्रिया सचेतन रूप में हो न हो, किंतु होती है। ... एक मनोवैज्ञानिक तथ्य और भी है। जब नारी को बाह्य संसार से वंचित करके घर की चारदीवारी तक सीमित कर दिया गया तो स्वभावत: उस के मन में घर पर अपना स्वामित्व स्थापित करने की भूख जाग्रत हो गई।' [4]

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक की महिला कहानीकारों की कहानियों में ऐसी नारियों का भी चित्रण मिलता है, जो अपने पर बिलकुल रोक नहीं लगातीं। वे विवाहित पुरुषों को रिझाकर, विवाहित स्त्रियों से उनका पति छीनकर उन स्त्रियों के साथ अन्याय करती हैं। विवाहित जीवन में तीसरे व्यक्ति की उपस्थिति या उपस्थिति की धारणा शक खड़ा कर देती है। अपने जन्मजात शक्की स्वभाव के कारण अधिक स्त्रियाँ शक की व्याधि से पीड़ित रहती हैं। उन्हें हर दूसरी नारी पर शक होता है। ममता कालिया स्वयं एक स्त्री हैं, पर उन्होंने महिलाओं की इस प्रवृत्ति पर ख़ूब प्रकाश डाला है। जैसेकि अपनी कहानी 'सीट नंबर छह में।' [5]

मन्नू भंडारी की कहानियों में पारिवारिक, सामाजिक समस्याओं के चित्रण की अपेक्षा नारी-मनोविज्ञान का चित्रण अधिक और सफल रूप में हुआ है। वे नारीजन्य ईर्ष्या और नीचता को सहानुभूति का रूप देकर उसे मार्मिकता से प्रस्तुत करती हैं। मोहल्ले में रहकर एक-दूसरे की बुराई में अपना मनोरंजन करनेवाली स्त्रियों का सजीव चित्र इनकी 'बच्चे और बरसात और दीवार कहानियों में देखा जा सकता है।

मन्नू भंडारी की कहानी अकेली में 'सोमा' बुआ सबकी बुआ है और सबकी सेवा-शुश्रुषा करना अपना कर्त्तव्य समझती है। हर किसी के घर ऐसे अवसर पर पहुँच जाती है, जब उन्हें किसी दूसरे की मदद की आवश्यकता होती है, लेकिन इसके बावजूद वह अकेली की अकेली रहती है। [6]

कृष्णा अग्निहोत्री की कहानी 'नारी' की नायिका अपने ऊँचे पद का लाभ नारीजन्य ईर्ष्या के लिए उठाती है। स्वयं प्रेम-वंचित होने के कारण अन्य के प्रेम को सह नहीं पाती और अपने नीचे काम करनेवाली सिंधिया को परेशान करती है।

ममता कालिया की 'पच्चीस साल की लड़की' की नायिका पच्चीस साल की उम्र

तक अविवाहित रहने के कारण मिसेज शर्मा की निगाह में गंदी स्त्री है, जो उसके पति से नाजायज संबंध रखती है। समाज में महिला ही महिला को गिराती है। इस कहानी में टाइपिस्ट देर तक विवाह न होने के कारण समाज में बदनामी पाती है।[7]

पुरुष की तरह सभी क्षेत्रों में समान रूप से कार्य-क्षमता रखने पर भी नारी आज समाज में पुरुष से हेय स्थान ही पाती है। इस दयनीय स्थिति के लिए नारी के प्रति नारी की मानसिकता ही ज़िम्मेदार है। अक्सर यह भी देखा जाता है कि नारी यदि पुरुष का विरोध कर कुछ क़दम उठाती है, तो दूसरी नारी ही उसकी स्थिति का लाभ उठा उसे व्यथित करती है।

शशिप्रभा शास्त्री की ‘अग्निरेखा’ में पत्नी अपाहिज होने के कारण महत्त्वहीन एक ज़िंदा लाश है, जो मरने से भी बढ़तर स्थिति में जी रही है—अपनी ही बहन को अपने पति के साथ अपने स्थान पर देख। इस अवस्था में महिलाओं में निहित क्रूरता, निर्दयता की झलक मिलती है।’[8] लेखिकाएँ सास-ननद, जिठानी आदि रूपों में नारी के प्रति नारी के कटु व्यवहार को दर्शाती हैं। मृदृला गर्ग की कहानी ‘दो एक फूल’ कहानी में शोषित, निर्दोष नारी की दशा का वर्ण करती है। पुरुष अपनी हीनभावना से मुक्ति पाने के लिए पत्नी को मारता-पीटता है। बेचारी महिला के पक्ष में न कोई बोलता है, न पति को रोकता है, बस सब मिलकर हिंसक तमाशा देखते रहते हैं।’[9]

‘उस रात वह ख़ूब देर से घर लौटा और आते ही भीतर बैठी शांतम्मा को खींचकर बाहर अहाते में ला पटका और गालियाँ बकते-बकते उसकी पीठ पर दनादन लातें मारने लगा ‘चुड़ैल, अभी कितने बच्चों को खाएगी, हरामज़ादी तेरे करम सड़े हैं, तेरा बदन सड़ा है, तेरा पाप फलता है बच्चों की देह पर। हरामज़ादी! कुलटा डायन!’ हर गाली के साथ उसकी आवाज़ और बुलंद होती गई। हर बार के साथ उसके प्रहार और निर्दयी होते गए। फकीरप्पा की मर्दानगी साबित होती रही। गाज गिरी इमारत-सी शांतम्मा उसके पैरों के पास पड़ी रही। देवर, ननद, ससुर, पड़ोसी सब खड़े-खड़े पिटते देखते रहे। ‘दूसरी पत्तल की जूठन घर जाएगी और सड़ैंध नहीं उठेगी?’ कह सास आराम से दीवार के सहारे टिककर यह हिंसक तमाशा देखती रही।’[10]

ये समाज बड़ा क्रूर है। स्त्री को स्त्री से ईर्ष्या नहीं होती।’ शायद यह इस दुनिया का सबसे बड़ा झूठ होगा। स्त्री के अंदर ईर्ष्या-भावना जन्मजात है और विशेष रूप से स्त्री के प्रति। किसी की सुंदरता पर, ऊँचे पद पर, बच्चों पर, स्वच्छता पर, न जाने किस-किस चीज़ पर ईर्ष्या करती हैं। अब तो युग ऐसा भी आ गया है कि स्त्री अपने से सुंदर किसी दूसरे के पति पर भी ईर्ष्या करने लगती है। अपने से अधिक सभ्य पति पर ईर्ष्या करना भी अब उसकी ईर्ष्या में सम्मिलित हो चुका है। नारी ही नारी की शत्रु है। यह इस संसार का सनातन सत्य है। इस सत्य को पुरुष-समाज तो बहुत पहले से जानता है और रही स्त्री-समाज की बात तो वह भी इस ईर्ष्या-भाव से बख़ूबी परिचित है, लेकिन इस ईर्ष्या-भाव को वह छुपाना और दूसरों को अपना घनिष्ठ बनाकर नीचा दिखाना भी ख़ूब जानती है। चाल-चलन, पहनावा और शृंगार भी एक-दूसरी के प्रति ईर्ष्या-भाव जगाने में अहम भूमिका निभाता है।

उषा प्रियवंदा की कहानी ‘ज़िंदगी और गुलाब के फूल, मोहबंध’ में भी इस तरह की भावना दर्शायी गई है। संसार में सुंदर नारी जेल में जीती है। जब वह आकर्षण का केंद्र बन जाती है सभी अन्य महिलाएँ उसकी दुश्मन बन उससे ईर्ष्या करने लगती हैं—‘अचला उसके

कानों में पड़ी लंबी-लंबी मोती लड़ियों को देख रही थी। उसकी कल्पना दो क़दम आगे बढ़ गई मिस्टर देसाई की आँखों की हसरत, मीनू, देसाई की आँखों में ईर्ष्या जो उसे नहीं जानते थे। वह आपस में कानाफूसी करते थे–'वह कौन है, वह सुंदर युवती? वह सिमेज राजन है। –राजन एक लखपति मिल मालिक का लड़का है। वह किसी महारानी की तरह लगती है।' ओठों की लालिमा, मोतियों की आव, दक्षिणी सिल्क की साड़ी से झलकती शरीर की कमनीय रेखाएँ।' [11]

महिलाओं में एक अजीब खोखलापन भी पाया जाता है, जो केवल सतहीपन रखता है। उसका वर्णन कुसुम अंसल की 'मात्र एक महान' कहानी में है–'शाम को प्रायः सभी सहेलियाँ सैर को निकलतीं। चिड़ियाघर की दीवार से सटी सड़क के किनारे सभी गप्पें हाँकती-हँसती दो-तीन चक्कर लगा लेतीं। सैर की सैर और पूरे दिन के समाचारों का अच्छा-खासा आलोचनात्मक वर्णन भी तो हो जाता है। सौरमंडल से भी अधिक प्रकाशित हमारे 'सैरमंडल' में ख़ूब नए-नए वार्तालाप, चिंगारियों से जलती-बुझती उभरकर आती एक उथली मानसिकता जहाँ भावसंवेदना बिलकुल नहीं थी, किसी भी विषय के प्रति कोई संवेदना नहीं थी, जीवन को वह मात्र सैर-सपाटा समझे बैठी थी, एक उड़ताऊ नज़र से संसार को तोलती हुई।' [12]

स्त्रियों में व्याप्त इस हलकेपन को चित्रित करने के लिए, एक भिन्न मानसिकता वाली गंभीर महिला के साथ लेखिका साम्य स्थापित करती है–'सारी बात जान लेने पर भी मेरे मन में सुधा की जगह वैसी ही बनी रही .... अक्षुण्ण .... भिन्न .... शायद इसलिए मुझे लगा था वह बाहर कम, भीतर के संसार में अधिक रहती है और उन सबसे भिन्न है, जो दूसरों की ज़िंदगी में झाँकते और ग़लतियाँ निकालते हैं। .... सहेलियों का नज़रिया इंपोर्टेड वस्तुओं, इधर-उधर के स्कैंडल और चुगलख़ोरों के सिवा हो भी क्या सकता था, आज के सामाजिक या पारिवारिक जीवन ने उन्हें सिखाया ही यही था और दिया था–पलायनवादी दृष्टिकोण, जो अपने को अपने से दूर ले जाता है। अधिकतर हम अपने-आपको न देखकर बाहर देखते हैं... दूर की वस्तुओं को। ....उस भीतर के संसार को जी लेने से बाहर के संसार के सुख-दुख शरीर पर कोई असर नहीं डालते–सुधा ने उसे पा लिया था अवश्य, तभी उसमें एक आकर्षण था, अद्भुत जो मुझे बाँध रहा था।' [13]

मृदुला गर्ग की कहानी 'उसकी कराह' की पात्रा सुधा रुग्णावस्था में पति की उपेक्षा की शिकार है क्योंकि वह समय देखकर बीमार नहीं पड़ी। यही नहीं, ऐसे में मरणासन्न पड़ी सुधा को देखकर भी उसकी सास उसकी चिंता या परवाह किए बिना अपने बेटे के लिए नई बहू की तलाश में जुटी है और एक कन्या को वहाँ ला भी देती है–बेचारा, माँ ने उसे अस्पताल से निकल गाड़ी में सवार होते देखकर सोचा, घर के रहते बेघरबार हो गया है। लगता है, सुधा ज़्यादा दिन नहीं जिएगी। भगवान की मर्जी। होनी को कौन टाल सकता है। ख़ैर, बीबी जी की ननद भली लड़की है। साथ रहेगी तो मोह भी हो जाएगा। लगता है वह घर और सुमीत, दोनों को सँभाल लेगी।' [14]

बीसवीं सदी के अंतिम दशक की महिला लेखिकाओं के पास नारी-मानसिकता की अच्छी समझ है। वे अपनी कहानियों में सदियों से चल रहे नारी के द्वारा ही नारी के शोषण

की ओर ध्यानाकृष्ट करती हैं। सास की अनंत शिकायतें बहू की ज़िंदगी को नरक बना देती हैं। जहाँ महिलाओं में आपसी समझ होनी चाहिए थी, जहाँ सास-बहू के संबंधों में मधुरता होनी चाहिए वहाँ वे संबंध ज़्यादा कटु हो गए हैं। 'कपिल के घर आते ही बी जी ने शिकायत दर्ज की, 'तेरी बीबी तो अपने को बड़ी चतुर समझती है। अपने आगे किसी की चलने नहीं देती। खड़ी-खड़ी जवाब टिकाती है। .... कपिल तैश में आ गया, 'तुमने माँ को इंपरफेक्ट कहा। तुम्हें शर्म आनी चाहिए। तुम हमेशा ज़्यादा बोल जाती हो और ग़लत भी।' [15]

कितनी ही सुंदर स्मार्ट, व्यवस्थित ख़ूबसूरत महिला हो दूसरी महिला उससे किसी-न-किसी वजह से ईर्ष्या का कारण ढूँढ ही लेती है। उसकी मानसिकता इतनी गिर जाती है कि वह मरती हुई बहू के लिए दवाइयाँ या दुआएँ नहीं जुटाती, बल्कि उसकी मृत्यु के पश्चात् बेटे के घर को उजड़ने से बचाने के लिए चिंतित है। सुमीत की माँ इसी तरह के भावों से भरी सुधा के मरने का इंतज़ार कर रही है ताकि वह दूसरी पत्नी लाकर उसका घर बसा सके। उसने इसकी व्यवस्था भी कर ली है–'लगता है वह घर और सुमीत दोनों को सँभाल लेगी।' [16]

कुसुम अंसल की नायिका सुधा एक व्यवस्थित सुंदर और सभ्य स्त्री है, लेकिन समाज की घृणा केवल इसलिए है कि वह एक रखैल है, इस तरह की घृणा करने से पहले समाज भूल जाता है कि उसे रखैल बनाया है समाज ने ही और हर कार्य के पीछे स्त्री का हाथ तो होता ही है। कोई भी उसकी तरफ़दारी करनेवाली नहीं, मात्र नायिका को छोड़कर। दूसरी औरतें उसकी ज़िंदगी में झाँककर उसकी ग़लतियाँ ही निकालती हैं। सोच लेती हैं कि– 'वह कुछ भी कहे सीता-सावित्री नहीं हो सकती, उसके बच्चे हमारे बच्चे की बराबरी नहीं कर सकते, रखैल के बच्चे अपने घरों में नहीं ब्याहे जा सकते।' [17]

एक युग ऐसा भी था, जब पत्नी सचमुच ही दासी की तरह ही रहती थी। युगों तक वह पर्दे की चारदीवारी और समाज के रीति-रिवाज़ों में क़ैद रही है। किंतु बदलते युग ने बदलते दृष्टिकोण को जन्म दिया, नारी की आकांक्षाओं और उमंगों ने नारीपक्ष को एक नया मोड़ दिया है, नई दिशा दी है, उसे नई शिक्षा मिली है और जीवन को सही मायने में इच्छा भी मिली है। आज जब उसने स्वच्छंदता के वातावरण में साँस ली है, घर के बाहर का जीवन उसे प्रिय लगने लगा है।

दसवें दशक में या यूँ कहें कि अंतिम दशक की लेखिकाओं की कहानियों में आज भी अधिकतर महिलाएँ हमें ऐसी मिलती है, जो सर्वसंपन्न होने पर भी विवश हैं। वे पुरुष की दृष्टि में अब भी निम्न हैं। लेकिन क्योंकि उनकी मानसिकता तेज़ी से बदल रही है, वे समाज से तथा पुरुषों से अपने प्रति उदार दृष्टिकोण की अपेक्षा रखती हैं। आपसी संबंधों में दरार अक्सर इसलिए आती है कि पुरुष की मानसिकता अभी उतनी तीव्रता से नारी के प्रति परिवर्तित नहीं हो पाई है। लेखिकाओं का महिलाओं के प्रति भी स्पष्ट संदेश यह है कि नारी की मानसिकता तभी बदल सकती है, जब उसे शिक्षा प्राप्त हो, जब वह अपनी तथाकथित 'नारी-सुलभ कमज़ोरियों' पर विजय पा लेगी और स्वयं 'नारी द्वारा नारी का शोषण' समाप्त करने की सोचेगी। 'शिक्षित होने पर मनुष्य इनफीरियारिटी काम्प्लेक्स का शिकार नहीं होता। इस काम्प्लेक्स से मुक्त स्त्री न तो खुद आग में जलती है और न दूसरों को जलाती है।' [18]

कहानियों में ऐसे उदाहरण अपवादस्वरूप ही पाए जाते हैं, जहाँ नारी दूसरी नारी का दुख समझती है। मालती जोशी की 'प्रतिदिन' में सास-बहू के संबंध कटु होने पर भी प्रसव-पीड़ा के समय पति से अधिक मधुर हैं, क्योंकि वह पीड़ा दोनों के लिए समान है तथा पुरुष से अलग करती है।

बड़ी कुशलता के साथ मालती जोशी सीमित मध्यवर्गीय परिवेश में साँस लेती नारी का चित्रण करती हैं, जो कभी झुँझलाती, बौखलाती है, कभी ईमानदारी के साथ अपने प्रश्नों अभावों के साथ जूझती है, तो कभी समझौता भी करती है। इसी समस्या पर डॉ॰ विजय द्विवेदी ने कहा है– 'आज की नारी अपने चतुर्दिक परिवेश से, अंतर्राष्ट्रीय माहौल से अपने को जोड़ना चाहती है, किंतु संस्कारवादिता, परंपराबद्धता उसके आड़े आ रही है। वह इनके किसी मध्यम मार्ग की खोज अथवा समझौता नहीं कर पा रही है। यह एक विडंबनापूर्ण स्थिति है। अत: अपने ही बँधे-बँधाए परिवेश में स्वयं को साहसी, क्रांतिकारी अथवा स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करने की बात करना कोई मायने नहीं रखता।' [19]

'कोहरे के पार' कहानी में मालती जोशी की नायिका शीला एक अविवाहिता कामकाजी महिला है, जो शिक्षा तथा आर्थिक स्वावलंबन के कारण अब 'समर्पित नारी' से ऊपर उठ चुकी है। लेकिन अनायास उसकी बहन की मृत्यु के उपरांत उठ खड़ी हुई स्थिति मे उसका मन कुहरिला हो जाता है। उसकी दिवंगत बहन के दो लड़के और एक लड़की है। दोनों लड़के तो बड़े हैं, लेकिन लड़की स्वाति बहुत ही छोटी है। उसकी बहन ने अंतिम क्षणों में कहा है कि 'शीलू को स्वाति की माँ बना लेना।' इसलिए बहन के ससुराल वालों के साथ उसकी माँ, भैया, भाभी आदि लोग भी चाहते हैं कि वह अपने जीजा से शादी कर ले। एक ओर मृतात्मा की अंतिम इच्छा और स्वाति के प्रति ममता, दूसरी ओर उसका व्यक्तित्व-बोध, विवाह के प्रति उसका अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण, इस रिश्ते का प्रतिवाद करने को उसे प्रेरित करते हैं। वह एक तरह की कोहरेमयी मानसिकता में फँसकर अनिर्णय की स्थिति की शिकार है। वह कहती है–'मैंने अब ज़िंदगी को एक नए नज़रिए से देखना सीखा है। मेरे जीने का ढंग बदल गया है। मेरे सोच की सीमाएँ फैल गई हैं। अपने आस-पास मैंने रंगों की एक नई दुनिया ईजाद कर ली है। चेतना के स्तर पर बहुत आगे बढ़ आई हूँ। वह महसूस करती है कि वह उस व्यक्ति के साथ गुज़ारा नहीं कर सकती, जिसकी दुनिया घर और दफ़्तर तक ही सीमित हो और जिनकी ज़िंदगी रोज़मर्रा की रटी-रटाई धुन में चले। संभवत: इसीलिए अंत में सोच-समझकर फ़ैसला कर लेती है कि मात्र भावावेग में बहकर जीजा जी से शादी करना अपने व्यक्तित्व का ही नहीं, पूरे भावी जीवन को विध्वंस करना होगा। अत: वह अपने जीजा को लिखती है–'दीदी ने चाहा था मैं स्वाति की माँ बनूँ। मुझे सहर्ष स्वीकार है। दीदी की बात टालने का प्रश्न ही नहीं उठता। आप निश्चिंत होकर उसे मुझे सौंप दें। उसके बाद आप स्वतंत्र हैं। आपकी बीवी बनने का सौभाग्य जिसे प्राप्त होगा, वह मुझे दीदी की तरह ही प्रिय होगी।' [20] मगर शीला निश्चिंत रूप से संतुलित मन से कर्त्तव्य को अलग, भावुकता को अलग रखकर समर्पिता नारी से ऊपर उठकर बँधे-बँधाए परिवेश में रहकर भी, साहसी ढंग से एक तरह का मध्यम मार्ग अपनाती है।

नारी की बदलती मानसिकता का चित्रण कुसुम अंसल की कहानी 'मात्र एक मकान'

में देखने को मिलता है। निर्मल सुधा की निंदा करती है कि वह समाज में किसी की रखैल बनकर रहती है, इसलिए उसके बच्चे अच्छे घरों में नहीं ब्याहे जा सकते ... कि सुंदर नगर के परिवारों में से तो कोई नहीं जाएगा। क्योंकि उन्हें आख़िर समाज में रहना है, अपनी बेटी की शादी भी तो करनी है। पर वीना को ये किसी पुरानी सदी की बातें लगती हैं। वीना उदार, प्रौढ़, उच्च विचार रखनेवाली महिला है। वह यह मानकर चलती है–व्यवहार अपनी जगह, जीवन अपनी जगह, व्यक्तित्व अपनी जगह जोड़े भी जा सकते हैं। उन्हें अलग-अलग रखकर परखा भी जा सकता है। उसे तो सुधा सब सहेलियों से अधिक गंभीर, संवेदनशील और समझदार लगती है, हर पल जैसे वास्तविकता उसे एक सोच देती है और वह उस सोच को ठीक से पकड़ती है ... सुधा अपनी भूमिका में सबसे व्यवस्थित, स्मार्ट और ख़ूबसूरत है–उसके इन्हीं गुणों को देखकर वीना को लगा था, वह बाहर कम भीतर के संसार में अधिक रहती है और उन सबसे भिन्न है, जो दूसरों की ज़िंदगी में झाँकते और ग़लतियाँ निकालते हैं। वीना के अनुसार सैरमंडल की नारियाँ सुधा से इसलिए जलती है कि उसकी तुलना में वे सतही, हलकी-सी लगती है 'सहेलियों का नज़रिया इंपोर्टेड वस्तुओं, इधर-उधर के स्कैंडल और चुगलख़ोरी के सिवा हो भी क्या सकता था, आज तक के सामाजिक या पारिवारिक जीवन ने उन्हें सिखाया ही यही था और दिया था एक पलायनवादी दृष्टिकोण, जो अपने को अपने से दूर ले जाता है।' [21] इसके विपरीत सुधा और वीना के बीच एक प्रौढ़ गाढ़ा संबंध स्थापित हो जाता है, 'हम लोग इधर-उधर की बातें नहीं कर पा रहे थे, अत: अपनी भीतरी चारदीवारी तक ही रुके रहे।' [22]

परंपरागत दमघोटू वर्जनाओं से घिरे पारिवारिक संबंधों की निस्सारता को उजागर करती हुई लेखिकाएँ नए स्वस्थ संबंधों की नींव तलाशती हैं, जिसके लिए नारी-मानसिकता में परिवर्तन बहुत ज़रूरी है। उनकी कहानियों में खुले परिवेश में पली लड़कियाँ शादी के बाद छुई-मुई का मुखौटा पहन नहीं पाती हैं। इसलिए अक्सर नारी को समाज की आलोचना का निशाना बन जाना होता है। शर्म, हया, मर्यादा, दिखावटी आदर-भाव, बड़ों को तथाकथित सम्मान आदि पुराने रिश्तों के आधार उनके दांपत्य जीवन में घुटन भर देते हैं। 'स्नेह बंध' कहानी में नीता जैसी खुले मिजाज़ की लड़की लाकर मालती जोशी एक नया संदेश देना चाहती हैं। नीता विवाह के पूर्व पहली बार जब अपनी होनेवाली सास से मिलने जाती है, तब वह न तो झूठ-मूठ की शालीनता को ओढ़ती है और न ही झूठी मर्यादा को, शादी के बाद भी मेहमानों के चले जाने के बाद वह केवल नई दुल्हन के वस्त्र ही नहीं उतार फेंकती, बल्कि सभी झूठी ओढ़ी हुई बहू की मर्यादाएँ भी उतार फेंकती है। परिवार के सभी सदस्यों के साथ हिल-मिल जाती है। उसकी स्वाभाविक, उमंग-भरी उन्मुक्तता से सभी ख़ुश हैं। केवल सास को उसकी हरकतें बचकानी और बेहया लगने लगती हैं, लेकिन जब वही लड़की सास-ससुर के विवाह की वर्षगाँठ मनाती है और ससुर की भयावह बीमारी की कठिन घड़ी में पति की अनुपस्थिति में भी आत्मीयता के साथ अपने सेवाभाव से सबको आश्वस्त करती है, तब सास एवं बहू का रिश्ता माँ-बेटी के रिश्ते में बदल जाता है।

उषा प्रियवंदा की अचला भी 'मोहबंध में प्रतिशोध से उबरने की विशिष्टता दिखाकर नारी की बदलती मानसिकता का सुंदर उदाहरण देती है। अचला अर्थशास्त्र की प्राध्यापिका है,

अविवाहिता है, संवेदनशील है। प्रेम में धोखा खाई अचला स्त्री-जीवन के किसी मोड़ पर अपनी सहेली के पति के संपर्क में आ जाती है। यह वही सहेली है, जिसके कारण अचला का विवाह उसके प्रेमी से नहीं हो सका था। बेहद अकेलेपन में जीनेवाली अचला जिस स्त्री के कारण अकेलेपन के शाप को लेकर जी रही है, उसी स्त्री के दांपत्य जीवन को नष्ट करने का साहस नहीं कर पाती। अचला चाहती तो अपनी सखी नीलू से प्रतिशोध ले सकती थी, परंतु वह ऐसा नहीं करती। प्यार में धोखा होने पर क्या लगता है यह उसने जिया था, जाना था, भोगा था। आज भी उसी पीड़ा को भोग रही है। उसने जो दुख झेला है, वह दूसरा कोई झेले, ऐसा अचला को अच्छा नहीं लगता। वह एक नारी है और वह नारी की स्थिति को समझती है। भले ही वह प्रतिशोध की अग्नि में झलसती रही, लेकिन प्रतिशोध ले नहीं पाती। अचानक जब राजन उसके इतना निकट था उसके आगे दो आँसू भरी आँखें आ गईं, उसे लगा बाँसों की चुभीली पत्तियों पर लेटकर कोई अभी-अभी रोया है। उसकी सिसकियाँ अब भी वातावरण में भटक रही हैं। असीम सुख के क्षण में भी अचला ने स्पष्ट रूप से अनुभव कर लिया है कि इस मोहबंध को तोड़कर उसे जाना ही है, क्योंकि वे भीगी आँखें उसकी अपनी हैं।' [23]

ऐसी नायिकाओं के माध्यम से बीसवीं सदी के अंतिम दशक की महिला कहानीकारों ने नारी-मानसिकता को विशिष्टता के साथ उद्घाटित किया है। आज की नारी में अहं का उदय होने से उसके निर्णय में दृढ़ता आ रही है।

संदर्भ

1. डॉ॰ रेशमी रामदोनी, समकालीन हिंदी-लेखिकाओं की कहानियों में अभिव्यक्त बहुआयामी विद्रोह, पृ॰ 235
2. अज्ञात हिंदू औरत, सामंती उपदेश निवेदन, अंश, पृ॰ 28
3. वही, पृ॰ 28
4. डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल, नारी-उत्पीड़न की कहानियाँ, 1986
5. ममता कालिया, सीट नंबर छह, पृ॰ 19
6. मन्नू भंडारी, मेरी प्रिय कहानियाँ, अकेली कहानी के परिपेक्ष्य में
7. ममता कालिया की कहानी पच्चीस साल की लड़की के विषय में
8. शशिप्रभा शास्त्री की कहानी, अग्निरेखा के विषय में
9. मृदुला गर्ग, दो एक फूल के विषय में
10. मृदुला गर्ग, टुकड़ा-टुकड़ा आदमी, पृ॰ 9
11. उषा प्रियवंदा, ज़िंदगी और गुलाब के फूल, मोहबंध, पृ॰ 18
12. कुसुम अंसल, प्रतिनिधि कहानियाँ, मात्र एक मकान, पृ॰ 83
13. वही, पृ॰ 51
14. मृदुला गर्ग, टुकड़ा-टुकड़ा आदमी, उसकी कराह, पृ॰ 123
15. ममता कालिया, बोलने वाली औरत, पृ॰ 199
16. मृदुला गर्ग, टुकड़ा-टुकड़ा आदमी, उसकी कराह, पृ॰ 123
17. कुसुम अंसल, प्रतिनिधि कहानियाँ, मात्र एक मकान, पृ॰ 51
18. तसलीमा नसरीन, नष्ट लड़की, पृ॰ 86

19. डॉ॰ माधव सोनटक्के, समकालीन परिवेश और प्रासंगिक रचना संदर्भ प्राचार्य अशोक हज़ारे।
20. मालती जोशी, कोहरे के पार, पृ॰ 131
21. कुसुम अंसल, प्रतिनिधि कहानियाँ, मात्र एक मकान
22. कुसुम अंसल, प्रतिनिधि कहानियाँ, मात्र एक मकान
23. उषा प्रियवंदा, ज़िंदगी और गुलाब के फूल, पृ॰ 26

❐ **द्वारा डॉ॰ राजीव राठी**
राठी होम्योपैथिक आयुर्वेदिक हस्पताल
पटियाला चौक, नरवाना रोड
जींद 126102

संस्कृति, लोकसाहित्य व घाघ की लोकोक्तियाँ

डॉ॰ जया
वरिष्ठ प्रवक्ता, हिंदी विभाग
एम॰एल॰ एंड जे॰एन॰के॰ग॰का॰, सहारनपुर (उ॰प्र॰)

सभ्यता के विकास-क्रम में मनुष्य अपनी संस्कृति व सभ्यता के कई सोपानों को पार करता हुआ वर्तमान युग में पहुँचा है। अपनी आदिम अवस्था से ही, मनुष्य कई सहजात वृत्तियों के साथ ही यहाँ तक नहीं आया वरन् उसने परिवर्तित होती परिस्थितियों के प्रभाव में एक नयी संस्कृति का निर्माण भी किया, जिसे हम शिष्ट संस्कृति कहते हैं। इस प्रकार मनुष्य की सहजात वृत्तियों का प्रस्फुटित रूप यदि लोकसंस्कृति है तो समय के प्रभाव से ग्रहण किए गए संस्कारों का सौंदर्य शिष्ट संस्कृति है। वस्तुतः दोनों ही मनुष्य के संस्कारों व सभ्यता का प्रतीक हैं। 'लोक जीवन की सहजात वृत्तियाँ शिष्ट समाज के निर्माण में उसका आलंबन बनती हैं, इसलिए वेदों के साथ लोकमानस का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। दोनों का अपने-अपने स्थान पर विशेष महत्त्व है। जहाँ लोकसाहित्य शिष्ट साहित्य से कुछ ग्रहण करता है, वहाँ शिष्ट साहित्य भी लोकसाहित्य का ऋणी बना रहता है।' देखा जाए तो लोकसंस्कृति मनुष्य-समाज का मूल है तो शिष्ट संस्कृति उस समाज रूपी वृक्ष के पल्लव, पुष्प व फल; और वृक्ष का सौंदर्य-विज्ञान उसकी दृढ़ जड़ों पर ही निर्भर करता है, इसलिए अपने लोकसाहित्य का चिंतन कर हम उसके प्रति कृतज्ञता-बोध का अनुभव करते हैं।

आधुनिक युग में 'संस्कृति' शब्द का बहुधा व्यापक अर्थों में प्रयोग होने लगा है, इसका शाब्दिक अर्थ है– साफ़ या परिष्कृत करना।[2] वस्तुतः जिन चेष्टाओं द्वारा मनुष्य समाज के विभिन्न क्षेत्रों में विकास करता हुआ, सुख-शांति का अनुभव करता है, वही संस्कृति है।

संस्कृति व सभ्यता दोनों ही मनुष्य को प्रभावित करती हैं और दोनों का ही परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का मत है–

'सभ्यता का आंतरिक प्रभाव संस्कृति, सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अंतर के विकास का।'[3] राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर 'संस्कृति' के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं–

'संस्कृति ज़िंदगी का एक तरीक़ा है और यह तरीक़ा सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं अथवा जिस समाज में मिलकर हम जी रहे हैं, उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं, वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के

बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं।

इसलिए संस्कृति वह चीज़ मानी जाती है, जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभव का हाथ है। यही नहीं, बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मांतर तक करती है।'[4]

संस्कृति जीवन का तरीक़ा है, बल्कि यों कहें कि हमारे संस्कारों का परिभाषित रूप ही संस्कृति है जैसी कि बाबू गुलाबराय की मान्यता है– 'जातीय संस्कार ही संस्कृति है।'[5] वस्तुत: मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ साधनाओं की परिणति को ही संस्कृति कहा जाता है। डॉ॰ सरनामसिंह शर्मा के अनुसार– 'सामाजिक चेतना की समग्रता का सर्वोत्तम निर्वाह ही, जिसमें वैयक्तिकता विकारयुक्त होकर साधनाओं का श्रेष्ठतम आकलन करती है, संस्कृति है।'[6] संस्कृति मानव के मन में सामाजिक भावना उत्पन्न करके कल्याण के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करती है।

डा॰ भीमसिंह मलिक के अनुसार–'संस्कृति समूह अथवा समाज की वस्तु है, किसी एक व्यक्ति की नहीं, क्योंकि इसका विकास सामाजिक परंपरा द्वारा होता है। यह समाज के असंख्य व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्न का परिणाम है और यह प्रयत्न भी ऐसा कि जिसे उत्तरोत्तर आनेवाली मानव-संततियाँ निरंतर करती रहती हैं।'[7] संस्कृति भौतिक विकास के साथ-साथ मानसिक विकास करके मानव-स्वभाव को सुंदरतम बनाती है। डा॰ देवराज का मानना है कि– 'संस्कृति मानवीय व्यक्तित्त्व की वह विशेषता है या विशेषताओं का समूह है, जो इस व्यक्तित्व को एक विशेष अर्थ में महत्त्वपूर्ण बनाता है। वस्तुत: संस्कृति उन गुणों का समुदाय है, जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है।'[8] संस्कृति समग्र जीवन-पद्धति का भावनात्मक अमूर्त स्वरूप है और वह जीवन-मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है जैसा कि बी॰एस॰ सान्याल लिखते हैं– 'संस्कृति सिद्धांत और व्यवहार में मूल्यों के साक्षात्कार के लिए प्रयुक्त शब्द है।'[9]

संस्कृति का संबंध मानव-समाज से है। वह इसे उत्तरोत्तर उन्नत बनाने का कार्य करती है। साहित्य समाज का दर्पण होता है अत: जिस समाज की संस्कृति जितनी समुन्नत होगी तद्नुसार उसका साहित्य भी उतना ही उन्नत व प्रांजल होगा। हमारे विचारों व भावों की शाब्दिक अभिव्यक्ति ही साहित्य है। बाबू गुलाबराय की मान्यता है– 'जहाँ शब्द और अर्थ, विचार और भाव का परंपरानुकूलता के साथ सहभाव हो, वही साहित्य है।'[10]

साहित्य व संस्कृति का अन्योन्याश्रित संबंध है। साहित्यकार अपने युग का दृष्टा होने के कारण तत्कालीन आचारों-विचारों, रीति-रिवाजों तथा आदर्शों का निरूपण करता है। जी॰ सुंदर रेड्डी के अनुसार– 'यदि संस्कृति साहित्य को स्फूर्ति प्रदान कर जान फूँकने वाली वस्तु है तो साहित्य उस समाज की सभ्यता को उच्चतम या निम्नतम श्रेणी को दर्शानेवाला होता है।'[11]

संस्कृति के मूल तत्त्व हैं– सामाजिक तत्त्व, धार्मिक तत्त्व, दार्शनिक तत्त्व व कलात्मक तत्त्व। हमारे विवेच्य विषय का संबंध है संस्कृति के सामाजिक तत्त्व से (हमारे पारिवारिक संस्कार, पर्व, उत्सव, लोकाचार, लोक-व्यवहार, लोक-विश्वास और लोक-मान्यताएँ इत्यादि इसी तत्त्व की परिधि में अन्तर्निहित हैं।

हिंदी में 'लोक' शब्द अँग्रेज़ी के 'फोक' शब्द का पर्याय है। विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या ग्राम नहीं, अपितु नगरों व गाँवों में फैली हुई समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं।'[12] प्राचीनकाल में लोक शब्द का प्रयोग साधारण जनता के अर्थ में होता रहा है। ऋग्वेद में लोक के लिए 'जन' शब्द प्रयुक्त हुआ है।'[13] वस्तुतः 'लोक' शब्द की सीमा 'ग्राम' शब्द की सीमा की भाँति संकुचित या बँधी हुई नहीं है। 'लोक' शब्द नगर, ग्राम, जंगल, मैदान अर्थात् समूचे 'लोक' की संपत्ति है, इसलिए उन्मुक्त, विशाल और निर्बंध है। डा॰ सत्येंद्र 'लोक' शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं– 'लोक, मनुष्य-समाज का वह वर्ग है, जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।' [14] लोकसाहित्य को रचनेवाला कोई एक व्यक्ति न होकर, समूह होता है, जिसकी रचना का तादात्म्य लोक-मानस से रहता है। लोकसाहित्य व्यष्टि का न होकर समष्टि का साहित्य है, जैसाकि प्रख्यात आलोचक डॉ॰ नामवरसिंह ने जनसाहित्य व लोकसाहित्य के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है– 'जनसाहित्य औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न समाज-व्यवस्था की भूमिका में प्रवेश करनेवाले सामान्य जन का साहित्य है। इसलिए जनसाहित्य लोकसाहित्य से इसी अर्थ में भिन्न है कि लोकसाहित्य जहाँ जनता के लिए जनता ही द्वारा रचित साहित्य है, वहाँ जनसाहित्य जनता के लिए व्यक्ति द्वारा रचित साहित्य है।' [15]

लोक-वैभव का एक प्रमुख अंग 'लोकसाहित्य' है। मानव की मौखिक अथवा लिखित सार्थक अभिव्यक्ति साहित्य के अंतर्गत आती है, भले ही अध्ययन की सुविधा-दृष्टि से उसे हमने शिष्टसाहित्य अथवा लोकसाहित्य में विभक्त कर दिया हो। लोकसाहित्य को लोकवार्ता (वैभव) का ही एक अंग मानते हुए श्री भोलानाथ तिवारी लिखते हैं– 'फोक-लिटरेचर, 'फोक-लोर' का ही एक अंश है, जिसका संबंध केवल लोक के गीत, गाथा कथा-नाटक-उक्ति तथा पहेली आदि से है।'[16] इसे सरल शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोक की समस्त अभिव्यक्ति जो मौखिक अथवा लिखित हो तथा जिसका रचयिता व्यक्ति-विशेष न हो, अपितु समग्र 'लोक' हो, 'लोकसाहित्य' है। डॉ॰ सत्यव्रत सिन्हा की मान्यता है कि– 'वास्तव में हमारा लोकसाहित्य संस्कृति की उच्चतम भावनाओं को अपनी अपरिष्कृत भाषा में सँजोकर रखता है। हमारा 'लोक' पाश्चात्य देशों का 'फोक' नहीं है, अपितु देश की समूची संस्कृति एवं सभ्यता ही हमारी लोक-संस्कृति एवं लोक-सभ्यता है।' [17]

लोकसाहित्य के सागर में विभिन्न नदियों की धाराएँ, जो कि लोक-भावनाओं का प्रतीक हैं, आकर मिलती हैं। यदि देखा जाये तो लोकसाहित्य में विविध घटक मिलेंगे, जिन्हें डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय ने निम्नांकित रूप से वर्गीकृत किया है।' [18]

(अ) लोक-गीत (आ) लोक-गाथा (इ) लोक-कथा (ई) लोक-नाट्य (उ) प्रकीर्ण साहित्य। प्रकीर्ण साहित्य में लोकोक्ति (पहेलियाँ, कहावतें आदि) और मुहावरे आते हैं। लोक-मानस द्वारा उत्पादित लोक-वाणी से निकली हुई अनुभवपूर्ण 'उक्ति' लोकोक्ति कहलाती है। इस उक्ति में जीवन का देखा-सुना व भोगा हुआ परिपक्व अनुभव का निचोड़ होता है, जिसमें शिक्षा निहित होती है।'[19] उक्ति सूत्र रूप में होती है, परंतु उसका अर्थ गहरा व विशाल होता है। सारगर्भिता, संक्षिप्तता, रमणीयता व संजीवता जैसे गुण इसमें निहित होते हैं। जीवन के

प्रत्येक पहलू व विषय को ये स्पर्श करती हैं। डा॰ वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं– 'लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं। ...मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटनेवाली ज्योति प्राप्त है।' [20]

ये लोकोक्तियाँ देश के विशाल भूखंड में बिखरी हुई हैं। जन-मानस के वातावरण में घुली इन लोकोक्तियों की गंध प्रत्येक काल को सुरभित बनाती रही है। हिंदी की प्रमुख बोली भोजपुरी का लोकसाहित्य बहुत समृद्ध है, 'इस बोली का भोजपुरी नाम बिहार के शाहाबाद जनपद के छोटे से परगने भोजपुर के नाम पर पड़ा है। भोजपुरी बोली को भोजपुरिया और पूर्वी भी कहा जाता है। भोजपुरी बोली का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। यह बोली उत्तर प्रदेश और बिहार के विस्तृत भूखंड– बनारस, मिर्ज़ापुर, जौनपुर, ग़ाज़ीपुर, बलिया, गोरखपुर, बस्ती, आज़मगढ़, शाहबाद, चंपारन, सारन तथा छोटा नागपुर तक फैली हुई है।' [21]

भोजपुरी बोली में लोककवि घाघ की लोकोक्तियाँ मिलती हैं, जो जीवन के विविध क्षेत्रों के अनुभवों का निचोड़ हैं। ये अमूल्य धरोहर उस समाज की थाती है, जिनके जीवन की पाठशाला पुस्तकीय ज्ञान पर नहीं, वरन् समय द्वारा सिखाए गए गुरु मंत्रों पर निर्भर है।

वर्षा ऋतु के समय आकाश दिन में मेघयुक्त किंतु रात्रि को मेघरहित हो और पुरवा हवा तेज़ी से बहे तो घाघ इसे अनावृष्टि का संकेत बताते हैं–

दिन के बद्दर, रात निबद्दर,
बहै पुरवइया, छब्बर-छब्बर,
कहै 'घाघ' कुछ होनी होय,
कुआँ के पानी धोबी धोय।

बादल यदि शुक्रवार को आकाश में छाएँ और शनिवार को भी बने रहें, तो घाघ इसे वर्षा होने का निश्चित लक्षण मानते हैं–

शुक्रवार की बादरी, रहै शनीचर छाय,
कहै 'घाघ' सुन घाघनी, बिन बरसै नहिं जाय।

सावन के माह में पुरवाई का बहना भले ही कुछ लोगों को प्रिय लगता हो, परंतु घाघ का मत है कि इस समय पुरवाई का बहना, कृषि के लिए अशुभ संकेत है–

सावन मास बहै पुरवइया,
बैल बेच के ला धन गइया।

घाघ को ऋतु, नक्षत्र आदि का अद्भुत ज्ञान था, तभी एक स्थान पर वह कहते हैं कि रोहिणी नक्षत्र में वर्षा हो, मृगशिरा में धूप खिल जाए और आद्रा नक्षत्र का कुछ समय बीत जाने पर अच्छी वर्षा होती है, जिससे धान अधिक मात्रा में उत्पादित होता है–

रोहिणी बरसै, मृग तपै, कुछ-कुछ अद्रा जाय,
कहैं 'घाघ', सुन घाघनी, स्वान भात न खाय।

कृषि-संबंधी घाघ का ज्ञान देखते ही बनता है। वर्षा का कृषि से घनिष्ठ संबंध है। भारतीय कृषि वर्षा पर निर्भर है (घाघ मार्गशीष, पौष, माघ माह में क्रमशः अधिक, कम, उससे भी कम वर्षा होना उचित मानते हैं, फाल्गुन माह में वर्षा कृषि-हेतु घातक है–

अगहन हूने हून पूस दूने दून

माघ में सवाई, फागुन में वोहू गँवाई।

कृषि करने के सही तरीक़े पर भी घाघ विचार व्यक्त करते हैं–कृषि में यदि जोता कम जाए, किंतु हेंगाया (पटरे से खेत को समतल करना) अधिक जाए और मेड़ की मिट्टी को खुरचकर खेत में डाल दिया जाए तो पैदावार अच्छी होती है–

जोता कम, हेंगाया ज्यादा,
फेंका खेत की यारी,
तउनो पर जब ना उपजे
तब दिया 'घाघ' के गारी।

फ़सल में लगनेवाली बीमारियों के विषय में भी घाघ ने जो कहा है, वह वैज्ञानिक दृष्टि से खरा है। जाड़े की ऋतु में जब खेत में गेहूँ की फ़सल लहलहा रही हो, उस समय यदि खेत की धरती नम हो और ऊपर आकाश में बादल छाए हों, तब उस स्थिति में गेहूँ की फसल गेरूई नामक बीमारी से ग्रस्त हो जाती है–

नीचे ओद, ऊपर बदराई,
कहै 'घाघ', अब गेरूई धाई।

कृषि के लिए समय पर यथा-आवश्यक वर्षा के साथ ही सुयोग्य बैलों का होना भी अपेक्षित है, अच्छे बैलों की पहचान के विषय में भी घाघ ने पर्याप्त चर्चा की है, नीलिमायुक्त कंधे व बैंगनी वर्णवाले खुरों के स्वामी बैल कृषि-हेतु उपयुक्त होते हैं–

नीला कंधा, बैंगन खुरा,
कभी न निकले, कंता बुरा।

और छोटे सींग व पूँछवाले बैल को तो वह उत्कृष्ट मानते हैं, जिसके विषय में किसी से परामर्श लेने की भी आवश्यकता नहीं–

छोटी सींग और छोटी पूँछ,
ऐसा बरदा ले बेपूछ।

पशु ही नहीं वरन् मनुष्य के विषय में भी उन्होंने अपने विचार व्यक्त किए हैं, लालिमायुक्त त्वचा व श्वेत रोएँ वाले बैल और सबसे बड़े पुत्र दोनों के संबंध में उनका एक ही मत है कि इनमें कम ही योग्य निकलते हैं–

कयरा बरदा, जेठरा पूत
बिरलै-बिरलै, होंय सपूत।

घाघ की विशाल लोकोक्ति-निधि की ये कुछ दुर्लभ मणियाँ हैं, जो संबंधित क्षेत्र के निवासियों की स्मृति में सुरक्षित हैं। मौखिक परंपरा से इनका अस्तित्व वर्तमान तक बना हुआ है। हमारा शिष्ट साहित्य, लोकसाहित्य से उऋण नहीं हो सकता, जैसा कि राहुल सांकृत्यायन कहते हैं– 'हिंदी-साहित्य के निर्माण में लोकसाहित्य ने आधारशिला का कार्य किया है।'[22]

लोकसाहित्य मानव-जीवन के सामाजिक ही नहीं वरन् प्रत्येक पक्ष यहाँ तक कि मनोविज्ञान व संस्कारों को भी, प्रभावित करता है। 'किसी देश के जीवन में लोकसाहित्य की विशिष्ट महत्ता है। सच तो यह है कि लोक की वास्तविक संस्कृति उसके मौखिक साहित्य में निहित होती है।' [23] आधुनिक रचनाकार चाहे गद्य में लिखे या पद्य में, लोकसाहित्य में

प्रचलित अनेक शब्दों को वह अपनी रचना में ग्रहण करता है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने इस संबंध में अपना स्पष्ट मत देते हुए लिखा है कि– 'हिंदी में जितनी कहावतें और मुहावरे प्रचलित हैं प्राय: सब गाँव की बोली से आए हुए हैं। यह उसका बड़ा ऋण है, जिससे हिंदी कभी उऋण नहीं हो सकती।' [24]

संदर्भ

1. छत्तीसगढ़ी एवं बुंदेली लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन- डॉ॰ दुर्गा पाठक, साहित्य संगम, इलाहाबाद-1994, पृ॰ 1
2. कल्याण (हिंदू संस्कृति अंक) संपादक, डॉ॰ सम्पूर्णानंद, जनवरी 1950, पृ॰ 24
3. विचार और वितर्क, आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन (प्रा॰) लि॰, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, 1969, पृ॰ 181
4. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह दिनकर, राजकमल एंड संस, दिल्ली, 1988, पृ॰ 653
5. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, गुलाबराय, साहित्य प्रकाशन मंदिर, ग्वालियर, संशोधित संस्करण, 1956, पृ॰ 1
6. साहित्य : सिद्धांत और समीक्षा, डॉ॰ सरनामसिंह शर्मा, श्रीराम एंड कंपनी, आगरा, 1962, पृ॰ 14
7. जायसी काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ॰ भीमसिंह मलिक, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, प्रथम संस्करण, 1978, पृ॰ 1
8. भारतीय संस्कृति, डॉ॰ देवराज, सूचना विभाग उ॰प्र॰, लखनऊ, 1960, पृ॰ 21
9. Culture : An Introduction – B.S. Sanyal, Asia Publications House, New Delhi , 1962, Page 44
10. काव्य के रूप, गुलाबराय, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1964, पृ॰ 3
11. शिक्षा और भारतीय संस्कृति (विशेषांक) सं॰ डॉ॰ रामसकल पांडेय, पृ॰ 92
12. जनपद: लोकसाहित्य का अध्ययन, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, जनपद परिषद, काशी, 1952-54 वर्ष अंक, पृ॰ 65
13. य इमें रोदसी उमे अहमिदं भटष्टवं।
    विश्वामित्र रद्याति वृहदं भारत जनं।। –ऋग्वेद 3-53-12
    मैक्समूलर चौखंबा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
14. लोकसाहित्य विज्ञान, सत्येंद्र, शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी प्रा॰लि॰, आगरा, 1962, पृ॰ 3
15. जनपद त्रैमासिक, डॉ॰ नामवरसिंह का लेख, खंड एक अंक 2, पृ॰ 63-64
16. सम्मेलन पत्रिका (लोक-संस्कृति अंक) लोकायन और साहित्य, श्री भोलानाथ तिवारी, हिंदी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् 2010, पृ॰ 435
17. भोजपुरी लोकगाथा (भूमिका), सत्यव्रत सिन्हा, हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, 1958, पृ॰ च
18. लोकसाहित्य की भूमिका, डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, 1957, पृ॰ 25-26
19. छत्तीसगढ़ी एवं बुंदेली लोकगीतों तुलनात्मक अध्ययन, डॉ॰ दुर्गा पाठक, साहित्य संगम, इलाहाबाद, 1994, पृ॰ 23
20. पृथ्वीपुत्र, डॉ॰ वासुदेवशरण अग्रवाल, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, 1949, पृ॰ 111
21. हिंदीभाषा और साहित्य का इतिहास, डॉ॰ जगदीशचंद्र 'इंदु', राज बुक डिपो बरेली, 1987, पृ॰ 62

22. हिंदी साहित्य का वृहत् इतिहास (षोडस भाग) सं॰ राहुल सांकृत्यायन एवं डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1961, पृ॰ 15
23. भोजपुरी लोकसाहित्य का अध्ययन, डॉ॰ कृष्णदेव उपाध्याय, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1960, पृ॰ 14
24. ग्राम-साहित्य, रामनरेश त्रिपाठी, भाग एक, पृ॰ 59

‘सूरजमल शौर्य-गाथा’ का परिवेश-चित्रण

डॉ॰ राजपाल

‘सूरजमल शौर्यगाथा’ महाकाव्य के रचयिता डॉ॰ धर्मचंद्र विद्यालंकार हैं। महाकाव्य नायक-प्रधान होकर भी व्यक्तिपरक नहीं होता, अपितु वह तो किसी भी देश और समाज का विराट् चित्र ही होता है। उसमें क्या राजनीति, क्या संस्कृति, क्या धर्म, क्या जनजीवन सभी से तत्कालीन संपूर्ण परिवेश वर्णित होता है। अपितु कई बार तो स्वयं परिवेश ही नायकत्व प्राप्त कर लेता है। आंचलिक महाकाव्यात्मक उपन्यासों में तो हम यही प्रवृत्ति देख सकते हैं।

धर्मचंद्र विद्यालंकर ने अपने इस महाकाव्य में महाराजा सूरजमल के युग से पूर्व की परिस्थितियों का यथातथ्य आकलन किया है। क्योंकि किसी विराट व्यक्तित्व की प्रसव-पीड़ा का कारण तो वही बनती है। भरतपुर नरेश महाराजा सूरजमल का जन्मकाल 1707 ई॰ है, जोकि मुगल-सत्ता का ह्रास-काल है; या इसे हम मध्यकाल का अंतिम उत्तरार्द्ध भी कह सकते हैं। इससे पूर्व से ही भारत में मुगल-सत्ता का पराभव प्रारंभ हो गया था। जहाँ पर औरंगजेब की अतिकेंद्रीयकरण और धर्मांधतापूर्ण राजनीति इसके लिए उत्तरदायी थी; उसके मरणोपरांत दिल्ली की केंद्रीय सत्ता का विखंडन भी मुगल-सत्ता के ह्रास का कारण रहा है/ फिर कोई सुयोग्य और सर्वस्वीकार्य शासन का उत्तराधिकारी भी न होना भारत में मुगल-सत्ता के पराभव का प्रमुख परिणाम रहा है।

मोहम्मदशाह रंगीले जैसे बादशाह, औरंगजेब के बाद दिल्ली की गद्‌दी पर बैठे, जोकि शासन-सूत्र संचालन में सर्वथा असफल थे और उच्चकोटि के भोगी और विलासी थे। बादशाह आलम के विषय में तो यह कहावत ही बन गई थी कि–बादशाह आलम, दिल्ली से पालम। तभी तो महाकवि ने इस ओर इंगित किया है–

मोहम्मदशाह नामधारी बादशाह बन बैठा,
मात्र दिल्ली में ही जिसका जमा दरबार था,
सुरा और सुंदरी का एक ही तो शौक़ था, हाँ
भोग औ’ विलासों का उमड़ता पारावार था।[1]

भारत में उत्तर मुगलकाल सामंती-सत्ता का काल है। विशेषकर उसका उत्तरार्ध तो घोर पतन और पराभव का था। क्योंकि दिल्ली में दुर्बल शासकों के कारण सूबेदार, राजा और नवाब पर्याप्त शक्तिशाली हो चले थे, वे ही भूस्वामी थे। उन्हीं के माध्यम से राजस्व की उगाही होती थी–वे लोग उसका अल्पांशु धन ही ऊपर देकर शेष में अपना वैभव विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। उनका जीवन आमोद-प्रमोदपूर्ण था, क्योंकि वे जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। इसका चित्रण इस महाकाव्य में भली-भाँति हुआ है–

केंद्र सत्ता दुर्बल बनी औरों का मुख ताकती थी,
उसकी न जनता को ज़रा अवकाश था,
नए-नए महल-अटारी थे छबाए जाते,
भोग-एश्वर्यों की वृद्धि ही विकास था।
सुरा और सुंदरी के रंगारंग दौर चलते,
कवि-सम्मेलनों का विषय परिहास था।
सेवा और सुरक्षा नहीं अपनी दीन जनता की,
जीवन का लक्ष्य मात्र एक बस विलास था।[2]

भारतीय इतिहास में मुगलकाल का उत्तरार्द्ध तो वैसे भी अंधकार युग ही है, क्योंकि इस काल में केंद्रीय सत्ता सबल न होने के कारण भारत को बारंबार विदेशी आक्रांताओं से आक्रांत होना पड़ा–जिसमें अहमदशाह अब्दाली और दुर्रानी तो बहुत ही दुर्दांत थे। विदेशी आक्रमणों ने दिल्ली की सत्ता को और भी दुर्बल बना दिया था, क्योंकि विदेशी आक्रांताओं का तो एकमात्र उद्देश्य केवल लूटपाट और मारकाट ही था। जबकि स्वदेशी शासक अपनी स्वतंत्रता को समुत्सुक होकर मांस-पिंड लोलुप स्यारों की भाँति झपट रहे थे–

दिल्ली की सत्ता अबल बनी, लड़ते थे मुंशी-मीर वहाँ,
राज्यों की बंदर बाँट करी, लड़ते थे सभी वज़ीर वहाँ,
जिसको भी मिलता था अवसर, वह औरों पर करता प्रहार,
अपने दल-बल या छल से ही, लक्ष्मी का मिलता वहाँ प्यार।[3]

किसी एक खोजे का वध दिल्ली में हो गया था, जिसका दोषारोपण अवध के नवाब सफ़दरजंग के सिर मढ़ दिया गया था, इसी ब्याज से उसे पदमुक्त कर दिया गया था। दिल्ली की वज़ारत में उसका स्थान ग़ाज़ीउद्दीन ने ले लिया था।

जहाँ पर ये अमीर-उमरा तथा राजे और नवाब परस्पर संघर्षरत थे, वहीं पर वे जनता को भी नोंच-खसोट रहे थे–

पनप रहा था स्वेच्छाचार, बनकर नवाब हिंसक स्यार,
जनता का धन-श्रम सब लूटा, अपना वैभव किया अपार।[4]

मनमानी राजस्व वसूली करके मांडलिक नरेशों ने स्वयं को सर्वसत्ता-संपन्न बना लिया था। केंद्रीय सत्ता विखंडित थी; तो स्थानीय स्तर पर भी विद्रोह की चिंनगारियाँ फूट रही थीं।

जब शासक बजाय रक्षक के भक्षक बन जाए तो उसके विरुद्ध भी विद्रोह स्वत: सिद्ध है। क्योंकि जहाँ पर विषमता जितनी अधिक होगी, वहाँ पर विरोध भी उतना ही मुखर होता है। तभी तो शाहजहाँ के समय में ही मुर्शीद कुली खाँ और अब्दुल नवी नामक सूबेदारों के विरुद्ध नंदराम नामक जननेता ने क्रांति का सिंहनाद किया था–

जब शासन करता भेदभाव, करता न जन-धन का रखाव,
शोषण पर मौज़ उड़ाता है, तुम पर फिर उसका क्या दबाव,
हम नहीं मानते यह शासन, जिसका अन्याय पर आसन,
तुम कर दो अभी लगान बंद, हिल उठे अभी यह सिंहासन।[5]

जब राजनीति धर्म के मत के आग्रहों से परिचालित या प्रेरित होती है, तो वह राष्ट्रीय नहीं रह जाती, अपितु किसी धर्म-पंथ या जाति-विशेष की ही बंधक बनकर रह जाती है। ऐसी स्थिति में वहाँ पर जनतंत्र भी जनतंत्र नहीं रह जाता, बल्कि वह तो वन-तंत्र ही बनकर रह जाता है। सामंती युग में और मुगलकाल के उत्तरार्द्ध में तो लोकतंत्र की कल्पना तक असंभव ही थी–

जो नायक होते हैं अविचारी, सेना वे सजा करके भारी,
शासन की रास खींचते हैं, रहती है विकल जनता सारी।
रहता है न जनतंत्र वहाँ, बन जाता है, वनतंत्र वहाँ,
होते हैं अनय-अन्याय घोर, नीतिमय चलता मंत्र कहाँ? [6]

जब जनता को मत-पंथों में बाँटकर जजिया और राहदारी जैसे कर जनता के एक वर्गविशेष पर ही थोपे जा रहे थे तो भला वहाँ पर राजनीति राष्ट्र-नीति कैसे बन सकती थी। डॉ॰ विद्यालंकार ने ऐसी भेदभावमूलक राजनीतिक परिस्थिति और परिवेश का यथा चित्रांकन किया है।

धार्मिक परिवेश :

जैसा कि हमने पूर्व में भी कहा है कि मुगलकाल के उत्तरार्द्ध में मतांध राजनीति ने भारतीय जनता को धार्मिक आधार पर बाँट दिया था, जिसमें एक वर्ग विशेष के मतावलंबी शासक जाति के मान लिए गए थे, शेष इतर मतावलंबी उनके अधीनस्थ स्वीकार कर लिए गए थे। अतएव उनकी धार्मिक स्वतंत्रता भी एक प्रकार से प्रतिबंधित ही थी।

1669 ई॰ के औरंगजेब के आदेशानुसार सभी हिंदू धर्मस्थलों का निर्माण प्रतिनिषिद्ध कर दिया गया था, क्योंकि वहाँ पर प्रस्तर प्रतिमाओं का पूजन होता था। इस सबका मार्मिक वर्णन महाकवि ने निम्नलिखित सवैये में किया है–

भूमिसात किए थे अनेकों ही तो देवधाम,
जिनमें सजे थे चित्र वह घनश्याम के,
कान्हा और राधिका की जोड़ी ठुकराई गई,
देवालय जिन्होंने दिव्य-भव्य अभिराम थे।
शोभते शिखर थे वहाँ, गगन के गर्भ में,
कला से कलित वे ललित तो ललाम थे,
प्रतिमा का पूजन ही पातक था महा एक,
तभी तो उजाड़े गए वे ब्रजधाम थे। [7]

जहाँ पर मत-पंथों की अंधी आँधी चलती है, वहाँ पर राजनीति भी अपना विवेक खो बैठती है। राजनेता भी अपनी जनता को तिरछी दृष्टि से देखना शुरू कर देते हैं। धर्मांध राजनीति अंत में सर्वसत्तावाद की ही जननी सिद्ध होती है, जिसमें जनता का एक वर्ग स्वयं को वंचित और प्रवंचित तथा दमित और कुंठित ही अनुभव करता है। मुगलकाल के उत्तरार्द्ध में भारतीय जनमानस धार्मिक आधार पर स्पष्ट रूप से हिंदू और मुस्लिम के रूप में बँट चुका था। वही हमारी राष्ट्रीय एकता में भी बाधक सिद्ध हुआ।

धर्मांधता की कोई सीमा-रेखा नहीं होती। राज्य के मताग्रही होने पर वह अपने धर्मपंथ

के स्वल्प संख्यक लोगों के साथ भी भेदभावपूर्ण व्यवहार करता है। ईसाइयों में रोमन कैथोलिकों और प्रोटैस्टेंटों का संघर्ष ऐसा ही था। जहाँ पर रोमन कैथोलिक राजसत्ता में थे, उन्होंने अपने ही धर्म-बंधुओं को उनके गलों में पत्थर लटकाकर उन्हें डुबो-डुबोकर मारा था। इसी प्रकार से भारत में भी बौद्ध और शैवों का संघर्ष हुआ। मुगलकाल में यह सत्ता-संघर्ष शिया और सुन्नी मुसलमानों के ही मध्य में था। मत-पंथ की राजनीति की अंतिम परिणति यही होती है। उस समय अल्पसंख्यक तो स्वयं को असुरक्षित और भविष्यहीन अनुभव करते ही थे। वे सत्ताच्युत होने के कारण बहुसंख्यक होकर भी स्वयं को स्वल्पसंख्यकों की भाँति भयभीत और दिशाहीन अनुभव करते थे।

हिंदुओं की तत्कालीन मन:स्थिति का वस्तुपरक अंकन सूरजमल शौर्य-गाथा में निम्न प्रकार से हुआ है–

जजिया जैसा काला कर हिंदू पै लगाया गया,
सांप्रदायिकता की हठ शासन ने ठानी थी,
खंड-खंड हुई थी मुगलों की सत्ता सारी,
अब तो तलवार उनकी हुई बेपानी थी।[8]

जो राजनीति मताग्रही धर्मनीति का अंधानुकरण करके जनता को धार्मिक आधार पर विभक्त करती है, भला वह स्वयं भी कैसे अखंड रह सकती है? क्योंकि बहुसंख्यक मत-विशेष के लोगों को असंतुष्ट करके कोई भी शासन-सत्ता सर्वथा सुरक्षित और सफल नहीं हो सकती। मुगलकाल के उत्तरार्द्ध में बहुसंख्यक हिंदू-जनता की मनोदशा दयनीय थी–

हिंदू-जनता थी दीन-हीन, उसका सारा था स्वत्व क्षीण,
हाँ, भाग्य भास्कर उसका तो, हो गया सदा को ही मलीन।[9]

धर्मांध राजसत्ता अपनी ही जनता को किस प्रकार से बाँटकर उसे परस्पर में विद्वेषी बना देती है, यह हम उपर्युक्त उद्धरण में देख सकते हैं।

आर्थिक परिवेश :

महाराजा सूरजमल के समय का भारतीय आर्थिक परिवेश भी संतोषजनक नहीं था, क्योंकि जनता शासन-सत्ता द्वारा मत-मजहबों में बाँट दी गई थी, जिसका सीधा प्रभाव दोनों मत-पंथों के मतानुयायियों की आर्थिक स्थिति पर भी पड़ना ही था। उस समय के अधिकांश भूस्वामी और सामंत मुस्लिम नवाब थे। राजधर्म मतावलंबी लोगों को ही शासकीय सेवाओं में वरीयता प्राप्त थी। ऐसी स्थिति में हिंदू जनसंख्या का राजकीय सेवा-सुविधाओं से वंचित होना सहज स्वाभाविक ही था।

बहुसंख्यक वर्ग कृषक था। 'सूरजमल शौर्यगाथा' को यदि कृषक गौरवगाथा कर दिया जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी; क्योंकि उसमें कृषक जीवन-अभियोंगात्मक चित्र बाहुलता में है। उस सामंती और जागीरदारी शासन-व्यवस्था में किस प्रकार से किसानों से अकालो में भी निर्ममतापूर्वक राजस्व उगाही की जाती थी, उसका चित्रण डॉ॰ विद्यालंकार ने मर्मांतक रूप में किया है–

वर्ष-भर मर-पच जो भी हाँ, कमाते कृषक, लगानों में उसकी यहाँ हो जाती लुटाई थी,

देखता था टुकुर-टुकुर यम रूप कारिंदों को, आख़िर तो ख़ून-पसीने की वह कमाई थी।
वसनों से विरहित रहता था बदन निज, देखी नहीं जाती भूखे बच्चों की रुलाई थी,
पूरा नहीं होता था उपज से लगान जब, धरती की बोली छोड़ होती भरपाई थी। [10]

सामंत शादी-विवाह के उत्सव पर कृषकों पर कर लगाते थे। उनका अतिरिक्त व्यय-भार उनके सिर पर था, और तो क्या, स्वेच्छाचारी कारिंदे उनकी पत्नियों तक को उठाकर अपने हरमों में ले जाते थे।

यदि सामंतों के यहाँ पर विवाहोत्सव होता था, तो उसका विशेष कर ब्याहवन के नाम से उन पर आरोपित किया जाता था। यदि नवाब साहब या ठाकुर साहब के यहाँ पर वस्त्रादि का भी क्रय किया जाता था, तो मुगलकाल में किसानों के सिर पर गूदड़ा टैक्स ठोका जाता था। वे किसान भी विशेषकर एक वर्ग-विशेष के ही थे, क्योंकि वही भूमि के स्वामित्व से वंचित थे। इस प्रकार से उत्तरार्द्ध का मुगल शासनतंत्र लूट-तंत्र में ही तो परिवर्तित हो गया था–

इस प्रकार अनेकों छद्मों से, उसका होता था नित शोषण,
बढ़ता वैभव-विलास उधर, होता ही रहता यहाँ रोदन,
सत्ता-संपत्ति का प्रवाह, वह रहा दिल्ली की ओर अथाह,
वह दौलत के मद में झूमी, जनता भरती थी नित कराह। [11]

जहाँ पर राज्यसत्ता किंवा व्यवस्था विषमतामूलक और भेदभाव पर आधृत होती है, वहाँ पर जनाक्रोश का ज्वार उठना आस्वाभाविक नहीं है। ह्रासशील मुगल-सत्ता को इसी पक्षपातपूर्ण और शोषणपरक दुनीर्ति के विरुद्ध ही तो नंदराम जैसे जननायकों और गोकुला जैसे कृषक-केहरियों ने क्रांति का शंखनाद किया था–

उसने हिंसक हुंकार भरी, अन्यायी हित ललकार भरी,
आह्वान किया था कृषकों का, तुम ही बन जाओ चौध-धरी,
बन कृषक-क्रांति की कड़ी एक, जनता का करने अभिषेक,
गोकुला जाट ने खड्‌ग गही, ब्रजभूमि की रखने को टेक,
तुम कमा-कमा मरते जाते, भरपेट न पीते हो खाते,
जो इस मेहनत पर मौज करे, क्यों न उससे मुक्ति पाते? [12]

लेखक ने स्वयं 'दो शब्द' में स्वीकार किया है–'कोई राज या रियासत न होते हुए भी जाटों ने अत्याचारी मुगल शासकों के विरुद्ध सुदीर्घ और निर्णायक संघर्ष किया। जाटों के संघर्ष की कड़ी में नंदराम, गोकुला, राजाराम, चूड़ामन, ब्रजराज, बदनसिंह और सूरजमल तथा जवाहरसिंह आते हैं। जहाँगीर के समय से लेकर मोहम्मदशाह और नजीब के समय तक जब तक कि मुगल-सत्ता का अंत नहीं कर दिया–जाटवीरों ने दम नहीं लिया।'

जाट किसानों का चरित्र सर्वत्र ही सत्ता-विरोधी और संघर्षशील रहा है। सिंध और पंजाब से लेकर आगरा-भरतपुर तक इनका स्वभाव यही है। इस जाति के कृषक-केहरियों ने ग्रामीण पंच-पंचायतों के बल पर ही सदैव शोषक सत्ता से लोहा लिया है। पाल और खापों के रूप में संगठित इस जनगण की यह अपनी ही विशेषता है कि वह अपने साथ संघर्ष में अन्य कृषक जातियों को भी जोड़ लेते हैं। वीर गोकुलसिंह ने तो अपने साथ जाटों के अतिरिक्त गूजर तथा मेव किसानों को भी जोड़ लिया था। उसी प्रकार से सूरजमल ने तो जाट-गूजर-मीणे और

सैणी तथा अहीर किसानों तक को अपनी सेना में स्थान देकर जोड़ लिया था। तभी तो वह संघर्ष एक जाति-विशेष का न होकर जन-संघर्ष बन जाता था। वीरवर गोकुलसिंह का संघर्ष औरंगजेब के विरुद्ध ऐसा ही धर्मनिरपेक्ष जनांदोलन था–उसको पृष्ठभूमि के रूप में यहाँ उकेरा गया है–

वह कृषकवाहिनी मदमाती, थी पावस सरिता उमगाती
बम-बम का करती महोच्चार, तब टूट पड़ी थी बल खाती।
टूटे सिंहों-से जाटवीर, आ धमके मुगलवाहिनी तीर,
गाजर-मूली से काट दिए, कितने ही यवनों के शरीर। [13]

सूरजमल शौर्य-गाथा में निरूपित कृषक-संघर्ष दोहरा है। एक ओर यदि वह आर्थिक है, तो दूसरी ओर धार्मिक भी है। क्योंकि औरंगजेब के शासनकाल में किसानों की आर्थिक स्वतंत्रता ही नहीं, अपितु धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता भी प्रतिबंधित ही थी। ब्रज में केशवदेव के देवालय का विध्वंस किया गया था, जिसके कारण सारी ही धर्मपरायण कृषक जनता उस धर्मांध शासन के विरुद्ध खड्गहस्त हो गई थी। लेकिन यह संघर्ष इकहरा सांस्कृतिक नहीं था, बल्कि आर्थिक-उन्मुक्ति का भी था। तभी तो गोकुला से लेकर सूरजमल तक के संघर्ष में ब्रज के मेव-किसानों की भी समान सहभागिता रही थी। इस प्रकार से जाट-किसानों का संघर्ष निरा सांप्रदायिक संघर्ष न होकर लोकसत्ता और राजसत्ता का ही संघर्ष था–

मद राज-शक्ति का एक ओर, वैभव-विलास की किरण कोर,
जन-बल का था तूफ़ान इधर, खिल उठी क्रांति की स्वर्ण-भोर,
बल विषम और विकराल वहाँ, नर्तन करता था काल वहाँ,
गोलों की थी वर्षा भीषण, केवल थी ढाल-करवाल वहाँ। [14]

कृषक-क्रांति का उपर्युक्त चित्रण तो जैसे हमें अपना समकालीन दृष्टिगत होता है। भले ही अब वह संघर्ष हिंसक न रहा हो, लेकिन आज भी हम जब कृषक-संगठनों के जनसंघर्षों को देखते हैं, तो उत्तरमध्यकाल का वह किसानांदोलन हमारी स्मृति में साकार हो उठता है। महाकवि डॉ॰ विद्यालंकार ने ऐसे ही नरपुंगव कृषक-केसरियों के लिए 'सूरजमल शौर्यगाथा' का सृजन किया है–

जिन ने अपने श्रम-सीकर से किया था भूतल का सिंचन,
लहू अपना बहा-बहा करके, सरसाया है मेरा उपवन।
उन वीरवरों के चरणों में, अर्पित हैं मेरे शब्द-सुमन,
मर मिटे आज जो हैं अनाम, उनका करता हूँ अभिनंदन। [15]

इस प्रकार से इस महाकाव्य में जनजीवन का सजीव चित्रण है।

सांस्कृतिक परिवेश :

'सूरजमल शौर्यगाथा' में निरूपित सांस्कृतिक परिवेश एकपक्षीय नहीं है, अपितु वह बहुआयामी है। डॉ॰ विद्यालंकार जहाँ पर भारतीय किंवा हिंदू जनता के पतन के लिए मुगल-सत्ता को उत्तरदायी ठहराते हैं, वहीं पर वे हिंदू-समाज की अपनी आंतरिक विसंगतियों को भी दृष्टिविगत नहीं करते हैं। कहना नहीं होगा कि मध्यकाल में हिंदू-जाति सामाजिक संघर्ष और

जागतिक यथार्थ से पराड्ंमुख होकर भाग्यवादी और पलायनवादी हो चली थी। उसकी जीवनदृष्टि अतीतोन्मुखी थी, वह भविष्योन्मुखी नहीं थी। दूसरे, वह अध्यात्मवादी अधिक थी, यर्थावादी नहीं थी। इसी वस्तुसत्य को महाकवि ने यहाँ पर निम्न प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान की है–

नि:श्रेयस की चिंता में ही पड़े थे वे आर्य लोग,
अभ्युदय की रीति-नीति तब बिसराई थी,
पढ़ा था निवृत्ति हेतु शंकर अद्वैतवाद,
गीता की कर्ममय सीख वह भुलाई थी।
ज्ञान और भजन ही तो सीखा था बस एकमात्र,
तभी तो निवीर्य बन, गई लगती दुहाई थी,
ब्रह्म-क्षत्र का था न यहाँ समुचित सन्निवेश,
भक्ति ही भक्ति थी–शक्ति सब गँवाई थी। [16]

मूर्तिपूजा और अवतारवार ने हिंदू-जाति को भाग्यवादी और संघर्ष-भीरू बना दिया था। उसी का परिणाम उसका श्रम और संघर्ष से पराड्ंमुखता रहा है।

राजनीतिक परिवेश :

उत्तर-मध्यकालीन भारतीय राजनीति का परिवेश शांति और सहमति पर आधृत नहीं था, अपितु वह मतभेदों और ख़ून-खराबे का है। राज-परिवार स्वयं ही सत्ता-संघर्ष में सलंग्न थे। राजतंत्र में वैसे भी शासक की निर्णय-शक्ति ही काम करती है। जनतंत्र की भाँति वहाँ जनमत का दबाव नहीं रहता। वहाँ पर तो शक्ति-संतुलन ही सत्ता-समीकरणों को तय करता है। उस समय सत्ता-प्राप्ति का एकमात्र वैध या अवैध उपाय सैन्य-शक्ति ही था, अतएव हमें सारा ही उत्तरमध्यकाल रक्त-रंजित दीख पड़ता है। कहीं विदेशी आक्रमण हैं, तो कहीं पर स्वदेशी शासकों के पारस्परिक रक्तिम संघर्ष।

आजकल की भाँति तब राजनीति में कूटनीति या राजनय का स्थान कम था, क्योंकि तब राजनीतिक वातावरण एकांत रूप से अविश्वसनीय था, अतएव सैन्य-शक्ति-संतुलन से ही अपनी दिशा तय होती थी। इसलिए हमें 'सूरजमल शौर्यगाथा' में तत्कालीन परिवेश में युद्धों का भीषण रव सुनने को मिलता है। सामंतों का पारस्परिक सामरिक संघर्ष साधारण बात थी। अतएव हमें यहाँ पर भी स्थान-स्थान पर युद्धों का सजीव वर्णन मिलता है–

हाथी-सिंहों का गर्जन था, मेघों का-सा हाँ गर्जन था,
करने को अमा का आज अंत, नूतन सृष्टि का सर्जन था,
कटकर गिरते थे रुंड-मुंड, हाथी-घोड़ों के कटे तुंड,
शोणित की सरिता बह निकली, भर गए रक्त से गह्वर-कुंड। [17]

दिल्ली की राज्यसत्ता दुर्बल हो चली थी। मुगल शहजादे सत्ता-संघर्ष-निरत थे। उधर हिंदू और मुस्लिम सामंत अपनी-अपनी क्षेत्रीय स्वायत्ता का स्वरघोष कर रहे थे। उधर विदेशी आक्रांता आखेटक बनकर अबाध रूप से आक्रमण कर रहे थे। ऐसी स्थिति में केंद्रीय राज्य-सत्ता अस्थिर और अशांत थी। सारे ही देश में अराजकता और अव्यवस्था का साम्राज्य था।

'सूरजमल-शौर्यगाथा' में इस राजनीतिक परिवेश का जीवंत चित्रण है।

संदर्भ

1. प्रथम सर्ग, सूरजमल शौर्यगाथा, पृ॰ 15
2. वही, पृ॰ 15
3. वही, पृ॰ 20
4. प्रथम सर्ग, पृ॰ 18
5. वही, पृ॰ 18
6. द्वितीय सर्ग, पृ॰ 46
7. प्रथम सर्ग, पृ॰ 17
8. वही, पृ॰ 15
9. वही, पृ॰ 18
10. वही, पृ॰ 18
11. वही, पृ॰ 19
12. वही, पृ॰ 20
13. वही, पृ॰ 23
14. प्रथम सर्ग, पृ॰ 35
15. वही, पृ॰ 17
16. प्रथम सर्ग, पृ॰ 22

❒ **गाँव व डाकखाना : कल्लर भैणी**
ज़िला : हिसार (हरियाणा)

डॉ॰ चंद्रशेखरन नायर के काव्य में राष्ट्रीय बोध

श्रीमती रेनू, शोधछात्रा
डॉ॰ साधना तोमर, शोध-निर्देशिका
रीडर हिंदी विभाग, जनता वैदिक कालेज, बड़ौत (बागपत)

राष्ट्रीय शब्द अपने-आपमें एक आधुनिक शब्द है, जिसमें जाति, संप्रदाय, धर्म, समिति, भू-भाग आदि की संकीर्णता के स्थान पर क्रमशः एक समग्र देश और उसके भीतर निवास करनेवाली समस्त जातियों, संप्रदायों और रीति-रिवाज़ों के लोगों का सामूहिक रूप उभरता गया है। पूरे भारत देश में एकता के अर्थ में राष्ट्रीयता का विकास आधुनिक काल में हुआ। जहाँ तक आधुनिक हिंदी-कविता में राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, तो कहा जा सकता है कि वह आधुनिक काल की रचनाओं से आरंभ होती है, किंतु राष्ट्रीयता का रूप तब से लेकर आज तक विकसित होता रहा है। राष्ट्रीयता का जो सबसे स्थूल रूप है वह है—विदेशी शासन के अत्याचारों, उनसे प्रसूत जन-यातनाओं और जनता के मन में उठती हुई क्रोध तथा असंतोष की ललकारों का चित्रण। यह क्रिया बहुत स्थूल रूप में भी हो सकती है और बहुत सूक्ष्म तथा संश्लिष्ट रूप में भी। राष्ट्रीयता का महत्त्वपूर्ण स्तर नायर जी की कविताओं में दिखाई देता है। कल्पना के धनी डॉ॰ नायर जी ने अपने भावों को काव्य का रूप देकर कविता रूपी पुष्पों से भारतमाता का गुणगान किया है। उनकी कविताएँ राष्ट्रीयता से ओतप्रोत है और वे एक सम्मोहिनी जादू बनकर हमारे हृदय को अपनी ओर अनायास आकर्षित करती है। उनका खंडकाव्य 'हिमालय गरज रहा है' राष्ट्रीय बोध के कारण हिंदी-जगत को एक अनमोल रत्न प्रदान कर रहा है। डॉ॰ गोपाल जी भटनागर ने इनके खंडकाव्य के संबंध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं—'हिमालय गरज रहा है' में जो क्षोभ और आक्रोश है, वह किसी राष्ट्रवादी के हृदय पर हुए आघात की ही अभिव्यक्ति है। वास्तव में 'हिमालय गरज रहा है' आक्रामक के प्रति भारत की आत्मा के आक्रोश का एक जीवंत स्मारक है तथा केरलीयों की हिंदी को एक विशिष्ट देन है। धुर दक्षिण में सागर-तटवासी डॉ॰ नायर का यह हिमालय-वंदन उनकी विराट् राष्ट्रीय चेतना का स्मारक है। ऐसे महान राष्ट्रवादी और राष्ट्रभाषावादी नायर जी सचमुच अभिनंदनीय हैं।' [1]

कविवर नायर जी की कविताओं में पूर्णतः राष्ट्रीय बोध समाहित है। वे धरती को अपनी माँ मानते हैं और उसे अपने काव्य के माध्यम से हमेशा चिरयौवना के रूप में देखने की इच्छा को प्रकट करते हैं। उन्होंने इस धरती माँ को 'प्रकृति की दिव्य कल्पना' और 'जग की मधुमय कल्पना' के रूप में अभिव्यक्ति दी है। कवि अपना यौवन देकर इसे चिरयौवना माँ के रूप में देखने का अभिलाषी है—

मैं नियति-पथ का सुत
चाहता रक्त-मांस दे अपना
यौवन दे, फिर एक बार तुझे
देखूँ वही यौवना बना के।' [2]

नायर जी राष्ट्रीय भावना के प्रवर्तक एवं प्रचारक कवि हैं। उनकी राष्ट्रीय भावना भारतराष्ट्र के संकुचित घेरे से निकलकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के विचार का प्रतिनिधित्व करती है। कविवर नायर जी का राष्ट्रीय बोध विश्व के सपूतों को भी समर्पित करती है–

विष पीकर सुकरात बन गए
अमर, क्रूश पर चढ़ ईसा भी;
स्वार्थी बन इनको जिन्होंने
मारा क्या पाया जीवन में? [3]

'हिमालय गरज रहा है' खंडकाव्य देशप्रेम से सराबोर है। कवि ने पुराने अध्याय पुष्प की तरह खिलाकर हमारे सामने रख दिए हैं और उनकी सुगंध से यह बताया है कि अहिंसा का पालक भारत भी एक ऐसा देश है, जिसने अनजाने में भी किसी का भी बुरा नहीं सोचा। यद्यपि देश में भारत माँ की रक्षा करनेवाले वीरों की कोई कमी नहीं थी, तथापि इस देश ने किसी पर भी आक्रमण नहीं किया। कविवर नायर जी ने भारत देश की गरिमा का गुणगान इन शब्दों में किया है–

देश अनूठा है यह, जग में
पावन संकल्पों का स्वर्ग,
आदर्शों में नहीं जटिलता
इसका रास्ता ही अति सीधा। [4]

भारत देश शस्त्र का बदला शस्त्र से नहीं लेता, वह जानता है कि शस्त्र विनाशकारी है। अत: वह शांत मन से जग को अपने वश में कर लेता है। आत्म-चेतना भी तभी विजयी होती है। यह देश सत्यान्वेषी है, लेकिन कवि का मानना है कि इसका यह भी मतलब नहीं कि कोई भी मूर्ख हमारे ऊपर आक्रमण करे और हम चुपचाप सह लें। देवात्मा हिमालय सुषुप्त नहीं है, वह सदा जाग्रत होकर प्रहरी का कार्य करता है। भारत देश अहिंसा का पुजारी है और वह अहिंसा पर विश्वास रखता है; परंतु वह किसी भी शत्रु का अन्याय सहने को तैयार नहीं है। अत: चीनी लुटेरों को आक्रमण करते हुए देखकर उसने हुंकार भर दी, जिसे कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है–

हुंकार भर दिया प्रपितामह
हिमवान ने अँगड़ाई ले,
गूँज उठा समस्त, सुप्त देश
'जाग, जाग' नारा दुहराया। [5]

कवि ने भारतीय संस्कृति की गौरवगाथा का अनुसरण किया है। भारतीय प्राचीन आदर्शों के प्रति आस्थावान कवि की वाणी में वेदमंत्रों की अनुगूँज भी स्पष्ट मुखरित होती है–

सुनो मन, असतो मा सद्गमय,

कभी तमसो मा, ज्योतिगर्मय,
मृत्योर्मा सदा अमृतगमय
तुम यही जपते हो हर समय। [6]

डॉ॰ नायर जी ने अपनी लंबी कविताओं जैसे 'गरिमामयी भारत जननी' में भी भारतीय सभ्यता और राष्ट्रीय बोध का गुणगान किया है। उन्होंने ऋषि-मुनियों और भारत के महापुरुषों को अपने श्रद्धासुमन अर्पित किए हैं और स्वतंत्र हुए देश में फैली अराजकता पर द्रवित हो देशभक्त कवि का मन भारत जननी से कह उठता है–

ये कैसी विसंगतियाँ चल रही हैं।
भ्रष्टाचार के घिनौने दृश्यों को देखकर
माँ, तेरी भृकुटि अब तनती क्यों नहीं?
जहाँ तेरे स्मरण-मात्र से प्राण
हथेली पर लेकर चलते थे पुत्र
वहाँ ये कपूत अब तेरे वस्त्रों पर
कीचड़ उछालने में खुश हैं।
क्या माँ, तुमने शुंभ-निशुंभों को
मारा नहीं था भैरवी रूप धरकर

माँ, इस कंप्यूटर के,
कोबाल्ट बम के युग में
क्या तेरा उस योग्य
भयावह रूप नहीं बनेगा? [7]

डॉ॰ नायर जी भारतीय अद्वैत दर्शन के सबल प्रवाचक कर्मयोगी स्वामी विवेकानंद जी के प्रति अपने श्रद्धा-भाव 'बीसवीं सदी का मानुष' नामक कविता में व्यक्त किए है। कवि के हृदय में ज्योतिर्मय मुखमंडल वाले ये योगी अनोखे भाव लिए हुए हैं। इन भावों को कवि ने अपने काव्य में इस प्रकार वाणी दी है–

वह लाल पगड़ी का उन्नत सिर
वे सुदृढ़ बँधे-से हाथ लिए
न जाने मुझमें किस विशाल
गौरव का भाव बहाते। [8]

राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत कवि नायर जी ने अपने 'चिरंजीव' महाकाव्य में भी अपनी राष्ट्रीयता की सर्जना की है। 'चिरंजीव' के कथानक के माध्यम से कवि ने राष्ट्र का यशोगान, सत्य, अहिंसा, धर्मशीलता, सदाचरण के शाश्वत् जीवनमूल्यों की ओर जो इंगित कर दिया है, उससे इस महाकाव्य में जगमगाहट पैदा हो गई है।

महाभारत के पश्चात भगवान श्रीकृष्ण के मुख से युधिष्ठिर के लिए जो बात कवि ने कहलाई है, वह अत्यंत मार्मिक और आज के युवावर्ग को प्रेरणा देकर राष्ट्र के प्रति भावना को जगाती है–

आप राजा हैं अब देश के
देखो मैं चाहता हूँ भारत
सारे संसार का रहे संपूज्य
एक राष्ट्र बनकर वह विराजे।[9]

नायर जी की यह संपूर्ण रचना हृदय में राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न करती है। इसमें इन्होंने पुराणों और इतिहासो की कथा से संपूर्ण विश्व को सुपरिचित कराया है। महाभारत के शस्त्रपुरुष द्रोणाचार्य के पुत्र रूप में अवतीर्ण अश्वत्थामा का चित्रण नृशंस एवं निष्ठुर मानवता के प्रतिनिधि के रूप में हुआ है। कवि ने अश्वत्थामा के रूप में संसार में आज भी राष्ट्रों के बीच बदला लेने की भावना को व्यक्त किया है–

मैं कलियुग का कवि मामूली
देखता हूँ इस युग में भी प्रणाली
बदला लेने की भावना में चिरलीन
मानव स्पंदित है प्रतिपल में।[10]

महाकाव्य की पूर्व पीठिका में भी कवि ने परशुराम को पृष्ठभूमि में रखकर प्रार्थना की है कि परशुराम को भविष्य में क्षात्रधर्म को निर्मूल करने का अवसर ही न मिले, क्योंकि अगर हमें राष्ट्र की रक्षा करनी है, उसके प्रति सच्ची भावना रखनी है तो क्षात्रधर्म को सुरक्षित रखना ही आवश्यक है। कवि समय-समय पर एक सच्चे भारतीय होने का आह्वान भी करता रहते है। एक आदर्श राष्ट्रप्रेमी की आवाज़ प्रस्तुत कृति की पूर्वपीठिका से लेकर अंत तक मुखरित हुई है। धर्म के लिए लड़नेवाले भारतीय वीरों का पक्ष लेते हुए कवि ने अपने भावों को इस प्रकार वाणी दी है–

कर चुके वे संग्राम अनेक
पर आदर्श नहीं था संग्राम का
फिर भी किया निर्भीक स्वत्व ले
धर्म का उद्घोष साथ था।[11]

इस प्रकार कविवर नायर जी ने अपने काव्य में राष्ट्रीय बोध को सुंदर रूप देकर पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। राष्ट्रीय भावना तो उनकी रग-रग में बसी हुई है। चिरंजीव महाकाव्य की राष्ट्रीय दृष्टि के संबंध में डॉ॰ सुंदरलाल कथूरिया का कथन है–'एक वाक्य में चिरंजीव महाकाव्य राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का उदात्त महाकाव्य है। यह परिपक्व आयु के महाकवि की एक ऐसी परिपक्व रचना है कि जिसमें वैयक्तिक, सामाजिक, मंडित पौराणिक महाकाव्य के लिए मैं डॉ॰ नायर का साधुवाद करता हूँ और आशा करता हूँ कि इस अद्भुत मिथकीय महाकाव्य का हिंदी-जगत में भरपूर स्वागत होगा। किम बहुना।'[12]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि भारत और भारतीयता से अनुप्राणित कविवर नायर अपनी राष्ट्रीय भावना से प्रेरित कविताओं के कारण जनमानस में प्रिय प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं देशप्रेम उनकी कविता का प्राण है और प्रत्येक पंक्ति में देश और जनता पर अपार श्रद्धालु कवि के मंगलमय स्वर गुंजित होते हैं। देश की मिट्टी और जनता पर चिरआस्थावान यह कवि मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति आशावादी है। मानवमूल्यों पर आधारित यह राष्ट्रीयता

अवश्य ही प्रशंसनीय है।

संदर्भ

1. केरल हिंदी-साहित्य अकादमी शोध-पत्रिका, डॉ॰ गोपाल जी भटनागर, पृ॰ 41
2. कविताएँ देशभक्ति की, चिरयौवना, डॉ॰ नायर, पृ॰ 22
3. कविताएँ देशभक्ति की, हिमालय गरज रहा है, डॉ॰ नायर, पृ॰ 82
4. वही, पृ॰ 83
5. वही, पृ॰ 78
6. वही, पृ॰ 92
7. कविताएँ देशभक्ति की, गरिमामयी भारत जननी, डॉ॰ नायर, पृ॰ 57
8. कविताएँ देशभक्ति की, बीसवीं सदी का मानुष, डॉ॰ नायर, पृ॰ 12
9. चिरंजीव, पूर्व पीठिका, डॉ॰ नायर, पृ॰ 11
10. चिरंजीव, अश्वत्थामा, डॉ॰ नायर, पृ॰ 29
11. चिरंजीव, पूर्व पीठिका, डॉ॰ नायर, पृ॰ 8
12. चिरंजीव, महाकाव्य के संदर्भ में विद्वानों की सम्मतियाँ, डॉ॰ सुंदरलाल कथूरिया, पृ॰ 5

शिक्षा के क्षेत्र में महर्षि दयानंद का योगदान

श्रीमती गीता पांडेय, शोधछात्रा
डॉ. साधना तोमर, शोध निर्देशिका
जनता वैदिक कॉलेज, बड़ौत (बागपत)

महर्षि दयानंद नवीन भारत के प्रमुख निर्माता थे। उन्होंने वेद-विद्या का प्रचार-प्रसार ही नहीं किया, भारत में समसामयिक कुप्रथाओं तथा कुरीतियों को मिटाने का भी प्रयास किया। शिक्षा के क्षेत्र में भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

महर्षि दयानंद ने भारत की दुर्दशा का एक कारण शिक्षा का न होना माना, इसलिए वे जीवन-पर्यंत शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु प्रयत्नशील रहे। उन्हें जब कहीं भी कोई प्रतिभावान विद्यार्थी मिलता था तो वे उसे अपना पत्र देकर अपने गुरु विरजानंद जी के पास भेज देते थे ताकि वह भी वहाँ विद्या प्राप्त कर जनजागरण का कार्य कर सके। स्वामी विरजानंद जी के देहावसान के बाद महर्षि दयानंद जी ने वैदिक पाठशालाओं की स्थापना का संकल्प किया और अनेक स्थानों पर पाठशालाओं की स्थापना की।

ऋषि दयानंद ने अपनी पुस्तक में लिखा है–'संतानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभाव रूप आभूषणों को धारण कराना माता, पिता, आचार्य और संबंधियों का मुख्य कर्म है।[1] शिक्षा-व्यवस्था को ऋषि दयानंद ने राज्य का कार्य माना है। उन्होंने अपनी पुस्तक में भी लिखा है–'राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान कराना।' [2] उन्होंने अनिवार्य शिक्षा का समर्थन करते हुए लिखा है–

राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का व लड़की किसी के घर में न रहने पावें, किंतु आचार्य कुल में रहें।' [3]

फर्रुख़ाबाद में सन् 1869 में पाठशाला खोली गई। पाठशाला का आरंभ होते ही इसमें 50 विद्यार्थी आने लगे। इसके पश्चात् भिन्न-भिन्न स्थानों पर पाठशालाएँ खोली गईं। स्वामी जी ने लाहौर में एक वैदिक या संस्कृत पाठशाला की स्थापना की थी। इस पाठशाला के प्रति लोगों ने विशेष उत्साह दिखाया और शीघ्र ही इसमें 100 से भी अधिक लोग संस्कृत पढ़ने आने लगे। स्वामी जी द्वारा शिक्षा-संबंधी विचारों के इस बीजारोपण के परिणामस्वरूप ही उनके बाद उनकी स्मृति में डी॰ए॰वी॰ या वैदिक विद्यालय की आवश्यकता अनुभव की गई।

डॉ. श्रीनिवास शास्त्री ने भी अपनी पुस्तक में लिखा है कि 'ऋषि दयानंद की दृष्टि अत्यंत व्यापक थी। मानव की सर्वांगीण उन्नति उनकी शिक्षाओं का लक्ष्य है। एक ओर मीमांसकों के समान यज्ञों की महत्ता समझी है, उपनिषदों के समान ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता का अनुभव किया है तो दूसरी ओर एक राष्ट्र-निर्माता की दृष्टि से देश के नवयुवकों की गंध

र्व वेद आदि ललित कलाओं, आयुर्वेद आदि शरीर-विज्ञान तथा धनुर्वेद एवं अथर्ववेद आदि के द्वारा युद्ध-विद्या, शिल्पविद्या, राजनीति और अर्थशास्त्र आदि के अध्ययन की प्रेरणा दी।' [4]

महर्षि दयानंद के शैक्षणिक आंदोलन के विषय में डॉ. धर्मदेव विद्यार्थी ने बताया है कि 'महर्षि के शैक्षणिक आंदोलन की सर्वत्र सराहना हो रही थी।' [5] एक तत्कालीन अख़बार ने इस विषय में लिखा, 'आर्यावर्त का सुंदर उद्यान जो आज नास्तिकों, सांप्रदायिकतावादियों, धर्म में आस्था न रखनेवालों और भौतिकतावाद के समर्थकों के झाड़-झंकार से परिपूर्ण हो गया था, उसका कारण यही है कि यहाँ वैदिक स्कूलों की आवश्यकता हम प्रबल रूप से अनुभव कर रहे हैं। वैदिक स्कूल स्थापित हो जाए तो उन बुराइयों का अंत हो जाएगा, जो बाल-विवाह, अकाल मृत्यु, विधवा-विवाह के निषेध और विवाहों पर अत्यधिक ख़र्च के कारण उत्पन्न होती है, जब हमारी संतान वेदों को जान जाएगी तो वह भी बौद्ध, ईसाई और मुस्लिम धर्मों का शिकार नहीं बनेगी और शराबख़ोरी, अन्य दुराचरण से बची रहेगी।' [6]

अनेक युक्तियों और प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए ऋषि दयानंद ने भी अपनी पुस्तक में लिखा है कि लड़कों के समान लड़कियों को भी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए– 'स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए।' [7] उनके अनुसार– 'न्याय पर आधारित समाज-व्यवस्था तभी संभव है, जब सब मनुष्यों को शिक्षा प्राप्त करने और अपनी क्षमता तथा गुणों को विकसित करने का समान अवसर प्राप्त हो और साथ ही अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुरूप कार्य तथा सामाजिक स्थिति प्राप्त करने का भी पूरा-पूरा अवसर हो।' [8]

पठन-पाठन विधि में ऋषि दयानंद ने 'पृथ्वी से लेके आकाश-पर्यंत की विद्या को यथावत् सीखने, बीजगणित, अंकगणिक, भूगोल, खगोलविद्या का ज्ञान प्राप्त करने और यंत्रकला एवं शिल्प आदि का अभ्यास कराने की व्यवस्था दी है।' [9]

महर्षि दयानंद का शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है। डॉ॰ सत्यकेतु विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि आधुनिक युग में केवल ऋषि दयानंद सरस्वती ने ही ऐसी शिक्षा-प्रणाली का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार शिक्षा प्राप्त कर भारतीय विद्यार्थी जहाँ नए ज्ञान-विज्ञान से पूर्ण परिचय प्राप्त कर सकता था, वहाँ साथ ही अपनी भाषा, संस्कृति ओर धर्म का पूरा ज्ञान प्राप्त कर भारतीयता पर गौरव कर सकता था।' [10]

ऋषि दयानंद द्वारा प्रतिपादित पाठ्य विषय में संस्कृतभाषा, वेद-वेदांग तथा दर्शनशास्त्रों की शिक्षा के साथ चिकित्साशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, युद्धविद्या, शिल्प-विद्या, भौतिक विज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि के अध्ययन को समुचित स्थान दिया गया है। अँग्रेज़ी-भाषा से परिचय की भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की। उनके अनुसार 'बचपन में देवनागरी अक्षरों के साथ-साथ अन्यदेशीय भाषाओं का भी ज्ञान कराना चाहिए।' [11]

ऋषि दयानंद ने अपनी शिक्षा-प्रणाली में विज्ञानों को– आयुर्वेद, धनुर्वेद, अर्थवेद आदि नामों से सम्मिलित किया है, एलोपैथी, मिलिटरी साइंस, टैक्नोलोजी नामों से नहीं। उन्होंने चरित्र-निर्माण पर भी अत्यधिक ज़ोर दिया है, इसलिए अध्यापकों ओर अध्यापिकाओं के लिए विद्वान होने के अतिरिक्त सदाचारी होने की बात भी आवश्यक रखी गई है, 'जो अध्यापक, पुरुष व स्त्री दुष्टाचारी हो उनसे शिक्षा न दिलावे, किंतु जो पूर्ण विद्यायुक्त होवें, वे ही पढ़ने और शिक्षा देने योग्य हैं।' [12]

डॉ. मंजुलता विद्यार्थी ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि 'उस समय की सामाजिक दशा के संदर्भ में भी ऋषि दयानंद द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-प्रणाली अत्यंत क्रांतिकारी है। उन्होंने न केवल स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया, अपितु पुरुषों और स्त्रियों की शिक्षा को एक समान महत्त्व दिया। इसी प्रकार शूद्रों और अतिशूद्रों (जिन्हें अछूत मानते थे) को भी शिक्षा की ठीक वही सुविधाएँ देने को कहा, जो द्विजों व संभ्रांतवर्ग के बालक-बालिकाओं को प्राप्त हों। महर्षि की शिक्षा-प्रणाली में चरित्र के निर्माण पर अत्यधिक ज़ोर दिया गया है।' [13]

अत: यह कहना अनुचित न होगा कि शिक्षा के क्षेत्र में महर्षि दयानंद का योगदान अद्वितीय है।

संदर्भ

1. सत्यार्थ प्रकाश, दयानंद सरस्वती, दयानंद संस्थान, नई दिल्ली, पृ॰ 31
2. वही, पृ॰ 55
3. वही, पृ॰ 31
4. दयानंद दर्शन, एक अध्ययन, डॉ॰ श्रीनिवास शास्त्री, पृ॰ 119
5. आर्य जगत्, 'महात्मा हंसराज दिवस विशेषांक' (2003), डॉ॰ धर्मदेव विद्यार्थी, पृ॰ 73
6. सत्यार्थ प्रकाश, महर्षि दयानंद सरस्वती, दयानंद संस्थान, नई दिल्ली, पृ॰ 54
7. वही, पृ॰ 54
8. वही, पृ॰ 55
9. वही, पृ॰ 51
10. आर्यसमाज का इतिहास (भाग-1), डॉ॰ सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ॰ 482
11. सत्यार्थ प्रकाश, दयानंद सरस्वती, दयानंद संस्थान, नई दिल्ली, पृ॰ 27
12. वही, पृ॰ 31
13. ऋषि दयानंद की हिंदीभाषा व साहित्य को देन, डॉ॰ मंजुलता विद्यार्थी, पृ॰ 183

वर्तमान युग की कविता-शैलियों के प्रवर्त्तक महाप्राण निराला

डॉ॰ शारदा शर्मा
अध्यक्षा हिंदी विभाग
मुन्नालाल एवं जयनारायण खेमका कालेज, सहारनपुर (उ॰प्र॰)

सन् 1914 से सन् 1937 ई॰ के मध्य हिंदी-कविता में एक नया मोड़ आया। कभी-कभी नयापन चिरस्थायित्व रूप ले लेता है। फ्रांस की क्रांति से स्वतंत्रता और मानवतावाद की जो लहर पूरे यूरोप में व्याप्त हो गई थी, उसका प्रभाव भारतीय काव्य-जगत् पर भी पड़ा। इसी के परिणामस्वरूप यहाँ का कवि नव-निर्माण और स्वतंत्रता के गीत गाने लगा। वायरन ने यदि समुद्र को स्वतंत्रता और क्रांति का प्रतीक स्वीकार किया, तो निराला ने बादल को क्रांति, स्वतंत्रता और रूढ़ि-विध्वसंक का प्रतीक माना। वर्तमान युग की कविता के क्रांतिदूत कविवर निराला ने सामयिक विषय या युगबोध को अपने प्राणों में अंतर्भूत करके कविता में व्यक्त किया।

जब कोई नवीन काव्य-प्रवृत्ति साहित्य-जगत् में अपना स्थान बनाती है, तब उसके पीछे उसकी पृष्ठभूमि होती है। निराला भी इसके अपवाद न थे। द्विवेदीयुगीन कविता सुधारवादिता, नैतिकता और इतिवृत्तात्मकता के आदर्शों से बँधी हुई थी। द्विवेदीयुग की वह प्रवृत्ति छायावाद की पूर्व-पीठिका बनी। श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, बद्रीनाथ भट्ट का इस दिशा में विशेष योगदान रहा। द्विवेदीयुग के उपरांत आनेवाले नए युग को 'छायावाद' कहा गया। 'जूही की कली के प्रणयन के साथ-साथ इस युग का नामकरण छायावाद भी निराला ने ही दिया।' [1]

कोरी कल्पना मानव-जीवन का चरम साध्य नहीं बन सकती, उसे यथार्थ की भूमि से संबंध एवं संपर्क बनाना ही पड़ता है। यही संबंध-संपर्क वर्तमान युग की कविता का प्राण है। इसका बीज हमको निराला के काव्य में मिलता है। इसीलिए वर्तमान युग की कविता के तथा उसकी शैलियों के प्रवर्त्तक माने जाते हैं महाप्राण निराला।

कविता कवि की मानसी सृष्टि है। कवि की कविता में कवि का जीवन तथा समाज का जीवन अभिव्यक्त होता है। इसलिए काव्य के प्राण को जानने के लिए कवि के जीवन से भी परिचय प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है।

निराला का जन्म बैसवाड़े के छोटे से गाँव गढ़कोला के एक साधारण काव्य-कुब्ज ब्राह्मण श्री रामसहाय त्रिपाठी के घर माघ शुक्ल 11, सं॰ 1955 वि॰ को हुआ था। बंगाल में जन्म लेने और वहीं बचपन व्यतीत होने के कारण बँगला इनकी मातृभाषा के समान हो गई।

19 वर्ष की अवस्था के मातृहीन निराला को छोड़कर पत्नी सदा के लिए परलोकवासी हो गई। माँ के अभाव ने, पिता के ममताहीन कठोर व्यवहार ने पत्नी के आकस्मिक देहावसान ने तथा पुत्री सरोज के निधन ने निराला को विद्रोही बना दिया। उनका यही विद्रोह उनकी रचनाओं में भी प्रतिबिंबित हुआ है।

अनामिका (सन् 1922 ई०) से लेकर सांध्यकाकली तक निराला ने विद्रोही भावों को ही रूपायित किया है। निराला की काव्य-यात्रा एक समूचे वर्तमान युग की यात्रा है। इनकी समय-समय पर लिखी काव्य-कृतियाँ ही इस यात्रा की मंज़िलें हैं तथा युग की दिशा निर्देशिकाएँ हैं। मोटे रूप से अनामिका से सांध्यकाकली तक की कविताएँ तीन सोपानों में रखी जा सकती हैं– 1. छायावादी सोपान 2. प्रगतिवादी यथार्थवादी सोपान 3. लोक-भावनाओं और नवगीतों का सोपान।

जीवन में रूढ़ि और परंपराओं को तोड़ने वाले निराला ने काव्य में भी काव्य-परंपराओं की उपेक्षा करके एक नई काव्य-भूमि का निर्माण किया। 'परिमल' की भूमिका में स्वयं निराला जी ने लिखा है–

'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना।' [2]

'परिमल' का छायावादी काव्योत्थान में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। कल्पना-जगत् के स्वच्छंद प्रवाह और आध्यात्मिक कविता के युग में सामाजिक चेतना का रूप 'परिमल' में चित्रित है। 'जागो फिर एक बार' में जहाँ मुक्त आत्मा के स्वर का उच्च उद्घोष मिलता है वहाँ श्रृंगार की गंध भी है।

वर्तमान युग की कविता का प्रारंभ व्यवस्थित रूप से प्रगतिवाद से होता है। वर्तमान युग की कविता में मोटे रूप से प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और नई कविताएँ आती हैं। विभिन्न प्रवृत्तियों एवं वादों से असंपृक्त निराला के काव्य में इन तीनों धाराओं की कविताओं के रूप मिल जाते हैं।

वास्तव में हिंदी-कविता में प्रगतिवाद का प्रारंभ तो उसी क्षण से हो गया था, जब कविवर निराला की लेखनी ने 'भिक्षुक' और 'वह तोड़ती पत्थर' शीर्षक कविताओं की सृष्टि की थी।

हिंदी की छायावादी कविता में प्रेममय कोमल भावों की अभिव्यंजना अधिक थी। निराला की लेखनी ने छायावाद के भावना-जगत् को विस्तृत आयाम प्रदान किया। माधुर्य के साथ ओज का पुट छायावाद में निराला ने ही दिया था।

छायावादी कविता द्विवेदीयुग की इतिवृत्तात्मकता के विरोध में उठी थी। छायावादी कवि स्थूल उपमेय के लिए सूक्ष्म उपमान तथा सूक्ष्म उपमेय के लिए भी असूक्ष्म उपमान लाने लगे। इसे ही डॉ० नगेंद्र ने कहा कि छायावाद स्थूल से सूक्ष्म का विद्रोह है। निराला ने इस सूक्ष्मता को स्थूलता के साथ भी व्यक्त किया। अत: निराला में स्थूल-सूक्ष्म का समन्वय भी है।

निराला और प्रगतिवादी काव्यधारा :

सन् 1935 ई० में पेरिस में यूरोपीय प्रगतिशील लेखकों ने प्रगतिशील लेखक संघ की

स्थापना की। सन् 1935 ई॰ में लंदन में डॉ॰ मुल्कराज आनंद, भवानी महाचार्य आदि लेखकों के प्रयत्न से भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। सन 1936 ई॰ में लखनऊ में इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। उसी वर्ष प्रगतिशील लेखक-संघ की स्थापना के साथ-साथ प्रगतिवादी साहित्य की सर्जना भी प्रारंभ हुई। कवियों की लेखनी ने प्रकृति-सौंदर्य तथा कल्पना के गीतों के स्थान पर दलित पीड़ित वर्ग की व्यथा को अपने काल में स्थान दिया। उनका ध्यान कविता के बाह्य कलेवर से न जुड़कर उसकी आंतरिक मर्मवेदना से आहत एवं विक्षिप्त हृदय से जुड़ गया। इसका श्रेय निराला जी को ही है। 'प्रोग्रैसिव राइट्र्स एसोसिएशन के अधिवेशन' में निराला ने दो कविताएँ सुनाई थीं, जिनमें निरीह जनता की पीड़ा का स्वर था–1. टूटे सकल बंध कलिके दिशा ज्ञानगत बहे गंध। 2. वह आता दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

यथार्थ का दिग्दर्शन प्रगतिवाद की प्रमुख विशेषता है। सामंत-पूँजीपति गुलछर्रे उड़ा रहे हैं और बेचारी निरीह जनता टुकड़े-टुकड़े को हाथ फैला रही है या धूप की चिलचिलाती दोपहरी में पत्थर तोड़ रही है–

वह तोड़ती पत्थर
देख उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
वह तोड़ती पत्थर। –अनामिका

इसमें निर्धनता का हृदय-विदारक व्यंग्यात्मक यथार्थ प्रस्तुत है। यौवन और बेबसी का वैषम्यपूर्ण चित्र है। एक ओर महानगर इलाहाबाद का वैभव और दूसरी ओर सुकुमार मानवता का निष्ठुरता पूर्ण चित्र।

'भिक्षुक' कविता में एक ओर जहाँ भिक्षुक की दयनीय स्थिति का चित्र साकार किया गया है, वहाँ दूसरी ओर भिक्षावृत्ति की जड़ में निहित आर्थिक विपन्नता के रूप को उद्घाटित किया है–

चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।
–परिमल, वही, पृ॰ 125

पूँजीवादी युग में मजदूर की स्थिति किसी दीन-हीन से कम नहीं। यहाँ स्वार्थ की ही दुंदुभी बजती है परमार्थ भी स्वार्थ की गंध से आवृत है–

स्वार्थ सदा रहता परार्थ से दूर,
यहाँ, परार्थ वही, जो रहे
स्वार्थ से ही भरपूर। –परिमल, वही, पृ॰ 132

निराला की प्रगतिवादी काव्य-यात्रा का अंतिम सोपान 'कुकुरमुत्ता' है। इस तक आते-आते निराला ने विश्व की समस्त वास्तविकताओं की थाह पा ली है। भाव-शैली प्रतीक आदि की दृष्टि से यह रचना बेजोड़ है। 'कुकुरमुत्ता' और 'गुलाब' का वार्तालाप वर्तमान युग एवं उसकी परिपाटी पर करारा व्यंग्य है। यहाँ 'गुलाब' पूँजीवादी विचारधारा के लिए और 'कुकुरमुत्ता' सर्वहारा वर्ग की दीनदशा के लिए प्रतीक रूप में गृहीत है। निराला जहाँ कुकुरमुत्ते की वाचालता से पाठक को विशाल परिवेश में भ्रमण कराकर उसका मनोरंजन कराते हैं, वहाँ

विशाल युगीन चेतना की प्रभविष्णुता की उद्घोषण भी करते हैं–

खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतराता है केपीटलिस्ट। [3]

निराला जी की प्रारंभिक कविताएँ दुखी मानवता के प्रति उद्भूत करुणा का परिणाम हैं–

मैंने 'मैं' शैली अपनाई
देखा दुखी निज भाई। –परिमल, वही, पृ॰ 117

यहाँ 'मैं' शैली का प्रयोग है। इस प्रयोग में निराला का निरालापन है। कवि दीन-दुखी मानव को देख करुणा से द्रवीभूत हो उसे गले लगाता है। निराला जी की यह करुणा विभिन्न शोषित, उत्पीड़ित वर्ग के लिए झलकती है। 'भिक्षुक', 'दीन', 'वह तोड़ती पत्थर', 'विधवा' आदि शीर्षक की कविताओं में पीड़ित वर्गों के व्यक्तियों के दारुण चित्र हैं।

प्रगतिवादी कवि निराला क्रांति के समर्थक थे। 'निराला' रचित महाकाली आवाह्न में भारतीय जनता को इसी क्रांति का निमंत्रण है–

एक बार बस और नाच तू श्यामा।'

–परिमल, वही, पृ॰ 137

निराला की प्रगतिवादी कविताएँ दीनता-दरिद्रता का साकार चित्र उपस्थित करती हैं। अन्य प्रगतिवादी कवि ऐसा बहुत कम कर पाए हैं। निराला की कवि-प्रतिभा ने शोषित, पीड़ित और पद-दलित उपेक्षित जीवन को मूर्तिमत्ता प्रदान की। उनकी कविताएँ दुखी मानवता के प्रति उद्भूत करुणा से जन्मी हैं। प्रगतिवादी की झोंक में (यथार्थ चित्रण में) उनकी रचनाओं में विरूपता-कुरूपता नहीं आ पाई है। यही कारण है कि निराला जी को प्रगतिवादी कहने की अपेक्षा प्रगतिशील कवि कहना कहीं अधिक उपर्युक्त है। प्रगतिवादी कवि रूस की कम्यूनिज़्म विचारधारा की परिधि से बाहर नहीं जाता और न जा सकता है। वह एक राजनीतिकवाद से बँधा रहता है। प्रगतिशील कवि अपने काव्य के माध्यम से युग को नई चेतना देता है, उसे आगे बढ़ाता है। कविता के बहुआयामी क्षेत्र की दृष्टि से निराला प्रगतिशील ही नहीं, विप्रगतिशील कवि थे। निराला कहा भी करते थ्ज्ञे कि 'मैं विप्रगतिशील कवि हूँ।' इस 'विप्रगतिशील' शब्द में उनका श्लेषार्थ भी छिपा था। निराला गतिशील ब्राह्मण थे, अत: वे विप्रगतिशील थे। वे किसी बँधी-बँधाई सीमा में बँधकर नहीं रहे, उन्होंने नित्य नवीन परिवर्तित रूप को अपनाया।

निराला और प्रयोगवादी काव्यधारा :

हिंदीकाव्य में 'तारसप्तक' के प्रकाशन (सन् 1942 ई॰) से प्रयोगवाद का प्रारंभ हुआ। 'तारसप्तक' के वक्तव्य में अज्ञेय ने प्रयोगों की अनिवार्यता पर इतना बल दिया कि हिंदी के उस काव्य को 'प्रयोगवादी काव्य' की ही संज्ञा दे दी गई। प्रयोगवादी कवि केवल यथार्थ को ही नहीं, अपितु मनोवैज्ञानिक यथार्थ को भी व्यक्त करने के पक्षपाती रहे। प्रयोगवादी कवि का मत है कि वर्तमान युग की उलझी अनुभूतियों को परंपरागत छंदों या सवैयों आदि में व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनके लिए तो बंधनमुक्त लय प्रधानशैली ही उपर्युक्त है। इस युग के कवियों ने प्राचीन शिल्प-विधान को आसक्त माना तथा शिल्प-संबंधी नवीन प्रयोग किए। वे प्रयोग मात्र

साधन थे साध्य नहीं।

प्रयोगवाद व्यक्तितत्त्व का पक्षपाती होते हुए भी लोकसंपृक्त है। कहीं-कहीं उसमें अहं की गंध भी है और नवीनता का आकर्षण भी। विचार, भाषा, वस्तु, शिल्प की नवीनता इसकी विशेषता है। परंपरित भाषा को तत्कालीन भावाभिव्यक्ति के लिए प्रयोगवाद ने असमर्थ पाया। इसीलिए इसमें नवीन प्रतीकों के प्रयोग भी हुए।

शुद्ध प्रयोगवादी दृष्टि से देखें तो निराला ही वे पहले कवि हैं, जिन्होंने कविता में वस्तु एवं शिल्प की दिशा में नवीन प्रयोग किए। अभिजात वर्ग के प्रति रोष, लोकसंपृक्त मानववाद तथा व्यक्तिवाद का चित्रण मुक्त छंद में सर्वप्रथम निराला की लेखनी ने ही किया था।

निराला जी मुक्त छंद में 'लय' के समर्थक थे। मुक्त छंद में छंदशास्त्र का छंद तो नहीं होता, किंतु उसमें लयमयी नादात्मकता अवश्य होती है। मुक्तछंद में लय अनिवार्य है। 'वर दे वीणा वादिनी वर दे' कविता में कविता की मुक्ति की कामना मुक्त कंठ से करते हुए निराला जी कहते हैं–

नवगति, नवलय, ताल-छंद नव,
नवल कंठ नव जलद-मंद्र रव,
नवभव के नव विह्ग-वृंद को
नव पर, नव स्वर, दे।

–गीतिका

इस कविता में प्रयुक्त अनेक बार 'नव' शब्द काव्य की रचना-शैली में क्रांति का सूचक है। निराला कविता की शैली में प्राचीन रूढ़ियों की कड़ियाँ तोड़ना चाहते हैं। कवि की नवता में भाव और अभिव्यक्ति के लिए क्रांति का आह्वान है।

जब निराला ने सर्वप्रथम छंद बंध की उपेक्षा की, तब कुछ लोगों ने उनके छंदों को केंचुआ और रबड़ छंद कहकर मज़ाक उड़ाया। शिल्पी के रूप में निराला को हिंदी का प्रथम प्रयोगवादी कवि माना जाता है। 'जूही की कली', अणिमा, कुकुरमुत्ता, नए पत्ते, बेला आदि में उनका प्रयोगवादी रूप ही हिंदी-जगत् के समक्ष आया। कुकुरमुत्ता में प्रयोगवाद का अहं सीधा तना हुआ दृष्टिगत होता है–

ठहर-ठहर आततायी, ज़रा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा।

ऐसी पंक्तियों में 'मैं', 'मेरा' और 'मेरे' उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो सर्वहारा का पक्षधर है और पूँजीवाद का विरोधी। निराला जी का 'कुकुरमुत्ता' व्यंग्य की चोट करने से कहीं नहीं चूका। कहीं 'डॉडी से लगा पल्ला', तो कहीं लेखकों में लंठ जैसे खुशनसीब व्यंग्य की मार मारी है।

निराला और हिंदी की नई कविता :

कुकुरमुत्ता, बेला, नए पत्ते आदि कवि के प्रयोग ही नहीं हैं, अपितु प्रयोगों की भूमिका को जोड़ने वाले स्थिर काव्य-सिद्धांतों पर अवलंबित नई कविता के मूल आधार भी हैं। विषय और अभिव्यंजना के क्षेत्र में पूर्णत: स्वतंत्र नई कविता निराला के प्रयासों का ही परिणाम है।

नए युग के कवि ने निराला के समान बड़ी ही ईमानदारी से अपने चारों ओर के परिवेश को यथार्थ रूप में चित्रित किया है।

नई कविता भावात्मकता की उपेक्षा विचारात्मक एवं बौद्धिक अधिक है। प्रयोगवादी विचारधारा अस्थिर और परिवर्तनशील थी। नई कविता का शिल्पविधान स्थिर है और विषयों में विस्तार है। इसमें वस्तून्मुखी जीवन का उद्घाटन है तथा भाषाशिल्प में स्वाभाविकता है। निराला ने नई कविता को एक नई भाषा, नई दिशा, नया शिल्प और नए प्रतीक प्रदान किए। कुकुरमुत्ता, बेला, नए पत्ते, सांध्य काकली आदि में नई कविता के बीज हैं, जो आगे चलकर पादप के रूप में पल्लवित हुए। मूलतः नई कविता के दिशा-निर्देशक सूर्यकांत त्रिपाठी निराला हैं।

निराला का छंद-विधान :

अर्थमय शब्द का लयबद्ध विधान ही कविता है। हिंदी और संस्कृत का छंदविधान कुछ भिन्न है। हिंदी छंदों की प्रवृत्ति मुख्यतया मात्रिक है और संस्कृत-छंदों की वर्णिक। छंदों की परंपरा हिंदी ने अपभ्रंश से ग्रहण की है। अपभ्रंश के छंदों में तुकांतता भी पाई जाती है। दोहा, चौपाई आदि छंद हिंदी ने अपभ्रंश भाषा से ही लिए हैं। संस्कृत के वर्णवृत्त तो प्रायः अतुकांत हैं।

लय काव्य का आधार है। लय पर आधृत शब्द-योजना ही काव्य है। अरविंद और एजरा पाउंड ने काव्य में संगीत के महत्त्व को स्वीकार किया है। हिंदी-साहित्य में छंदबद्ध कविता का बहुत दिनों तक प्रचार रहा। धीरे-धीरे इस छंदबद्धता का स्थान लय ने ले लिया और यही लयमुक्त छंद का मूल गुण बन गई। मुक्त छंद काव्य का एक ढाँचा है, जिसमें परंपरागत छंद-संबंधी नियमों की उपेक्षा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने मुक्त छंद के लिए तीन आवश्यक तथ्यों का उल्लेख किया है—1. छंद बंधन का त्याग, 2. लय का आलंबन, 3. शैलीगत संचरण की प्रक्रिया (इसका मुख्य आधार गद्य होता है) इसकी गद्यात्मक प्रवृत्ति के कारण ही इसे अंत्यानुप्रसाहीन पद्य कहा गया है। मुक्त छंद और गद्य में प्रमुख अंतर यह है कि गद्य की वाक्य-रचना में लय का अभाव रहता है और गद्य अंत्यानुप्रास से भी दूर रहता है। मुक्त छंद में लय की प्रधानता रहते हुए अंत्यानुप्रसास को भी अपनाया जाता है, भले ही अंत्यानुप्रास कम हो। अंत्यानुप्रास न रहने पर भी मुक्तछंद लय को कभी नहीं छोड़ता।

संस्कृत-परंपरा से प्राप्त हिंदी की अतुकांत कविता छंदोबद्ध अवश्य थी। हरिऔध के 'प्रियप्रवास' में अतुकांत छंद हैं।

हिंदी में छंद के क्षेत्र में भारतेंदुकाल में सर्वप्रथम अंबिकादत्त व्यास ने नवीन प्रयोग किए थे। उन्होंने अतुकांत कविता का असफल प्रयोग किया। मात्रिक छंदों को अतुकांत रूप में प्रस्तुत करने का दूसरा श्रेय श्री जयशंकर प्रसाद को है। प्रसाद जी ने 21 मात्राओं के अरिल्ल छंद को अतुकांत रूप में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम जनवरी 1913 की 'इंदु' पत्रिका में उनकी अतुकांत 'भारत' शीर्षक रचना प्रकाशित हुई थी।

मुक्तछंद में प्रसाद जी ने भी कुछ कविताएँ लिखी थीं, किंतु वे प्रयोग-मात्र थीं। निराला ने मुक्त छंद को दृढ़ता के साथ कविता का एक प्रमुख अंग बनाया। मुक्त छंद के प्रयोग

की दृढ़ता एवं निरंतरता की दृष्टि से निराला उसके प्रवर्तक माने जाएँगे। अत: छंद का स्वच्छंद रूप में सर्वाधिक प्रयोग निराला ने ही किया है। कविता को संबोधित करके कहे गए 'अनामिका' के ये शब्द कवि के इसी विचार की पुष्टि करते हैं–

आज नहीं तुझे और कुछ चाह,
अर्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बंधनमय छंदों की छोटी राह।

निराला के लिए कविता का मुख्य विषय मानव-मुक्ति था। मानव-मुक्ति की भावना को निराला ने मुक्त छंद में अभिव्यक्ति प्रदान की। मुक्त छंद की प्राचीनता के संबंध में निराला ने कहा कि वेदों में मुक्त छंद है। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र मुक्त छंद में है तथा वेदों में 95 प्रतिशत मंत्र मुक्त छंद में ही हैं।

मुक्त छंद का सर्वाधिक श्रेय उसकी अभिव्यक्ति क्षमता को है। मात्राओं के अतिरिक्त गति की स्वच्छंदता भी निराला के काव्य में देखी जा सकती है। निराला का मुक्त छंद लय को कभी नहीं त्यागता। यह निराला की विशेषता है। यह विशेषता उसे गद्य क्षेत्र में जाने से बचाती है।

निराला जी ने मुक्त छंद का प्रयोग दो रूपों में किया–1. तुकांत मुक्त छंद, 2. अतुकांत मुक्त छंद।

तुकांत मुक्त छंद :

अल्प दिन हुए
भक्तों ने रामकृष्ण के चरण छुए
जगी साधना
जन-जन में भारत की नवाराधना।' अनामिका

'अनामिका' की इन पंक्तियों में क्रमश: 'उए' और 'अना' तुक का निर्वाह किया गया है। दो वर्णों की तुकांतता है।

जन-जन के जीवन सुंदर
हे चरणों पर
भाव-वरण भर
दूँ तन-मन-धन न्योछावर कर। [5]

इस उक्त कविता में दो वर्णों वाली 'अर' की तुकांतता है। सन् 1939 ई॰ की निराला रचित इस उक्त कविता में तुक का सौंदर्य अंत्यानुप्रास 'अर' में निहित है। 'अणिमा' में ऐसी कविताओं का संकलन अधिक है।

छायावादी युग के प्रारंभ में ही निराला ने मुक्त छंद का प्रयोग आरंभ कर दिया था। उन्हीं के अनुकरण पर प्रयोगवादी और नई कविताएँ इस छंद में लिखी गईं।

अतुकांत मुक्त छंद :

समर में अमर का प्राण
गान गाए महासिंधु से

सिंधु नद तीर वासी
सैंधव तुरंगों पर।[6]

'जागो फिर एक बार' उक्त कविता के समर, अमर, प्राण, गान, सिंधु-सैंधव आदि शब्दों में समान ध्वनि आवृत्ति का ही सौंदर्य है। इनसे ही कविता में प्रवाह है और नाद-सौंदर्य है। यह कविता तो अतुकांत है, लेकिन इसकी लय और अंतर्वर्ती अनुप्रासंगिकता बाद में सौंदर्य उत्पन्न कर रही है।

मुक्त छंद का प्राण उसका प्रवाह ही है। प्रवाह (लय) ही छंद की सिद्धि करता है। वास्तव में मुक्त छंद वह है, जो छंद की भूमि में रहकर भी मुक्त है अर्थात् मुक्त छंद में लय का ही नाम छंद है और परंपरागत छंदशास्त्र से मुक्ति ही उसकी मुक्तता है। इसीलिए उसे मुक्त छंद कहा जाता है।

छंदबद्ध रचनाएँ :

मुक्त छंदों के अतिरिक्त निराला ने छंदशास्त्र की पद्धति पर शास्त्रीय छंदों में भी कविताएँ लिखीं, किंतु ऐसी रचनाओं के लिए वे कटिबद्ध होकर नहीं बैठे। निराला ने ग़ज़ल को प्रेम-क्षेत्र से बाहर निकाला और उसमें अन्य रसों का समावेश किया। 15 जनवरी 1943 ई॰ को निराला जी के नए गीतों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ–'बेला'। 'बेला' में संकलित रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। उन्होंने 'बेला' के आवेदन में स्वयं लिखा है–

'बेला मेरे नए गीतों का संग्रह है। ... नई बात यह है कि अलग-अलग बह्रों की ग़ज़लें भी हैं, जिनमें फ़ारसी के छंदशास्त्र का निर्वाह किया गया है।[7]

ग़ज़ल एक ऐसा काव्य-रूप है, जिसमें क़ाफ़िया और रदीफ़ का निर्वाह किया जाता है। क़ाफ़िया पहले और रदीफ़ बाद में आती है अर्थात् रदीफ़ एक प्रकार से तुकांत का रूप है। एक शेर है–

हुबाब आसा मैं दम भरता हूँ, तेरी आशनाई का।
निहायत ग़म है इस क़तरे को दरिया की जुदाई का।

उक्त शेर में अंतिम 'का' रदीफ़ है और आशनाई एवं जुदाई का 'आई' क़ाफ़िया है। 'बेला' की निम्नांकित पंक्तियाँ भी इसी कथन की पुष्टि करती हैं–

अपने को दूसरा न देख
दूसरे को अपना न कह
सपने को कल्पना न मान
कल्पना को सपना न कह।[8]

इन उक्त पंक्तियों में 'न कह' रदीफ़ और 'अना' क़ाफ़िया है। ग़ज़ल में पहले शेर के दोनों मिसरों में क़ाफ़िया और रदीफ़ समान होते हैं। पहला शेर 'मतला' कहलाता है। अंतिम शेर को मक़ता कहते हैं। ग़ज़ल में कम से कम पाँच और अधिक से अधिक ग्यारह अशआर होते हैं। मतला के दोनों मिसरे समान अंत्यानुप्रास वाले होते हैं, जिनमें क़ाफ़िया-रदीफ़ समाविष्ट रहता है।

निराला की कविता के काव्य-रूप :

निराला की काव्य-यात्रा में भाव, भाषा-शैली के ही विभिन्न पड़ाव नहीं हैं, अपितु

विभिन्न आयाम वाले अपने में पूर्ण विश्राम-गृह भी हैं। निराला जी के संपूर्ण काव्य को विषय की दृष्टि से विभिन्न भागों में विभक्त किया जा सकता है—छायावादी काव्य, प्रगतिवादी काव्य, यथार्थवादी काव्य और लोकभावनापरक काव्य। 'अनामिका' से 'सांध्यकाकली' तक का काव्य शैली (काव्यरूप) की दृष्टि से निम्नांकित रूपों में मिलता है—1. प्रबंधकाव्य, 2. मुक्त काव्य (पाठ्य मुक्तक एवं गीति मुक्तक) 3. पद्यबद्ध दृश्यकाव्य, ग़ज़ल।

प्रबंधकाव्य :

'राम की शक्ति पूजा' को निराला ने महाकाव्य की उदात्त गरिमा प्रदान की है। इसमें अजेय रावण पर शक्तिपूजा द्वारा राम की विजय घोषित है। यह वीररस पूर्ण संस्कृतनिष्ठ, समासबहुला ओजपूर्ण शैली में एक भाव-संपृक्त विराट् चित्र है। 'राम की शक्ति पूजा' दैवी भागवत आदि की पौराणिक कथा पर आधृत रचना है। दैवी भागवत में उल्लेख मिलता है कि राम-रावण युद्ध के अंतिम निर्णय से पूर्व राम ने नारद जी के कहने से नवरात्रि व्रत लिया और देवी की आराधना की। 'शिव महिम्नस्तोत्र' में विष्णु द्वारा शिव की आराधना का वर्णन है। विष्णु एक सहस्र कमलों से शिव की पूजा करते हैं, किंतु एक कमल के कम हो जाने से चिंतित हो उठते हैं। इस कमी को पूरा करने के लिए वे जैसे ही अपना एक पुंडरीकाक्ष (नेत्र) शिव को भेंट चढ़ाने के लिए तत्पर होते हैं, शिव उन पर प्रसन्न हो जाते हैं।

शक्तिपूजा की कल्पना का आधार बंगाल में प्रचलित शक्तिपूजा है। बंगाल में शक्ति असुरविनाशिनी प्रचंड शक्ति की प्रतीक है। राजीवनयन राम 'शक्ति' की उपासना कर शक्ति प्राप्त करते हैं और रावण पर विजय प्राप्त करते हैं। कथा की यही परिणति है। 'रवि हुआ अस्त' की ओजपूर्ण शब्दावली से प्रारंभ होनेवाली वीररस की यह रचना स्वयं में एक अनुपम महाकाव्य है। यह निराला के अनुपम शिल्प-कौशल का परिचायक है। 'धिक् जीवन जो पाता ही आया विरोध' पंक्ति संपूर्ण काव्य का सूत्र है तथा कवि-जीवन का सत्य है। कवि ने 'राम' क रूप में जीवन की परिस्थितियों को चुनौती दी है। इस काव्य में परुष एवं कोमल भावों का समन्वय है। अगर एक ओर 'अप्रतिहत गरज रहा पीछे अंबुधि विशाल' जैसी परुष शब्दावली है तो दूसरी ओर 'लतांतराल किसलय पराग मलय-वलय' वाली कोमलकांत पदावली भी। यह लघुआयामी महाकाव्य विभिन्न भावों एवं रसों का भंडार है।

'तुलसीदास' शीर्षक रचना को निराला जी ने तुलसी के जीवन के एक विशिष्ट प्रसंग से जोड़ा है। तुलसी पत्नीमोह से ग्रस्त हैं, किंतु बदले में तुलसी को पत्नी से फटकार ही मिलती है। तुलसी पत्नी के कटु वचनों से प्रबोध पाकर माँ भारती की दृष्टि से बँध जाते हैं और भावलोक की ऊँचाइयों को पार-करके आनंदलोक में विचरण करते हैं। उन्हें देशकाल का मायावी आकर्षण पुन: पथ-भ्रष्ट नहीं करता। सभी सांसारिक स्वर लुप्त हो जाते हैं और अलौकिक संगीत फूटने लगता है। 'तुलसीदास' मानवीय ऊर्ध्वगमन का चित्र है। इसमें विषयानुरूप भाव एवं कला का मणिकांचन योग हुआ है। अनुपम उपमान-योजना तथा दीर्घ तुकांत छंदों का सफल प्रयोग इसकी विशिष्टता है।

मुक्तक काव्य :

गीतकार निराला ने दो प्रकार के मुक्तकों की रचना की—1. पाठ्य मुक्तक, 2. गीति

मुक्तक (प्रगीत मुक्तक)। पाठ्य मुक्तक में पाठ्य शैली की प्रधानता होती है और गीति मुक्तक में गेय शैली (लय) की।

'कुकुरमुत्ता' में पाठ्य तत्त्व का आधिपत्य है। इसमें कवि ने निजी भाषिक संरचना को आमूल परिवर्तित कर दिया है। संपूर्ण कविता व्यंग्य के धरातल पर रची पाठ्य मुक्तक है। इसके व्यंग्य के शिकार केवल 'गुलाब', 'नव्वाब' या उनकी पुत्री 'बहार' ही नहीं हैं, अपितु संपूर्ण आभिजात्य वर्ग है। इस पाठ्य शैली का एक अंश इस प्रकार है–

> एक थे नव्वाब
> फ़ारस के मँगाए थे गुलाब।
> बड़ी बाड़ी में लगाए
> देशी पौधे भी उगाए
> रखे माली, कई नौकर
> ग़जनवी का बाग मनहर
> लग रहा था। [9]

निराला जी ने हिंदी गीतों (गीतिमुक्तक) की नई परंपरा को जन्म दिया। इनके प्रारंभ के गीतों पर ब्रजभाषा के पदों का प्रभाव है। 'परिमल' की कविताओं पर यह प्रभाव स्पष्ट झलकता है। सन 26 के बाद के गीत नई शैली के हैं। निराला जी ने प्रगीत मुक्तक में स्वर को महत्त्व दिया। जूही की कली, जागो फिर एक बार, यामिनी जागी आदि गीतों में विभिन्न भाव लयबद्ध हुए हैं। इनमें से कुछ गीत ऐसी है, जो संगीत की परंपरा में अपना स्थान रखते हैं। 'परिमल' का यह निम्नांकित लघुगीत इसी संगीतात्मक लय से युक्त है–

> दूत अलि, ऋतुपति के आए
> फूट हरित पत्रों के डर से
> स्वर सप्तक छाए
> दूत अलि, ऋतु पति के आए। [10]

'यमुना के प्रति', 'सरोज-स्मृति' आदि दीर्घ गीति मुक्तक हास्य, शोक आदि भावों से युक्त हैं। ये सभी मुक्त छंद में हैं, लय से युक्त हैं।

पद्यबद्ध दृश्य काव्य (लघु नाटिका) :

निराला जी के पद्य-गीतों में दृश्यकाव्य का रूप भी देखने को मिलता है। पंचवटी प्रसंग पद्यबद्ध दृश्यकाव्य ही है। यह पाँच भागों में लिखा दीर्घ काव्य है, सीता, राम, लक्ष्मण, सूर्पनखा आदि के संवादों से इसका विकास हुआ है–

> राम– छोटे से घर की लघु सीमा में
> बँधे हैं क्षुद्रभाव। [11]
> लक्ष्मण–जीवन का एक ही अवलंबन है सेवा। [12]

निराला की यह लघुनाटिका 'पंचवटी प्रसंग' बंगाल की रासलीला पद्धति से प्रभावित है। उन रासलीलाओं में जिस प्रकार विविध पात्र आकर संवादशैली में अपने उद्‌गार प्रकट करते हैं, उसी प्रकार पंचवटी में भी पद्यात्मक संवादों द्वारा भावोद्‌घाटन किया गया है। काव्य-कला

की दृष्टि से यह एक सफल प्रयोग है।

इस प्रकार बिना किसी संकोच के साथ कहा जा सकता है कि 'अनामिका' से लेकर 'सांध्यकाकली' तक की रचनाओं में हिंदी-कविता की वे सभी शैलियाँ मिलती हैं, जो वर्तमन युग की कविता में स्वीकृत एवं विकसित हुई हैं। वर्तमान युग की इन कविता-शैलियों के प्रतिपादन का श्रेय निराला को ही है। यही कारण है कि इस वर्तमान युग की कविता-शैलियों का प्रवर्त्तक महाप्राण निराला को माना जाता है।

संदर्भ

1. गंगाप्रसाद पांडेय, महाप्राण निराला, पृ॰ 71
2. निराला, परिमल, भूमिका, पृ॰ 12
3. निराला, कुकुरमुत्ता, पृ॰ 39
4. वही, पृ॰ 43
5. निराला, अणिमा, पृ॰ 31
6. निराला, परिमल, पृ॰ 179
7. निराला, बेला, आवेदन
8. बेला, पृ॰ 40
9. निराला, कुकुरमुत्ता, पृ॰ 37
10. निराला, परिमल, पृ॰ 42
11. वही, पृ॰ 215
12. वही, पृ॰ 219

हिंदी-मराठी उपन्यासों में शैक्षणिक समस्याओं का चित्रण

डॉ॰ शिवशंकर लधवे
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
सीताबाई कला महाविद्यालय, अकोला (महाराष्ट्र)

भारतीय जीवन में शिक्षा तथा शिक्षकों को सदा बहुत महत्त्व दिया गया है, क्योंकि शिक्षक सदा त्याग और तपस्या का जीवन बिताते रहते हैं और उन्होंने समाज के सम्मुख उच्च आदर्श प्रस्तुत किए हैं। प्रचीनकाल में शिक्षा नि:शुल्क होती थी। विद्यार्थियों द्वारा शारीरिक श्रम और गुरुसेवा ही विद्या का प्रतिदान समझे जाते थे। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के आगमन से शिक्षा के लिए विद्यार्थियों को शुल्क देना ज़रूरी हो गया और ग़रीब विद्यार्थियों के सामने न केवल शुल्क की, अपितु भोजन की भी समस्या उठ खड़ी हुई, क्योंकि आश्रमों में न केवल नि:शुल्क शिक्षा ही उन्हें मिलती थी, अपितु भोजन की सुविधाएँ भी वहाँ रहती थीं। महाराष्ट्र ने विद्यार्थियों की समस्या को 'मधुकरी प्रथा' द्वारा सुलझाया, जिसका उल्लेख वा॰गो॰ आप्टे ने मधुकरी माँगकर विद्यार्जन करनेवाले विद्यार्थियों के चित्रण द्वारा किया है; परंतु धीरे-धीरे यह प्रथा समाप्त हो गई। उधर अध्यापकों का समाज में उतना सम्मान एवं आदर नहीं रह गया, जितना प्राचीन युग में था। प्रथम तो वेतन लेने के कारण उन्हें वह सम्मान मिलना संभव न था, जो त्याग और तपस्या के बदले समाज व्यक्ति को प्रदान करता है, दूसरे जो वेतन उन्हें मिलता था, वह केवल पेट भरने-भर को पर्याप्त होता था। दरिद्रावस्था में उन्हें समाज में उच्चस्थान मिलना संभव न था, फिर भी 1934-1935 ई॰ तक महाराष्ट्र में नि:स्वार्थ शिक्षा-प्रसार के कार्य को पर्याप्त सम्मान मिलता रहा और अध्यापकों की दुर्दशा, कष्ट एवं जीवन में होनेवाली प्रवंचनाओं को स्पष्टत: व्यक्त नहीं किया गया। परंतु धीरे-धीरे उपन्यासकारों को, खांडेकर जैसे कुछ लेखकों को, अपने स्वानुभव से इसकी अवगति हुई और उन्होंने अपनी रचनाओं में इसे चित्रित किया।

वि॰वा॰ हडप का मुख्य उद्देश्य समाज के अनाचारों को अनावृत्त करना था। अत: उस अनाचार की शिकार अध्यापिकाओं के जीवन में होनेवाली विडंबनाओं पर उनकी दृष्टि गई और 'मास्तरीण काकू' में उन्होंने अधिकारियों द्वारा अध्यापिकाओं पर किए गए अत्याचारों का विशद् चित्रण किया। वि॰वि॰ बोकील के 'झंझावात' में भी पाठशाला के शिक्षक के दृष्टिकोण से पाठशाला का चित्रण किया गया है। सर्वत्र पाठशालाओं में दिखाई देनेवाले बाज़ारूपन, पूँजीवादियों के अत्याचार, अशैक्षणिक दृष्टिकोण की प्रधानता इत्यादि का चित्र बोकील ने बड़ी मार्मिकता एवं सजीवता से किया है। उधर वि॰वा॰ शिरवाडकर के 'वैष्णव' में ऐसे निरीह-दीन अध्यापक का चित्र है, जो शाला का सारा कार्य करने पर भी सदा प्रधानाध्यापक से डाँट-फटकार खाता है तथा जिसके परिश्रम और कार्यक्षमता का श्रेय प्रधानाध्यापक को मिलता है।

प्रथम में अध्यापक पर अत्याचार करनेवाले पाठशाला के पूँजीपति व्यवस्थापक हैं, तो दूसरे में प्रधानाध्यापक एवं शिक्षा-अधिकारी। बेचारा अध्यापक जीवन-भर ग़रीबी एवं दरिद्रता की चक्की में पिसता है। उसे अपनी आकांक्षाओं का सदा दम घोटना पड़ता है। उसकी ग़रीबी का एक दृश्य देखिए—'बैठक में एक फटी और बदरंगी शतरंजी बिछी थी। उसके ऊपर रखे तकिए में फटे छेदों में से जगह-जगह रुई झाँक रही थी। एक कोने में वंश-परंपरा से चली आई आराम कुर्सी रखी थी। कालगति के कारण पीली पड़ी एक टाईमपीस घड़ी कुछ पुस्तकों के पास रखी टिक-टिक कर रही थी।' खांडेकर के 'उल्का' में भी भाऊ के माध्यम से एक ग़रीब आदर्शवादी अध्यापक की समाज में होनेवाली उपेक्षा, दुरावस्था, दारिद्रय एवं तिरस्कार, धनाभाव से पुत्री के विवाह में होनेवाली बाधाओं आदि का चित्रण है। निरंतर 'आंधरांतील दिवे' में भी एक अध्यापक के अपमान व आर्थिक कुंठाओं की कहानी है। इस प्रकार मराठी उपन्यासों में अध्यापकों के ऊपर समाज, शिक्षा अधिकारियों, शाला-व्यवस्थापकों एवं प्रधानाध्यापकों सभी के द्वारा किए जानेवाले अत्याचारों एवं दुर्व्यवहारों का वर्णन किया गया है। हरिभाऊ के युग से आज तक उसकी स्थिति में जो परिवर्तन होता रहा है, उसका दिग्दर्शन सुचारु रूप से मराठी रचनाओं में मिलता है।

इन अत्याचारों के होते हुए भी मराठी अध्यापक सदैव आदर्श की सर्वोच्च सीमा तक पहुँचने की चेष्टा करता रहा है। उसके आदर्श रूप के प्रति जनता की भी श्रद्धा रही है, जिसके फलस्वरूप उसके आदर्शवादी चित्रों को उपन्यासों में पर्याप्त स्थान मिला है। खांडेकर के 'उल्का' का भाऊ, पेंडसे के 'हद्दपार' का राजे मास्तर तथा शिरवाडकर के 'वैष्णव' का विनायकराव ऐसे ही आदर्शवादी अध्यापक हैं। राजे मास्तर का सबल व्यक्तित्व, उसका ग्राम्य जीवन में आदरणीय स्थान, विद्यार्थियों के मन में उसके प्रति आदर, उसका विद्यार्थियों के प्रति प्रेम-व्यवहार, सिद्धांतनिष्ठा, मानवता, तेजस्विता आदि गुण उन्हें सामान्य अध्यापकों की श्रेणी से अलग कर देते हैं, परंतु 'वैष्णव' के विनायकराव के समान डरपोक, दुर्बलचित्त, विनम्र, दीन-हीन शिक्षक, जो क्रांति का संदेश सुन अथवा किसी विशिष्ट प्रेरणा को पा अपनी संपूर्ण कायरता, त्याग, साहसपूर्वक देश-कार्य में जुट पड़े, सर्वत्र मिल सकते हैं। इसी प्रकार का चरित्र हमें 'कांचन मृग' के सुधाकर में मिलता है। एम॰ए॰ होते हुए भी प्रोफ़ेसरी त्यागकर वह गाँव में पाठशाला खोलता है तथा निराशापूर्ण परिस्थितियों में भी संकट झेलते हुए राष्ट्र-सेवा करता रहता है। उसका ध्येय है 'सच्चा शिक्षक एक मूर्तिकार होता है, जिसका लक्ष्य होता है पत्थर से देवता निर्माण करने का कौशल प्राप्त करना।' ऐसे ही उदार चरित्रवाले हैं 'उल्का' के भाऊ जो सरस्वती के सेवा करने के हेतु लक्ष्मी की ओर से पीठ मोड़ लेते हैं।

अध्यापकों की यथार्थ स्थिति एवं उनके आदर्श चित्र प्रस्तुत करने के साथ-साथ मराठी लेखकों ने शालेय जीवन के भी अनेक सुंदर-कुरूप चित्र प्रस्तुत किए हैं। यदि कमलाबाई सोहोनी ने कन्या पाठशाला के मनोरंजक, विनोदी वातावरण, लड़कियों के पारस्परिक वार्तालाप, उनकी भावनाओं और आकांक्षाओं का सुंदर चित्र प्रस्तुत किया है, फडके के 'कुलाव्याची दांडी' में तत्कालीन कालेज-जीवन, वहाँ के आसपास के वातावरण एवं परिपार्श्व का सुमधुर चित्र अंकित किया गया है, साने गुरुजी के 'श्याम-प्रथम खंड' में विद्यार्थी-जीवन का यथार्थ चित्र है, तो 'वैष्णव' में पाठशाला की अव्यवस्था पर कटु व्यंग्य

किया गया है। 'शाला विद्यार्थियों के लिए होती है कि उच्च अधिकारियों के लिए। विवाह के लिए देखने आनेवाले युवक के सम्मुख जिस प्रकार कोई बालिका वस्त्रालंकारों से विभूषित कर खड़ी की जाती है, उसी प्रकार यह शाला अधिकारियों के लिए विशेष रूप से सजाई-सँवारी जाती है।'

एकाध उपन्यासकार ने शिक्षाविषयक दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है। साने गुरु जी ने प्राचीन आश्रम-पद्धति को श्रेयस्कर माना है तथा 'छड़ी लगे, छम-छम, विद्या आवे धम-धम' के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया है। उनका मत है कि बच्चे को शीघ्रातिशीघ्र शिक्षा देना प्रारंभ कर देना चाहिए, चाहे उस शिक्षा-क्रम में सुंदर सुभाषित और श्लोक ही क्यों न रखे जाएँ। वे शिक्षालयों में भेदभाव, छुआछूत को समाप्त करने के पक्ष में थे तथा विश्वविद्यालयों को शिक्षित बनाने का कारखाना मानते थे, जो कि आज भी बहुतों की दृष्टि में सच है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मराठी उपन्यासकारों ने शिक्षालय, विद्यार्थी, अध्यापक आदि शिक्षा से संबंध रखनेवाले प्राय: सभी अंगों पर विचार किया है। हिंदी में इस प्रश्न की पूर्णत: उपेक्षा की गई है। प्रेमचंद को छोड़कर, जिनका दृष्टिकोण अत्यंत विशाल एवं अनुभव अत्यंत विस्तृत था, इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक किसी ने नहीं सोचा। उन्होंने अवश्य अपने 'वरदान', 'कायाकल्प', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' विशेषत: 'कर्मभूमि' में शिक्षा का उद्देश्य, पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली, अध्यापकों और युवकों की मनोवृत्ति, शैक्षणिक संस्थाओं आदि पर अपने विचार प्रकट किए हैं। वह बी॰ए॰, एम॰ए॰ की डिग्री से कहीं अधिक महत्त्व वे सेवा-भाव को देते हैं। उन्हें अध्यापकों की फ़ैशनपरस्ती एवं स्वार्थमयता से घृणा है, 'इनमें भी वही दंभ है, वही धन-मद है, वही अधिकार का मद है। ... वे आप अपने मनोविकारों के क़ैदी हैं। आप अपनी इच्छाओं के ग़ुलाम हैं और अपने शिष्यों को भी उसी क़ैद और ग़ुलामी में डालते हैं।' वह शिक्षा के प्राचीन आदर्श को मानते थे, पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे साने गुरुजी की तरह गुरुकुल-पद्धति को पुनर्जीवित करना चाहते थे। विद्यालयों को कारखाना समझने में वे साने गुरुजी से सहमत थे और चाहते थे 'ऊँची से ऊँची तालीम सबके लिए मुआफ़ हो।' शैक्षणिक संस्थाओं का यथार्थ चित्रण एवं उनके दोषों को प्रकाश में लाने में भी उन्होंने तत्परता दिखाई। 'हमारे स्कूलों और कालेजों में जिस तत्परता से फ़ीस वसूली की जाती है, शायद मालगुज़ारी भी उतनी सख़्ती से नहीं वसूल की जाती। ... वही हृदयहीन दफ़्तरी शासन जो अन्य विभागों में है, हमारे विद्यालयों में भी है। ... वहाँ स्थाई रूप से मार्शल लॉ का व्यवहार होता है। देर में आइए तो जुर्माना, न आइए तो जुर्माना ... शिक्षालय क्या है, जुर्मानालय है।' वह शिक्षालयों में छुआछूत के विरुद्ध थे। एक जागरूक साहित्यकार के समान उन्होंने विभिन्न शैक्षणिक प्रश्नों पर अपने विचार प्रकट किए हैं, परंतु अध्यापकों की दुरवस्था एवं प्रवंचना के विषय में वे भी मौन रहे। स्वयं कुछ दिन तक अध्यापन-कार्य कर एवं अधिकारीवर्ग की नौकरशाही वृत्ति का अनुभव पाकर भी उन्होंने इस संबंध में कुछ नहीं लिखा, यह आश्चर्य की बात है।

बाद के लेखकों में भी यही उपेक्षा-भाव बना रहा। यदि किसी ने इस विषय पर कुछ लिखा भी, तो उसका क्षेत्र केवल विश्वविद्यालयों और वहाँ के वातावरण-चित्रण तक ही सीमित रहा। उनमें से अधिकांश ने भारतीय विश्वविद्यालय के विद्यार्थी की वास्तविक

परिस्थिति समझने एवं शिक्षा-संबंधी प्रश्नों पर मनन करने का प्रयत्न नहीं किया। भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' में सर्वप्रथम विश्वविद्यालय के वातावरण को सजीव बनाने का प्रयत्न किया गया, एक तो छोटे-से-छोटे विवरण पर ध्यान देकर तथा दूसरे विद्यार्थियों के पारस्परिक संवादों द्वारा। साथ ही एक सरल ग्रामीण विद्यार्थी की वास्तविक परिस्थिति को तटस्थ रूप में चित्रित करने का भी उन्होंने सफल प्रयत्न किया और बताया कि किस प्रकार विश्वविद्यालय की चमक-दमक में रमेश जैसे ग्रामीण विद्यार्थी अपना लक्ष्य खो बैठते हैं और लड़कियों के लिए बसों एवं रिक्शों के पीछे दौड़ते हैं। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' में भी विश्वविद्यालय के छात्रावासों में रहनेवाले विद्यार्थियों का व्यंग्य-चित्र है। उनके ठाट-बाट, आधे तथा उपनामों को लेकर पुकारने की प्रवृत्ति, आपस में छात्राओं की चर्चा तथा उनके नैकट्य की होड़ आदि दुर्व्यसनों का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। रांगेय राघव के 'घरौंदे' का विषय छात्र-छात्राओं के मध्य पारस्परिक चलनेवाला प्रेम, प्रोफ़ेसर तथा शिष्याओं के बीच होनेवाले घात-प्रतिघात तथा विद्यालयों का राजनीतिक जागरण है। प्रोफ़ेसर मिश्रा को लेकर उपन्यासकार ने इस समाज की अच्छी पोल खोली है और उनकी त्रुटियों को दिखाया है। कालेज के चुनावों और अविश्वास के प्रस्तावों का भी अच्छा चित्र खींचा गया है।

सारांश यह है कि हिंदी में विश्वविद्यालयों के तो बड़े यथार्थ व्यंग्य-चित्र प्रस्तुत किए गए हैं, पर अध्यापकों की दुरवस्था एवं विद्यालयों में अधिकारियों के कारण होनेवाली उनकी विडंबना के चित्र प्रस्तुत नहीं किए गए हैं। एक और अभाव जो हिंदी-उपन्यासों में मराठी उपन्यासों को पढ़ने के बाद खटकता है, वह है अध्यापकों के आदर्शवादी चित्रों का। इस प्रकार मराठी उपन्यासकारों ने जहाँ अध्यापकों के यथार्थ एवं आदर्श चित्र प्रस्तुत करने पर विशेष ध्यान दिया है, वहाँ हिंदी-लेखकों का मुख्य विषय विश्वविद्यालय, वहाँ का वातावरण एवं त्रुटियों का प्रकाशन रहा है। शैक्षणिक समस्याओं का उनके समग्र परिवेश में चित्रण दोनों भाषाओं में से किसी के उपन्यासों में नहीं हुआ है। आधुनिक शिक्षा-पद्धति के दोषों के संबंध में तो जगह-जगह आलोचना सुनाई पड़ती है, पर उनके निराकरण के उपायों एवं उसके स्थान पर किसी आदर्श शिक्षा-पद्धति पर अभी तक कोई उपन्यास नहीं रचा गया है।

संदर्भ

1. वि॰वा॰ शेरवाडकर, वैष्णव
2. प्रेमचंद, कर्मभूमि
3. लोकमान्य तिलक के केसरी में लेख
4. गो॰कृ॰ गोखले, स्पीचेस
5. प्रभाकर पाध्ये, आजकलचा महाराष्ट्र
6. खांडेकर, गोफ आणि गोफण
7. दा॰न॰ शिखरे, कादंबरीकार
8. प्रेमचंद, रंगभूमि
9. शांतिस्वरूप गुप्त, हिंदी तथा मराठी उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ की कहानियों का भाषिक शिल्प

श्रीमती नीलू जैन
हिंदी विभाग
गिन्नीदेवी महाविद्यालय, मोदीनगर (उ॰प्र॰)

गति प्रकृति का एक शाश्वत नियम है। परिवर्तन प्रकृति की प्रथम शर्त है, अर्थात् इस गति का परिणाम परिवर्तन है। जो कल था वह आज नहीं है, जो आज है वह कल नहीं होगा। यह परिवर्तन मात्र परिस्थितियों में ही नहीं, वरन विचारों में भी अवश्यंभावी है। विश्रांत जी ऐसे साहित्यकार हैं, जिनकी कहानियों एवं उपन्यासों में इस परिवर्तन को स्पष्ट देखा जा सकता है। इनके साहित्य में सामाजिक जीवन की विषमताओं का चित्रण तो मिलता ही है, ग्रामीण जीवन के दुख-दर्द एवं उनका स्वरूप भी दृष्टिगत होता है। इनकी कहानियों में मानवीय संवेदना भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। कहानी पर अपनी विचार-शृंखला प्रस्तुत करते हुए डॉ॰ धीरेंद्र वर्मा ने कहा है– '... उसकी परिभाषा देना संभव नहीं है। विशेषताओं से हम उसे पहचान सकते हैं और इतना कहकर ही संतोष कर सकते हैं कि कहानी गद्य-साहित्य का एक छोटा, अत्यंत सुसंघटित और अपने में पूर्ण कथारूप है।' [1] कहानी के विषय में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए डॉ॰ गिरीश रस्तोगी लिखती हैं–'कथोपकथन में संक्षिप्तता, नाटकीयता, क्षिप्रता, कथा-अभीष्ट को स्पष्ट करने की क्षमता, सरलता, पात्रानुकूलता, लाक्षणिकता, व्यंजनात्मकता, जिज्ञासा उत्पन्न करने का गुण, कथा-विकास की क्षमता, चरित्र-चित्रण करने में सहायक और पात्र-घटना तथा देशकाल के साथ संबद्ध होनी चाहिए।' [2] हमारे समीक्ष्य कथाकार विश्रांत जी की कहानियाँ इन सभी कसौटियों पर खरी उतरती हैं।

आज के व्यस्त जीवन में मनुष्य के पास जिस चीज़ की सर्वाधिक कमी है, वह है समय और ऐसे में पाठक साहित्य की जिस विधा के सर्वाधिक निकट है, वह है कहानी। पाठक अपने व्यस्त जीवन में कहानी के माध्यम से आनंद प्राप्त करना चाहता है, इसलिए इसका महत्त्व बहुत अधिक हो गया है। हिंदी कहानी का श्रीगणेश आधुनिक काल में हुआ है।

विश्रांत जी ने दो कहानी-संकलन–1. गल्ले की दुकान और 2. आठवीं कन्या; एवं दो उपन्यास–1. अंधी भीड़ तथा 2. लौह पुरुष जगन्नाथ लिखे हैं। जिनका भाषिक शिल्प निम्नवत् देखा जा सकता है–

1. **गल्ले की दुकान :** यह विश्रांत जी का प्रथम कहानी-संकलन है। इसमें विश्रांत जी की 'गल्ले की दुकान', 'फूट का फल', 'चोरी के फूल', 'डेढ़ रुपए की मौत', 'डॉग शूटिंग', 'उलटफेर', 'बुढ़िया के बैल', 'तूफ़ानी रात', 'ऐसा भी हो सकता है', 'एक और माँ'

तथा 'अधूरी कहानी' नामक ग्यारह कहानियाँ संकलित हैं।

इस कहानी-संकलन की सभी कहानियाँ एक आदर्श प्रस्तुत करती हैं, जो डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ को गिने-चुने कहानीकारों की श्रेणी में खड़ा कर देती हैं। इस कहानी-संकलन के संपादकीय में डॉ॰ नारायणस्वरूप शर्मा 'सुमित्र' लिखते हैं–'हिंदी-कहानी आज कथ्यगत और शिल्पविषयक अनेक प्रकार के आंदोलनों के माध्यम से अनेक प्रकार की भूमिकाएँ और तेवर बदलती हुई एक समृद्ध और सशक्त सामाजिक संचेतना से युक्त विधा के रूप में हमारे सामने है। समकालीन हिंदी-कहानीकारों को सहज रूप से दो श्रेणियों में रखा जा सकता है, कहानी के किसी भी आंदोलन से प्रतिबद्ध लेखक तथा किसी भी प्रकार के आंदोलन से असंबद्ध लेखक, जो प्रेमचंद की तरह अपने देश, उसकी संस्कृति और समाज के लिए ही प्रतिबद्ध हैं। ऐसे ही कथाकारों की श्रेणी में विश्रांत वसिष्ठ का नाम लिया जा सकता है।' [3]

इनकी कहानियों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

आंचलिक कथावस्तुओं का चयन :

आंचलिकता से तात्पर्य ग्रामीण परिवेश से होता है। जिन साहित्यिक विधाओं अथवा कथाओं में ग्रामीण परिवेश का वास्तविक अंकन हुआ हो, जिनमें ग्रामीण मिट्टी की सोंधी ख़ुशबू को शब्दों के माध्यम से सँजोया गया हो, वहाँ आंचलिकता दृष्टिगत होती है। विश्रांत जी गाँव की मिट्टी में खेलकर पले-बढ़े हैं, अतः गाँव के साथ इनका आंतरिक जुड़ाव है। इस कहानी-संकलन की सभी कहानियाँ ग्रामीण परिवेश पर ही आधारित हैं। अतः इन कहानियों में ग्रामीण रहन-सहन, बोलचाल, खानपान आदि स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं। विश्रांत जी के इस गुण की प्रशंसा करते हुए डॉ॰ नारायणस्वरूप शर्मा 'सुमित्र' कहते हैं–'गाँवों की खुरदरी ज़मीन पर रहते हुए उसके दुख-दर्द का, मौज-मस्ती का, सबलता-दुर्बलता का अहसास करने और साहित्य के माध्यम से कराने वाले साहित्यकारों की नस्ल प्रेमचंद के बाद पनपने के स्थान पर मिटती ही गई। विश्रांत वसिष्ठ साधुवाद और बधाई के पात्र हैं कि वे प्रेमचंद की ज़मीन पर खड़े होकर अपने पाठकों के लिए कुछ संप्रेष्य लिए हैं।' [4] सुमित्र जी के अतिरिक्त प्रेम कपूर भी इस बात को स्वीकारते हैं। यथा–'इस कथासंकलन में प्रत्येक कहानी जहाँ एक ओर आम आदमी की दुरूहता की ओर इंगित करती है, वहीं ग्रामांचलीय जीवन का दुख-दर्द, भला-बुरा एक संवेदनशील कथाकार के रूप में विश्रांत वसिष्ठ ने चित्रित किया है।' [5]

विश्रांत जी की कहानियों में ग्रामीण परिवेश के चित्रणों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

1. 'सड़क के बाएँ वाली कपड़े की दुकान के चबूतरे के नीचे बने स्थान में रहते हुए परिवारों के बच्चे, जब आधी-आधी रोटी हाथ में लिए सड़क की ओर बढ़े तो एक कौवे ने झपट्टा मारा और एक बच्चा चिल्लाता हुआ रह गया।' [6]
2. 'उसे पता था कि खेत में रोटियाँ लानेवाला आज घर पर कोई नहीं है। इसलिए उसने ग्यारह बजते-बजते हल छोड़ दिया और बैलों को आम के नीचे घास पर लगा गाँव की ओर चला। वह चल क्या बस दौड़ रहा था।' [7]

इसी प्रकार के आंचलिक उदाहरणों से यह संपूर्ण कहानी-संकलन आद्योपांत सराबोर है। डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ के साहित्य में आंचलिकता की अधिकता को देखते हुए ही प्रेम कपूर

'एक रोचक कथा-संग्रह' नामक शीर्षक के अंतर्गत कहते हैं–

'विश्रांत वसिष्ठ ने अपनी कहानियों में आंचलिक बोली का जिस प्रकार प्रयोग किया है, उनकी कहानियों में एक ग्रामीण रस का संचार हुआ है और अभिव्यक्ति का सौंदर्य निखरा है।'[8]

सोद्देश्यता :

लेखक अपनी कथा के माध्यम से जो कुछ पाठक के सम्मुख रखना चाहता है, वह उसकी कहानी का उद्देश्य होता है। इस कथा-संकलन की सभी कहानियाँ अपना अलग उद्देश्य लेकर पाठक के सम्मुख आती हैं। यथा–

'गल्ले की दुकान' में कथाकार रोटी पर पूँजीवादी व्यवस्था की पकड़ को आधुनिक संदर्भों में व्यक्त करता है। 'फूट का फल' कहानी में मनुष्य अपनों की छोटी-सी बात पर भी बवाल खड़ा करता है, परंतु परायों की कटुतम बात भी सहन कर जाता है। मनुष्य की इस दोहरी ज़िंदगी का चित्रण कथाकार ने किया है। 'चोरी के फूल' एक मार्मिक कहानी है, जिसमें लेखक ने पुलिस के अच्छे व बुरे दोनों रूपों पर प्रकाश डाला है। 'डेढ़ रुपए की मौत' नामक कहानी के प्रमुख पात्र की त्रासदी, मन:स्थिति एवं विक्षोभ के साथ उसकी हत्या परिणति का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत हुआ है। 'डॉग शूटिंग' एक मनोवैज्ञानिक कहानी है, जहाँ पात्रों के अंतर्द्वंद्व का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत है। 'उलटफेर' हमारे पूर्ववर्ती अँग्रेज़ शासकों द्वारा लिखवाए गए एकांकी, अपूर्ण एवं दोषयुक्त ऐतिहासिक तथ्यों की ओर सोचने हेतु हमें बाध्य करती है। 'बुढ़िया के बैल' राजनीतिक व्यवस्था पर एक व्यंग्य है। 'तूफ़ानी रात' दहेज़ की बलिवेदी पर दी गई एक और बलि का मार्मिक चित्रण है। 'ऐसा भी हो सकता है' एक व्यक्ति के फ़िल्मी पर्दे पर दिखने के अत्यधिक मोह की कहानी है। 'एक और माँ' कथाकार के राष्ट्रप्रेम एवं देशभक्ति को प्रस्तुत करती है। 'अधूरी कहानी' ग़रीबीरेखा से नीचे जीवन-यापन करनेवाले वर्ग की आम ज़िंदगी की स्थिति का मर्मस्पर्शी चित्रण एवं उसकी विवशता को प्रदर्शित करनेवाली कहानी है।

इन सभी कहानियों में कवि अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल रहा है।

कौरवी के शब्दों की प्रचुरता :

साहित्य की विधा चाहे जो भी हो, उसमें भाषा एवं शब्दों का महत्त्व सर्वोपरि है। विश्रांत जी के इस कहानी-संकलन की भाषा साधारण, सरल खड़ीबोली है, जिसमें कौरवी भाषा के हिंदी में समाहित शब्दों की प्रचुरता है। कथाकार ने ग्रामीण परिवेश पर आधारित कहानियों की रचना की है, इसलिए उसमें ग्रामीण भाषा के शब्दों की अधिकता अवश्यंभावी है। विश्रांत जी जिस क्षेत्र में रहते हैं, वहाँ की मुख्य बोलचाल की भाषा कौरवी है। अत: इनके साहित्य में कौरवी के शब्दों की प्रचुरता है। इसी बात को 'उत्तिष्ठ विश्रांत' के कथासाहित्य में योगेशकुमार ने 'रोटी पर पूँजीवादी व्यवस्था की पकड़' नामक शीर्षक के अंतर्गत इन शब्दों में कहा है–'लेखक ने टेसन, पाणि जैसे आंचलिक शब्दों का प्रयोग उन्मुक्तता से किया है, जो कहानियों को एक सहजता एवं स्वाभाविकता प्रदान करते हैं। बोलचाल के स्तर पर बोली जानेवाली हिंदी का प्रयोग संपूर्ण कथा-संकलन में स्पष्ट है। कथाकार ने जितने भी कथानक

लिए हैं, सभी अपने सुपरिचित परिवेश से।' [9]

डॉ॰ ए॰ भवानी के वक्तव्य में भी इस बात की स्वीकारोक्ति मिलती है–'कहानी की भाषाशैली कुछ आंचलिक झुकाव लिए है, परंतु इन शब्दों का चयन लेखक ने भाषा में स्वाभाविकता लाने हेतु किया है। मुहावरों और प्रचलित शब्दों के संकेतार्थ ग्रहण करने के लिए लेखक सिद्धहस्त है।' [10]

इस कहानी-संकलन के कौरवी भाषा के शब्दों की प्रचुरतायुक्त कुछ वक्तव्य द्रष्टव्य हैं–

'उस दिन कुएँ पर से जब बापू ने आवाज़ दी, 'अरे हरिया, ज़रा जूआ उठाते लाना, हल जोड़ देता हूँ दिन छुपने तक दो बीघा निकल जाएगा।' तो इसी हरिया ने साफ़ मना कर दिया था, छोटा हूँ तो यह थोड़े ही कह दिया कि सभी धौंस जमाएँ। रमुआ से कह दो या नलुआ से, अपने वश की यह बेगार नहीं है, हर घड़ी आगे-पीछे घूमो।' [11]

इसी प्रकार–'आ ज्या भाई हरिया, कहाँ फिर र्‌या इस टाईम।' [12] धरमी ने चारपाई बिछाते हुए कहा तो हरिया बैठते हुए बोला, 'अरे भाई, फिर क्या रहा हूँ? बच्चों की फीस देनी थी कई महीने हो गए। आज न दी तो नाम कट जाएगा, डेढ़ रुपए की ज़रूरत है, तनखा आते ही दे जाऊँगा।'

इसके साथ-ही-साथ इस संकलन में लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग भी बहुतायत से हुआ है, जिससे इन कहानियों के सौंदर्य में वृद्धि हुई है।

देहात का हू-ब-हू चित्रण :

विश्रांत जी ने जो भी कहानियाँ लिखीं, वह सभी आंचलिक कथावस्तु पर आधारित हैं, जिनमें गाँव से उनका जुड़ाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। ग्रामीण परिवेश से जुड़ी इन कहानियों में कथाकार ने देहात का जो चित्र पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है, वह किंचित भी बनावटी नहीं है। यह देहात का हू-ब-हू चित्रण है।

किसी भी साहित्यकार के लिए अपने साहित्य में प्रकृति का चित्रण करने का अपना अलग आकर्षण होता है। चूँकि प्रकृति मानव की शिक्षिका है, उसकी भावनाओं की पोषिका है एवं सुख-दुख की संगिनी है। मनुष्य का जीवन प्रकृति के विशालतम जीवन का एक अभिन्न अंग है। इसलिए जो प्रकृति मानव से इस प्रकार संबद्ध है उसकी साहित्य में नितांत अपेक्षा स्वाभाविक ही है। साहित्य मानव के उदात्त हृदय की कृतियों की भाषामयी अभिव्यक्ति है, अत: प्रकृति का चित्रण उसमें आना स्वाभाविक है।

विश्रांत जी के इस कथा-संकलन में भी प्रकृति एवं देहात का चित्रण स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है–

'वह हरियाणा के दिल्ली बार्डर के निकट जांठी गाँव में बस में बैठा था। दूर-दूर तक फैले खेतों से गेहूँ काट ली गई थी। बस के शीशे में से स्वर्णिम भूमि हरित हो उठी।' [13]

इसी प्रकार 'राहुल घर पहुँचा तो एक झुग्गी, जिसके द्वार पर आधी फटी सिरकी पड़ी थी, की देहली पर बैठी उसकी पत्नी रागिनी उसकी प्रतीक्षा करती मिली। देखते ही पहले तो खिल उठी। लेकिन जब उसकी आँख खाली कपड़े पर पड़ी तो वह कुछ न कह सकी।' [12]

यथार्थ के आवरण में आदर्श :

विश्रांत जी के इस कहानी-संकलन की सभी कहानियाँ यथार्थ के धरातल से उभरी हैं। इस विषय में योगेशकुमार ने 'रोटी पर पूँजीवादी व्यवस्था की पकड़' नामक शीर्षक के अंतर्गत लिखा है-'यथार्थ की पथरीली धरती पर अनुभवजन्य अभिव्यक्तियों को सहजता के साथ प्रतिपादित किया है, लेखक ने। रोज़मर्रा के जीवन में घटित होने वाली घटनाओं, विविध प्रसंगों को बहुत ही बेबाकी से रचनाकार ने रूपायित किया है।' [15]

विश्रांत जी ने इस संकलन की सभी कहानियों को यथार्थ से चुना है। इनमें वास्तविकता है। इन कहानियों के पात्रों से भी लेखक का भली-भाँति परिचय है। 'चोरी के फूल' कहानी की घटना इनके छोटे भाई के साथ घटित हुई है एवं 'डॉग शूटिंग' इनके एक अभिन्न मित्र के साथ। 'ऐसा भी हो सकता है' कहानी भी इनके एवं इनके मित्रों के साथ ही घटित हुई एक घटना का रूप है। 'उलटफेर' इनके ताऊजी द्वारा बताई गई बातों पर आधारित है। इस प्रकार इस कथा-संकलन की अधिकांशत: कहानियाँ यथार्थ पर आधारित हैं, जिनमें लेखक ने आदर्श की भी स्थापना की है।

'गल्ले की दुकान' में 'राहुल' का स्वयं को पुलिस को सौंपना एक आदर्श स्थापित करता है। 'फूट का फल' के अंत में भाइयों का मदद हेतु आना भी एक आदर्श है। 'चोरी के फूल' एक मानसिक ऊहापोह की कहानी है, जो बहुत ही सुंदर ढंग से एक आदर्श हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है, जब चोर 'चोरी के फूल' यमुना में प्रवाहित करता है। 'अधूरी कहानी' में भी मास्टर जी द्वारा मंगलसूत्र न लेना व क्षमा माँगना दोनों बातें आदर्श व्यवस्था ही तो हैं।

इस प्रकार विश्रांत जी ने यथार्थ के आवरण में आदर्श प्रस्तुत किया है।

कहानी भी, इतिहास भी :

चूँकि विश्रांत जी द्वारा लिखी गई लगभग सभी कहानियाँ यथार्थ से संबंधित हैं अत: इनका अपना इतिहास भी है। विश्रांत जी की कहानियों के पात्र जीवंत एवं वास्तविक हैं। उनके लिए ये कहानियाँ उनके जीवन की अभिन्न एवं ऐतिहासिक घटनाएँ तो हैं ही, अपने समय का दस्तावेज़ होने के नाते आनेवाले समय में इसी को इतिहास कहा जाएगा।

'उलटफेर' तो पूर्णत: इतिहास पर आधारित कहानी है।

इस प्रकार विश्रांत जी के इस कहानी-संकलन की लगभग सभी कहानियाँ मात्र कहानी नहीं हैं वरन् इनका अपना इतिहास है। चूँकि ये वास्तविकता के धरातल से संबंधित हैं। इस कहानी-संकलन के संपादकीय में डॉ॰ नारायणस्वरूप शर्मा 'सुमित्र' जी इन कहानियों पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं-'इन कहानियों में लेखक ने कथ्य और शिल्पगत वैचित्र्य के चक्कर में पड़ना उचित नहीं समझा, जितना उसने अपने आसपास की सहज-सलोनी और ऊबड़-खाबड़ ज़िंदगी को तद्‌वत् रूपायित करने को ज़रूरी समझा।' [16]

साथ-ही-साथ डॉ॰ ए॰ भवानी का कथन भी इस वक्तत्व का साक्षी है-'इस कथा-संग्रह में निहित भाव, विचार, भाषा सभी ग्रामीण परिवेश और वहाँ का प्रतिनिधित्व करनेवाले हैं। प्रेमचंद के बाद शायद ही किसी अन्य कथाकार ने इन दलित-पतित लोगों के बारे में इतना यथार्थपूर्ण वर्णन किया हो।' [17]

उपर्युक्त विवरण विश्रांत जी के इस कथा-संकलन के भाषिक शिल्प को समझने में पर्याप्त सहायक है।

2. **आठवीं कन्या :** यह विश्रांत जी का दूसरा कहानी-संकलन है, जिसमें लेखक ने 'आँखें', 'सत्या', 'मोहनी बुआ', 'मुझमें ऐसा क्या है?', 'रूपा', 'चाँदनी', 'टाफी वाली', 'आभा', 'संध्या', 'रोहिणी' व 'आठवीं कन्या' नामक ग्यारह कहानियाँ संकलित की हैं।

इस संकलन की सभी कहानियों की प्रमुख पात्र स्त्रियाँ हैं। इस बात को लेखक ने संकलन के आत्मकथ्य में स्वीकार करते हुए लिखा है–'इस संकलन में जानबूझकर समस्त कहानियों के मूलपात्र महिलाएँ रखी हैं, जो प्रायः सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करती हैं। किशोर, युवा, प्रौढ़ और वृद्ध, अमीर, ग़रीब और सामान्य।' [18]

इस कहानी-संकलन के भाषिक शिल्प को हम निम्नवत् देख सकते हैं–

आंचलिक कथावस्तु का चयन :

वे कहानियाँ जिनका वातावरण, भाषा एवं संवाद आदि ग्रामीण परिवेश से जुड़े हों अर्थात् जिन कहानियों में संपूर्ण कथानक ग्रामीण परिवेश में घूमता हो, आंचलिक कहानियाँ कही जाती हैं। विश्रांत जी ने भी ग्रामीण धरातल से जुड़ी कहानियों को ही अपने कहानी-संकलन में लिया है। इस कहानी-संकलन की लगभग सभी कथाओं में आंचलिकता विद्यमान है। इस संबंध में 'संवाद सूत्र' के डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ विशेषांक में डॉ॰ सुरेशचंद्र त्यागी का कथन द्रष्टव्य है–'विश्रांत जी की जन्मभूमि ज़िला मुज़फ़्फ़रनगर (उ॰प्र॰) का गाँव एलम है। मुझे अन्य क्षेत्रों की तो जानकारी नहीं है, लेकिन साहित्य के क्षेत्र में यह गाँव दो व्यक्तियों के कारण अपनी पहचान बनाता है। ये हैं शमशेर बहादुरसिंह और विश्रांत वसिष्ठ। विश्रांत जी भले ही महानगर कलकत्ता में रहे, एक घड़ी के लिए भी उनसे गाँव नहीं छूटा।' [19] यह वक्तव्य इस बात की पुष्टि करता है कि विश्रांत जी के अंतस में गाँव का प्रेम गहराई से बसता है। यह प्रेम विश्रांत जी के साहित्य में आद्योपांत दृष्टिगत होता है। विश्रांत जी के कथासाहित्य में सभी कहानियों के अंतर्गत आंचलिकता विद्यमान है।

इस संकलन की प्रथम कहानी 'आँखें' एक अभिशाप को प्रस्तुत करती है। यह कथा ग्रामीण क्षेत्र की वास्तविक घटना पर आधारित है। 'मोहरी बुआ' राजस्थान के एक ग्राम विकमसर की कथा है, जहाँ का परिवेश कहानी में स्पष्ट झलकता है। 'सत्या' मद्रास के एक काकी परिवार की कहानी है। यहाँ भी कहानीकार ने ग्रामीण परिवेश का चित्रण बहुत सुंदर ढंग से किया है। 'रूपा' एवं 'चाँदनी' में भी आंचलिक कथाओं की विशेषता दृष्टिगत होती है। संध्या में भी ग्रामीण वातावरण का चित्रण दिखाई पड़ता है। इस कहानी-संकलन की सर्वाधिक मर्मस्पर्शी व अंतिम कहानी आठवीं कन्या भी आंचलिक ही है। इस कहानी में भी कवि ने ग्रामीण वातावरण का बहुत सुंदर चित्रण किया है।

'मोहरी बुआ' नामक कहानी की कुछ पंक्तियाँ लेखक की आंचलिकता को प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त हैं। यथा–

'गाँव की हो या बाहर की, जो महिला पंक्ति में जब आकर लगेगी, उसी के हिसाब से पानी ले सकेगी। हमारे गाँव की बहू-बेटियों के लिए इतना कम है क्या कि इन्हें कहीं दूर

नहीं जाना पड़ता।' [20]

इस प्रकार के उदाहरण इस कथा संकलन की प्रत्येक कथा में स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विश्रांत जी के संपूर्ण कथा-संकलन में आंचलिकता आद्योपांत विद्यमान है।

सोद्देश्यता :

कहानी एक ऐसी विधा है, जो मनुष्य का संपूर्ण जीवन न होकर किसी खास घटना पर आधारित होती है, जिन्हें प्रस्तुत करने का लेखक का कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होता है। विश्रांत जी के इस कहानी-संकलन की सभी कहानियाँ पाठकों के सम्मुख एक विशिष्ट उद्देश्य लेकर प्रस्तुत होती हैं। 'आँखें' कहानी दहेज़ एवं उसके दुष्परिणामों को पाठकों के सम्मुख रखती है। 'मोहरी बुआ' एक विधवा स्त्री के संघर्षशील जीवन की कहानी है, जो यह स्पष्ट करती है कि यदि मनुष्य कोई काम करना चाहे तो कोई भी विपत्ति उसका मार्ग अवरुद्ध नहीं कर सकती। 'सत्या' कहानी में धनलिप्सा में अंधी हुई चाची द्वारा सत्या पर किए गए अत्याचारों का चित्रण है। यहाँ कथाकार ने वैयक्तिक स्वतंत्रता का प्रश्न मूल रूप से उठाया है। 'रूपा' एक संघर्षशील महिला की कहानी है, जो अपने पति के जाने के बाद अपने परिवार के पालन-पोषण हेतु नौकरी करती है। यहाँ लेखक ने उसकी स्वामिभक्ति भी प्रस्तुत की है। 'चाँदनी' दो प्रेमियों की कहानी है। यहाँ कथाकार ने कहा है कि जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता उसे प्रसन्नता देती है, वहीं कुछ विकृतियाँ भी पैदा कर देती है। 'टॉफी वाली' एक मिथक है, जिसमें आज के युवाओं की मानसिकता एवं उनके द्वारा प्रयुक्त होने वाली शब्दावली का वर्णन है। 'आभा' एक स्त्री के विषम परिस्थितियों में घिरने एवं उनसे बाहर आने का चित्रण है, जो नारी की वास्तविक स्थिति को प्रदर्शित करता है। 'संध्या' में नारी का वह रूप चित्रित है, जिसमें यदि वह किसी को सम्मान दे अथवा अपना माने तो उसके लिए वह किसी भी हद तक जा सकती है। 'रोहिणी' में नारी की सहनशक्ति का वर्णन है। 'आठवीं कन्या' नारी व पुरुष के सामाजिक अंतर को स्पष्ट करती है। यह इस संकलन की सर्वाधिक प्रभावशाली कहानी है।

इस संकलन पर अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ॰ अजरा नूर 'कथासाहित्य की विकास-यात्रा में विश्रांत वसिष्ठ का योगदान' शीर्षक के अंतर्गत कहती हैं–'दहेज़ का अभिशाप कैसे जान लेने पर उतारू है, 'आँखें' इसका सशक्त प्रमाण है। विशेषतः नारी का विद्रोह, प्रतिकार, अपने शोषक को भी मौत की चपेट में लेकर दूसरों को सबक सिखाने का जज्बा। यही तो लेखक की विशेषता है। 'मोहरी बुआ' कहानी में नायिका दूसरे विवाह के लिए साफ़ इंकार करके परंपरा के विरुद्ध बोलने का साहस जुटाती है और मेहनत-मजदूरी के बल पर ही गाँववालों के लिए कुआँ खुदवाने का असंभव-सा कार्य करने में सफल होती है, यह पुरुषसत्तात्मक समाज के मुँह पर तमाचा मारने जैसा ही है। इसी प्रकार विश्रांत वसिष्ठ की संध्या भी पठनीय है, जिसमें पति के कहने पर ही पत्नी पर पुरुष के समक्ष आत्मसमर्पण के लिए तैयार होती है–अंततः वह ऐसे कायर, लोभी पुरुष का घर छोड़ अपनी राह लेती है। यहाँ नारी-मनोविज्ञान को समझने और चित्रित करने का काम लेखक ने बख़ूबी किया है। सदियों से दबी,

शोषित, कमज़ोर, असहाय मानी जाने वाली नारी को आत्मसम्मान के साथ जीने की राह सुझाना भी समाज के प्रति लेखकीय दायित्व का निर्वहन ही है।' [21]

उपर्युक्त के आलोक में यह स्पष्ट है कि लेखक की प्रत्येक कहानी किसी-न-किसी उद्देश्य को स्पष्ट करती है।

कौरवी के शब्दों की प्रचुरता :

विश्रांत जी की कहानियों की भाषा में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों में कौरवी भाषा के शब्दों का बाहुल्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है। विश्रांत जी की भाषा साधारण बोलचाल की भाषा है, जिसे पाठक सहर्ष ग्रहण कर लेता है। अपनी भाषा में उन्होंने मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग करके भाषा को अधिक सौंदर्ययुक्त एवं गरिमापूर्ण बना दिया है। विश्रांत जी ने पात्र, देशकाल एवं परिस्थितियों के अनुरूप भाषा के विभिन्न रूप प्रस्तुत किए हैं, जिससे इनके भाषा पर पूर्णरूपेण अधिकार का पता चलता है। इनकी कहानियों के कुछ वक्तव्य द्रष्टव्य हैं–

'कोई बीमार-वीमार नहीं है। तुम्हें तंग करके आज ही मैके भेजा जाएगा ताकि घर ज़मीन बबुआ के नाम करा लाओ। इसके बाद तुम्हारे दिन पूरे, पत्ता साफ़ और बबुआ के लिए दौलत और दूसरी दुल्हन।' [22] इसी प्रकार 'अर लाला जी, मोहरी क्या बनवा रही है, ऊपरवाला बनवा रहा है, मोहरी की क्या बिसात थी, जो कुआँ बनवाती।' [23]

लेखक के इस संकलन में कौरवी के शब्दों का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि एक ही पृष्ठ पर 25 से 30 कौरवी के शब्द सरलता से देखे जा सकते हैं। यथा–परे, दरिया, तुनके, सोग मनाना आदि। [24]

देहात का हू-ब-हू चित्रण :

मनुष्य प्रकृति का अभिन्न अंग है। कोई भी मनुष्य प्रकृति के स्पर्श से अछूता नहीं है। मानव ने अपने जीवन का आरंभ प्रकृति की गोद से ही किया है। उसी से प्रेरणा लेकर उसने विकास किया और उसी की सहायता से वह सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में आगे बढ़ा। इसी कारण मनुष्य एवं प्रकृति का अटूट संबंध है। प्रकृति का सौंदर्यमय रूप हमें गाँवों में दिखाई पड़ता है। चारों ओर हरियाली, स्वच्छ वायु, पेड़-पौधे, झरने आदि का सौंदर्य गाँवों में बसता है।

विश्रांत जी द्वारा लिखी गई सभी कहानियाँ आंचलिक हैं, अत: उनमें ग्रामीण परिवेश स्पष्ट दिखाई पड़ता है। परंतु यह चित्रण अस्वाभाविक एवं कृत्रिम नहीं है, वरन् इस चित्रण में स्वाभाविकता विद्यमान है। यह देता का हू-ब-हू चित्रण है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है–जिनमें प्रथम उदाहरण एक कस्बे का है–

अँधेरा काफ़ी बढ़ गया था। मैं उठ खड़ा हुआ। बाहर निकला। ध्येय केवल यही था कि गली में टहलूँ। मन थोड़ा शांत हो। अपने कस्बे में बिजली है, पर गलियों में अंधकार ही रहता है। रोशनी केवल इधर-उधर से गली में आ जाए तो यह मकान मालिक की उदारता है, अन्यथा इसकी तनिक गुंजाइश नहीं छोड़ी जाती। खिड़की जंगले बंद करके रखे जाते हैं। कहते हैं चोर-उचक्का तारी के सहारे कपड़े खींच लेगा।' [25]

इसी प्रकार गाँव का भी एक चित्रण है–'अरे वाह, आजकल तीस-चालीस किलोमीटर की दूरी भी कुछ दूरी है। गाँव तक पक्की सड़क है, बसें चलती हैं।' [26]

यथार्थ के आवरण में आदर्श :

इस संकलन की कहानियाँ कल्पना पर आधारित नहीं हैं वरन् वह सभी वास्तविकता के धरातल से अवतरित हैं। इन कहानियों की घटनाएँ एवं पात्र लेखक के आसपास ही घूमते हैं। 'आँखें' कहानी शामली के पास एक गाँव सिलावर में घटित यथार्थ घटना है। 'सत्या' लेखक के चेन्नई के एक मित्र के पड़ोस में घटित घटना है। ये दोनों ही नहीं वरन् 'आठवीं कन्या', 'मोहरी बुआ' व अन्य कहानियों की पृष्ठभूमि यथार्थ से अवतरित है। ये सभी कहानियाँ सच्चाई से जुड़ी हैं, परंतु कहानी को आरंभ से अंत तक ले जाते हुए कवि उसके यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए यह नहीं भूला कि उस कहानी का आदर्श क्या है, वह उस आदर्श को भी बहुत सुंदर ढंग से पाठकों के सम्मुख रखता है।

'सत्या' कहानी के अंत में सत्या की आत्महत्या करने का यथार्थ पाठकों के सम्मुख आता है, परंतु नायक के मुँह से लेखक यह आदर्श भी प्रस्तुत कराता है कि वास्तविकता में इस कथा में किसको मरना चाहिए था। 'आँखें' कहानी में दहेज़ की बलि-वेदी पर नायिका चढ़ जाती है, परंतु इस कहानी में भी कथाकार ने अंत में इस घर के बेटे की मृत्यु दिखाकर आदर्श प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्रांत जी की सभी कहानियाँ यथार्थ के आवरण में आदर्श की स्थापना करती हैं।

कहानी भी इतिहास भी :

विश्रांत जी के इस संकलन की लभग सभी घटनाएँ वास्तविक हैं। जब हम इन्हें पढ़ते हैं, तब यह हमें कहानी प्रतीत होती हैं, परंतु इन कहानियों के पात्र लेखक के चिरपरिचित हैं। चूँकि यह कहानियाँ वास्तविकता के धरातल से आई हैं, अत: इनका अपना इतिहास है।

आँखें, सत्या, मोहरी बुआ, रोहिणी, रूपा, आभा एवं आठवीं कन्या, ये सभी कहानियाँ वास्तविक पात्रों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनके वास्तविक पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो हम देखते हैं कि 'आभा' कहानी में आभा का अपने मित्र से मिलने का जो परिचय हमें मिलता है, वही परिचय डॉ॰ ए॰ भवानी की पुस्तक 'एक निराला व्यक्तित्व' के आरंभ में दृष्टिगत होता है, जिससे प्रतीत होता है कि आभा एवं डॉ॰ ए॰ भवानी एक ही हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त संपूर्ण विवरण इस कहानी-संकलन 'आठवीं कन्या' के भाषिक शिल्प को पूर्णत: स्पष्ट करता है। यहाँ हम विश्रांत जी की कहानियों में प्रयुक्त ग्रामीण परिवेश देखते हैं तथा साथ ही उन जीवंत चरित्रों से भी परिचित होते हैं, जिनके जीवन से इन घटनाओं को लेकर कहानी का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। डॉ॰ विश्रांत जी के दोनों कहानी-संकलनों पर अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ॰ अजरा नूर 'कथासाहित्य की विकास यात्रा में विश्रांत वसिष्ठ का योगदान' नामक शीर्षक के अंतर्गत लिखती हैं–'विश्रांत वसिष्ठ के 'गल्ले की दुकान' एवं 'आठवीं कन्या' तथा संकलन जहाँ अपनी विषयवस्तु, भाषा की सरलता, भावों की सहजता एवं यथार्थपरक संप्रेषणीयता के कारण अपनी पहचान बनाने में सक्षम हैं, वहीं देश में व्याप्त सामाजिक बुराइयों के प्रति शिक्षित वर्ग को जागरूक करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास भी करते दिखाई पड़ते हैं।' [27]

संदर्भ

1. डॉ॰ गिरीश रस्तोगी, हिंदी कहानी सिद्धांत और विवेचन, पृ॰ 36
2. डॉ॰ धीरेंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य कोश भाग-1, पृ॰ 59
3. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, गल्ले की दुकान, पृ॰ 4
4. वही, पृ॰ 5
5. डॉ॰ प्रमथनाथ मिश्र, उत्तिष्ठ विश्रांत (कथासाहित्य), पृ॰ 33
6. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, गल्ले की दुकान, पृ॰ 11
7. वही, डेढ़ रुपए की मौत, पृ॰ 38
8. डॉ॰ प्रमथनाथ मिश्र, उत्तिष्ठ विश्रांत (कथासाहित्य), पृ॰ 33
9. डॉ॰ ए॰ भवानी, एक निराला व्यक्तित्व : विश्रांत, पृ॰ 42
10. डॉ॰ प्रमथनाथ मिश्र, उत्तिष्ठ विश्रांत (कथासाहित्य), पृ॰ 24
11. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, गल्ले की दुकान (फूट का फल), पृ॰ 23
12. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, गल्ले की दुकान (डेढ़ रुपए की मौत), पृ॰ 44
13. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, गल्ले की दुकान (चोरी के फूल), पृ॰ 27
14. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, गल्ले की दुकान, पृ॰ 12
15. डॉ॰ प्रमथनाथ मिश्र, उत्तिष्ठ विश्रांत (कथासाहित्य), पृ॰ 24
16. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, गल्ले की दुकान, पृ॰ 5
17. डॉ॰ ए॰ भवानी, एक निराला व्यक्तित्व : विश्रांत, पृ॰ 42
18. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, आठवीं कन्या, आत्मकथ्य से
19. ओमप्रकाश जोशी, संवाद सूत्र, पृ॰ 6
20. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, आठवीं कन्या, पृ॰ 10
21. डॉ॰ प्रमथनाथ मिश्र, उत्तिष्ठ विश्रांत (कथासाहित्य), पृ॰ 27-28
22. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, आठवीं कन्या (आँखें), पृ॰ 6
23. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, आठवीं कन्या (मोहरी बुआ), पृ॰ 13
24. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, आठवीं कन्या (आँखें)
25. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, आठवीं कन्या (चाँदनी), पृ॰ 51
26. डॉ॰ विश्रांत वसिष्ठ, आठवीं कन्या, पृ॰ 90
27. डॉ॰ प्रमथनाथ मिश्र, उत्तिष्ठ विश्रांत (कथासाहित्य), पृ॰ 27

❒ द्वारा डॉ॰ नीलिमा जैन
घनश्याम गंज मंडी के सामने
भगवान महावीर मार्ग, बड़ौत (उ॰प्र॰)

संस्कारों का जीवन पर प्रभाव

अंशुमान, शोध-छात्र
डॉ॰ कमला अग्रवाल, शोध-निर्देशक
संस्कृत विभाग
जे॰वी॰ जैन कालेज, बड़ौत

संस्कार मानव-जीवन के शोधन की एक प्रक्रिया है। यह शोधन आंतरिक एवं बाह्य दोनों रूपों में होता है। संस्कार मनुष्य को पाप और अज्ञान से दूर रखकर आचार-विचार, ज्ञान-विज्ञान से संयुक्त करते हैं। हमारे वैदिक शास्त्रों ने संस्कारों की आवश्यकता पर बल देते हुए उन्हें विधिपूर्वक करने का संदेश दिया है। क्योंकि विधिपूर्वक संस्कार-साधन से दिव्य ज्ञान प्राप्त कर आत्मा को परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करना ही मानव के जीवन की सार्थकता है। हमारे सोलह संस्कार जन्म से पूर्व ही आरंभ हो जाते हैं, जिनका मानव-मस्तिष्क पर अनूठा प्रभाव पड़ता है।

1. गर्भाधान संस्कार :

विधिपूर्वक संस्कार से युक्त गर्भाधान से अच्छी और सुयोग्य संतान उत्पन्न होती है। इस संस्कार से वीर्य-संबंधी तथा गर्भ-संबंधी पाप का नाश होता है। दोष का मार्जन तथा क्षेत्र का संस्कार होता है। यही गर्भाधान-संस्कार का फल है।

स्मृति-संग्रह में लिखा है कि–

निषेकाद् वैजिक चैनो गार्भिकं चापमृतज्यते,
क्षेत्र संस्कार सिद्धिश्च गर्भधानफलं स्मृतम्।

–कल्याणांक संस्कार 1/28

गर्भाधान के समय स्त्री-पुरुष जिस भाव से भावित होते हैं, उसका प्रभाव उनके रज, वीर्य पर भी पड़ता है। उस रज-वीर्यजन्य संतानों में भी वे भाव होते हैं–

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ,
स्त्रीपुंसो समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः।

–सुश्रुत शारीरस्थानं 2/46

अर्थात् स्त्री और पुरुष जैसे आहार, व्यवहार तथा चेष्टा से संयुक्त होकर परस्पर समागम करते है। उनका पुत्र भी वैसे स्वभाव का होगा।

2. पुंसवन संस्कार :

मानव की 'पुम्' अर्थात् पुत्र नाम की अभिलाषा की पूर्ति-हेतु यह पुंसवन संस्कार होता

है। 'पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्र:' अर्थात् नरक से बचने के लिए मनुष्य पुत्र-प्राप्ति चाहता है। गर्भिणी को गर्भ-चिह्न स्पष्ट हो जाने पर यह संस्कार किया जाता है। इसमें वटवृक्ष के अंकुरों तथा पल्लवों और कुश की जड़ को जल के साथ पीसकर उस रसरूप औषधि को गर्भिणी की दाहिनी नाक से पुत्र की भावना से निम्न मंत्रोच्चारण सहित पिलाएँ–

ॐ हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्,
स दाधार पृथिवी द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।

–यजुर्वेद 13/4

इन मंत्रों से सुसंस्कृत तथा अभिमंत्रित भाव-प्रधान नारी के मन में पुत्र भाव का प्रवाह प्रवाहित होता है, जिसके प्रभाव से गर्भ के मांस पिंड में पुरुष के चिह्न उत्पन्न होते हैं। इसमें यंत्रों द्वारा गर्भस्थ को ऊर्जा और तेज प्रदान करने का प्रयत्न होता है।

3. सीमंतोन्नयन संस्कार :

गर्भ के छठे या आठवें मास में यह संस्कार होता है। इस संस्कार का फल है– गर्भ की शुद्धि। गर्भ में बालक के अंग-प्रत्यंग-हृदय आदि प्रकट होते हैं। हृदय में चेतना बन जाने के कारण गर्भ में चेतना आ जाती है। इसलिए उसमें इच्छाओं का उदय होने लगता है। वे इच्छाएँ माता के हृदय में प्रतिबिंबित होकर प्रकट होती हैं, जो 'दोहद' कहलाती हैं। गर्भ में जब मन तथा बुद्धि में नूतन चेतना-शक्ति का उदय होने लगता है, तब इनमें जो संस्कार डाले जाते है, उनका बालक पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इस समय गर्भ शिक्षण-योग्य होता है। अभिमन्यु कथा का उपदेश इसी समय का था।

4. जातकर्म संस्कार :

इस संस्कार से गर्भस्रावजन्य सारे दोष नष्ट हो जाते हैं। बालक का जन्म होते ही यह संस्कार होता है। नाल-छेदन से पूर्व बालक को स्वर्ण की शलाका अथवा अनामिका अंगुली से असमान मात्रा में मधु तथा घृत चटाया जाता है। इसमें स्वर्ण त्रिदोषनाशक है। घृत आयुवर्धक तथा वात, पित्त नाशक है एवं मधु कफनाशक। इन तीनों का सम्मिश्रण आयु, लावण्य और मेधाशक्ति को बढ़ाने वाला तथा पवित्रकारक होता है।

बालक के पिता अथवा आचार्य को बालक के कान के पास उसकी दीर्घायु के लिए इस मंत्र का पाठ करना चाहिए–

अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्मास्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।

–पारस्कर 1/16/6

अर्थात् जिस प्रकार अग्निदेव वनस्पतियों द्वारा आयुष्मान है, उसी प्रकार उनके अनुग्रह से मैं तुम्हें दीर्घायु से युक्त करता हूँ। पुन: पिता द्वारा पुत्र की दीर्घायु तथा कल्याण-कामना से–

ॐ दिवस्परिप्रथमं जज्ञे।

–यजुर्वेद 12/18/28

इन मंत्रों का उच्चारण करते हुए बालक के हृदय को स्पष्ट करें। इस संस्कार में माँ के स्तनों को धोकर दूध पिलाने का विधान इसलिए है कि–माँ के रक्त और मांस से उत्पन्न बालक के लिए माँ का दूध ही सर्वाधिक पोषक पदार्थ है। इस प्रकार यह बालक के शारीरिक

एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए तथा पवित्रता व स्वच्छताधारण के लिए अपरिहार्य है।

5. नामकरण संस्कार :

इस संस्कार का फल स्मृति-संग्रह में आयु तथा तेज की वृद्धि एवं लौकिक व्यवहार की सिद्धि बताया है–

आयुर्वचोऽभि वृद्धिश्च सिद्धि र्व्यवहृतेस्तथा,
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्ट मनीषिभिः।

–संस्कार कल्याणांक 1/40

यह जन्म से दस रात्रि के उपरांत ग्यारहवें दिन की विधि है।

6. निष्क्रमण संस्कार :

'निष्क्रमणादायुषो वृद्धिरप्युद्दिष्ठा मनीषिभिः' यह संस्कार आर्युवर्धक है, ऐसा विद्वानों का विचार है। यह चौथे अथवा छठे मास में होता है। बालक को सूर्यादि के दर्शन कराना इसकी मुख्य प्रक्रिया है। बालक का शरीर, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश से निर्मित होता है। बालक का पिता इस संस्कार के अंतर्गत आकाशादि पंचभूतों के अधिष्ठाता देवताओं से बालक के कल्याण की कामना करता है। अथर्ववेद में लिखा है–

शिवे ते स्तां द्यावा पृथिवी असंतापे अभिश्रियौ
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे
शिवा अभिक्षरन्तु त्वायो दिव्याः पयस्वतीः।

–अर्थववेद 8/2/14

अर्थात् हे बालक! तेरे निष्क्रमण के समय द्युलोक और पृथ्वीलोक कल्याणकारी, सुखद एवं शोभास्पद हों। सूर्य तेरे लिए कल्याणकारी प्रकाश करें। तेरे हृदय में स्वच्छ कल्याणकारी वायु का संचरण हो। दिव्य जल वाली गंगा-यमुना आदि नदियाँ तेरे लिए निर्मल स्वादिष्ट जल का वहन करें।

7. अन्नप्राशन संस्कार :

यह बालक की दैहिक पुष्टि तथा संवर्धन हेतु है। 'अन्नाशनान्मातृगर्भे मलाशाद्यपि शुद्धयति' इस संस्कार के द्वारा माता के गर्भ में मलिन भक्षणजन्य जो दोष बालक में आ जाते हैं, उनका नाश होता है।

यह संस्कार बालक के 6-7 मास के समय होता है। दाँत निकालना तथा पाचनशक्ति प्रबल होने लगती है।

शुभमुहूर्त में देवताओं की स्तुति करने के पश्चात् माता-पिता आदि सोने या चाँदी की शलाका या चम्मच से निम्न मंत्रों के द्वारा बालक को हविष्यन्न (खीर) आदि पवित्र और पुष्टिकारक अन्न चटाते हैं–

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्यं वि बाधेते ए तो मुञ्चतो अंहसः।

–अर्थववेद 8/2/18

अर्थात् हे बालक! जौ और चावल तुम्हारे लिए बलदायक और पुष्टिकारक हों, क्योंकि ये दोनों वस्तुएँ यक्ष्मानाशक हैं तथा देवान्न होने से पापनाशक हैं।

अत: इस संस्कार में अन्न खिलाना महत्त्वपूर्ण है।

8. चूडाकरण संस्कार :

इस संस्कार द्वारा बालक बल, आयु, तेज की वृद्धि को प्राप्त करता है। यह 3, 5 अथवा 7 वें वर्ष या कुल-परंपरा के आधार पर करने का प्रावधान है। मस्तक के भीतर ऊपर को संपूर्ण नाड़ियों का मेल है। उसे अधिपति नामक मर्मस्थान कहा गया है। इस मर्मस्थान की सुरक्षा-हेतु चोटी रखने का विधान किया गया है। यथा–

निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननायरायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय।

–यजुर्वेद 3/63

अर्थात् हे बालक! मैं तेरे दीर्घ आयु के लिए तथा तुम्हें अन्न के ग्रहण करने में समर्थ बनाने के लिए, उत्पादन शक्ति-प्राप्ति के लिए, ऐश्वर्य-वृद्धि के लिए, सुंदर संतान के लिए, बल तथा पराक्रम-प्राप्ति के लिए योग्य होने के लिए तेरा चूडाकरण (मुंडन) संस्कार करता हूँ।

9. कर्णवेधन संस्कार :

पूर्ण पुरुषत्व एवं स्त्रीत्व की प्राप्ति के लिए यह संस्कार किया जाता है। सूर्य की किरणें कानों के छिद्र से प्रविष्ट होकर बालक-बालिकाओं को पवित्र करती है और तेज़ संपन्न बनाती हैं। ब्राह्मण और वैश्य का रजतशलाका से, क्षत्रिय का स्वर्णशलाका से तथा शूद्र का लौहशलाका द्वारा कान छेदन का विधान है। बालक अथवा बालिका के कानों का निम्न मंत्र द्वारा अभिमंत्रण होता है–

भद्र कर्णेभि: श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा:,
स्थिरैरग्ङैस्तुष्टुवा: सस्तनूभिर्व्यरोमहि देवहितं यदायु:।

–यजुर्वेद 25/21

सर्वप्रथम बालक के दाहिने कान, फिर बाए कान में सूई से छेद का प्रावधान है।

10. वेदारंभ संस्कार :

इस संस्कार द्वारा सर्वप्रथम माता-पिता द्वारा बालक को अक्षर-ज्ञान कराया जाता है। शिशु के मस्तिष्क के ग्रहण करने की योग्यता हो जाने पर यह संस्कार होता है।

11. उपनयन संस्कार :

इस संस्कार के द्वारा द्विजत्व की प्राप्ति होती है। शास्त्रों में वर्णित है कि इस संस्कार के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का द्वितीय जन्म होता है। यज्ञोपवीत धारण करना इस संस्कार का प्रमुख अंग है। इस संस्कार के द्वारा अपने आंतरिक कल्याण के लिए वेदाध्ययन तथा गायत्री उच्चारण आदि कर्म करने का अधिकार प्राप्त होता है।

शास्त्रसम्मत संस्कार होने पर गुरु बालक के कंधे एवं हृदय का स्पर्श करते हुए कहता है कि–

ममव्रते ते हृदयं दधाभि। मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वानियुक्तुमहाम्।

—संस्कार कल्याणांक 1/41

अर्थात् मैं वैदिक एवं लौकिक शास्त्रों का ज्ञान कराने वाले वेदव्रत तथा विद्याव्रत—इन दो व्रतों को तुम्हारे हृदय में स्थापित कर रहा हूँ। तुम्हारा चित्त, मन या अंत:करण मेरे अंत:करण का ज्ञान-मार्ग में अनुसरण करता रहे। अर्थात् जिस प्रकार मैं तुम्हें उपदेश देता हूँ, उसे तुम्हारा चित्त ग्रहण करता रहे।

इस प्रकार के दिए उपदेशों से बालक का आत्मिक बोधन होता है अथवा ब्रह्मत्व ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा माना जाता है।

12. वेदारंभ संस्कार :

उपनयन के उपरांत बालक को वेदाध्ययन में अधिकार प्राप्त होता है। ज्ञानस्वरूप वेदों के अध्ययन से बालक की मेधा, प्रज्ञा, विद्या, श्राद्ध आदि में वृद्धि होती है तथा वेदाध्ययन आदि में विशेष अनुकूलता प्राप्त होती है। तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति करना संस्कार का परम प्रयोजन है। बालक वैदिक ऋचाओं के माध्यम से ज्ञान-प्राप्ति हेतु ईश्वर से प्रार्थना करता है कि—

विदा मघवन् विदा गातुमनुश: सिषो द्विश:
शिक्षा शचीनां पत पूर्वीणां पुरुवसो।

—सामवेद 641

भाव है कि अत्यंत वैभवशाली, उदार एवं पूज्य परमात्मन्! आप संपूर्ण वेद-विद्याओं के ज्ञान से संपन्न एवं आप सन्मार्ग और गम्य दिशाओं को भी ठीक-ठीक जानते हैं। हे आदिशक्ति के स्वामिन्! आप हमें शिक्षा का सांगोपांग रहस्य बतला दें।

13. केशांत संस्कार :

विद्याध्ययन पूर्ण होने के उपरांत यह संस्कार गुरुकुल में ही संपन्न होता है। इसलिए यह श्मश्रु संस्कार भी कहलाता है। इस संस्कार में भी यज्ञादि कर्मों को करके दाढ़ी बनाने की क्रिया संपन्न होती है—

केशानाम् अंत: समीपास्थित: श्मश्रुभाग इति व्यत्पत्त्या
केशांत शब्देव श्मश्रणामभिधानात् श्मश्रुसंस्कार एवं
केशांतशब्देन प्रतिपाद्यते। अत एवाश्वलायनेनापि
श्मश्रूणीहोन्दति। इतिश्मश्रूणा संस्कार एवत्रोपष्टि:।

—संस्कार दीपक, भाग 2, पृ॰ 342

14. समावर्त्तन संस्कार :

यह विद्याध्ययन का अंतिम संस्कार है। विद्या पूर्ण हो जाने पर बालक गुरु की आज्ञा पाकर घर में समावर्तित होता है। अत: यह संस्कार किया जाता है। बालक गृहस्थ जीवन में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है। यही इस संस्कार का फल है। फिर वेदमंत्रों द्वारा जल से भरे कलशों से ब्रह्मचारी को स्नान कराया जाता है तथा समस्त क्रियाएँ पूर्ण करने के पश्चात् त्याग की कामना से वरुणदेव से प्रार्थना करनी चाहिए—

उदुत्तम मुमुग्धि विपाशं मध्यमं चृत।
अवाधमानि जीवसे।

अर्थात् हे वरुणदेव! आप हमारे कटि एवं ऊर्ध्वभाग के मोधी उपवीत एवं मेखला को हटाकर सूत की मेखला तथा उपवीत पहनाने की आज्ञा दें और निर्विघ्न अग्रिम जीवन का विधान करें।

तदंतर घर आने तक गुरु धर्म-कर्म वेदसम्मत उपेदश बालक को देता है। इस उपदेश-प्राप्ति के बाद स्नातक गुरु को प्रणाम कर मौञ्जी से खला आदि का परित्याग करता हुआ विवाह हेतु अनुमति के लिए प्रार्थना करता है।

15. विवाह-संस्कार :

विवाह-संस्कार भौतिक एवं दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण संस्कार है। स्त्री-पुरुषों के विवाह-हेतु शास्त्रसम्मत नियमों एवं विधान को बताया गया है। अग्नि साक्षी के रूप में यह संस्कार किया जाता है, जिसमें दांपत्य संबंध, जन्म-जन्मांतर युग-युगांतरों तक माना गया है। स्वर्गलोक-प्राप्ति हेतु गृहस्थ आश्रम सर्वोत्तम माना गया है, जिसमें प्रवेश के लिए विवाह अनिवार्य है।

16. अन्त्येष्टि क्रिया :

मृत्यु के अनंतर मृत शरीर को वैदिक मंत्रों सहित दाह-क्रिया संपन्न की जाती है। वस्तुतः इसमें मानव की सद्गति का विधान है। श्रद्धा के साथ किया गया अंतिम संस्कार जीव और उसके परिवार के श्रेय के लिए होता है। दान और दीपदान ये दो जीव की शांति के हितकारक साधन माने गए हैं।

निष्कर्ष :

समग्र धारा पर संपूर्ण व्यक्तियों के हित पुरुषार्थ चतुष्ट्य की उपलब्धि, शाश्वत शांति और समृद्धि के लिए संस्कारों से सुसंस्कारित होना अनिवार्य है।

❐ **पुत्र श्री रोहिताश्व सिंह**
ग्राम व पोस्ट आदर्श नगला (बागपत) 250611

हिंदी साहित्येतिहास-लेखन में डॉ॰ बच्चनसिंह कृत 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' : एक अलग प्रयास

नवजीत कौर, शोध-छात्रा
डॉ॰ हरमहेंद्रसिंह बेदी, शोध-निर्देशक
प्रोफ़ेसर हिंदी विभाग
गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर

हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखन की परंपरा :

हिंदी साहित्येतिहास-लेखन की परंपरा गौरवशाली रही है। समय-समय पर विभिन्न संस्थाओं, व्यक्तियों का इसके लेखन में विलक्षण अवदान रहा है। हिंदी-साहित्येतिहास निर्माण में ईसाई मिशनरियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने ही इतिहास-लेखन का श्रीगणेश किया। उनके द्वारा इतिहास-संकलन में प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्नीसवीं शती में ही हिंदीभाषा और साहित्य दोनों के विकास की रूपरेखा स्पष्ट करने के प्रयास होने लगे। हिंदी के साहित्येतिहास सर्वप्रथम पुस्तकाकार में नहीं लिखे गये। छोटे-छोटे निबंधों में भाषा और साहित्य का मूल्यांकन प्रस्तुत हुआ। हिंदी साहित्येतिहास-लेखन का श्रीगणेश फ्रांसीसी भाषा में तासी के ग्रंथ द्वारा हुआ। क्या हम इसे हिंदी का प्रथम इतिहास मान सकते हैं? डॉ॰ रूपचंद पारीक के अनुसार, 'हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास गार्सा-द-तासी द्वारा लिखा गया। यह मत प्राय: सर्वमान्य सर्वविदित है।'[1] इसी मत की पुष्टि डॉ॰ सुमनराजे ने भी की है । उन्होंने लिखा है, 'हिंदी-साहित्य का पहला इतिहास-लेखक गार्सा-द-तासी है, इसमें संदेह नहीं है।'[2] परंतु डॉ॰ किशोरीलाल गुप्त इसे तथ्य मानने से इंकार करते हैं। उनका मत है 'तासी ने अपने ग्रंथ को हिंदुई और हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास कहा है। उसके हिंदी से संबंधित अंश का अनुवाद, डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'हिंदुई साहित्य का इतिहास' नाम से प्रस्तुत किया है। तासी ने यद्यपि अपने ग्रंथ को इतिहास कहा है, पर यह इतिहास नहीं है, क्योंकि इसमें न तो कवियों का विवरण काल-क्रमानुसार दिया गया है, न काल-विभाग किया गया है और अब काल-विभाग ही नहीं है तो प्रवृत्ति-निरूपण की आशा ही कैसे की जा सकती है? जिन लोगों ने तासी एवं सरोज नहीं देखा है, प्रमादवश वे इन्हें हिंदी का प्रथम अथवा द्वितीय इतिहास समझ बैठे हैं। तासी और शिवसिंह सेंगर दोनों को इतिहास-पद्धति का ज्ञान था, इसमें संदेह नहीं, स्वयं उन ग्रंथों की भूमिकाओं से स्पष्ट है, पर अनिवार्य कारणों से वे अपने ग्रंथों को इतिहास का रूप नहीं दे सके। ग्रियर्सन का 'द मार्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ़ हिंदुस्तान' हिंदी-साहित्य का प्रथम इतिहास है।'[3] इस तथ्य को स्वीकार करना ही पड़ता है कि गार्सा-द-तासी का ग्रंथ मुख्यत: हिंदी और उर्दू कवियों के वृत्तों का संग्रह है तथा इसके निर्माण का एक उद्देश्य योरूप के विद्वानों के लिए अज्ञात साहित्य का

विवरण प्रस्तुत करना है। यह भी निश्चित है कि यह विवरण कालक्रमानुसार नहीं है, जो इतिहास-लेखन की अनिवार्य शर्त है। परंतु इतना होते हुए भी यह ग्रंथ पूर्व चर्चित काव्य-संग्रहों से भिन्न है। इसमें तासी का दृष्टिकोण अनुसंधानात्मक है, जिसके कारण इसे इतिहास-ग्रंथ कहना अतिशयोक्ति नहीं है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा के अनुसार, 'कवियों के नामों का सबसे पहला संग्रह, जो इतिहास के रूप का आभास-मात्र है, फ्रेंच साहित्य में गार्सा-द-तासी लिखित 'इस्त्वार द लालेत्रात्यूर ऐंदुई ऐं ऐदुस्तानी' है।'ऐतिहासिक दृष्टि से संपन्न तासी अपने ग्रंथ को साहित्य का इहिास नहीं बना पाए, किंतु इसमें संदेह नहीं कि यह हिंदी-साहित्य का इतिहास-संबंधी प्रथम अनुसंधानात्मक कविवृत्त-संग्रह है। तासी के इतिहास-ग्रंथ की विस्तृत भूमिका उनके हिंदुस्तानी साहित्य-संबंधी इतिहास-दर्शन को भी स्पष्ट करती है। इसमें हिंदीभाषा और साहित्य की गत्यात्मकता को समझने का प्रयास अवश्य किया गया है। इसलिए इसे 'हिंदुई' साहित्य के इतिहास से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ समझा जाता है। इसका प्रथम भाग 1839 ई॰ में प्रकाशित हुआ था तथा द्वितीय 1847 ई॰ में। पुस्तक का परिवर्द्धित संस्करण 1871 ई॰ में प्रकाशित हुआ। अत: कहा जा सकता है कि हिंदी-साहित्य के इतिहास के प्रथम अनुसंधानकर्त्ता गार्सा-द-तासी हैं तथा उन्होंने फ्रेंच भाषा के माध्यम से पहली बार हिंदी और उर्दू के कवियों के जीवन-चरित्र, उनकी जाति तथा निवास-स्थान आदि का अनुसंधान करने का प्रशंसनीय यत्न किया है।

साहित्येतिहास लेखन-पद्धति साहित्येतिहास : अर्थ एवं परिभाषा :

'साहित्येतिहास का शाब्दिक अर्थ है साहित्य का इतिहास। यह दो शब्दों– साहित्य और इतिहास की संधि से बना एक शब्दरूप है।' [4] साहित्येतिहास वह साहित्यिक विधा है, जो हमें मानवता के क्रमिक विकास से परिचित कराती है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, 'आदि से अंत तक इन्हीं चित्रवृत्तियों तक की परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।' [5]

साहित्येतिहास लेखन-प्रक्रिया :

साहित्येतिहास लेखनशास्त्र का प्रमुख आयाम साहित्येतिहास-लेखन की प्रक्रिया एवं प्रविधि का निर्धारण है। साहित्येतिहास की प्रक्रिया कुछ घटकों में से होकर गुज़रती है। साहित्येतिहास लेखन-प्रक्रिया में तथ्य-संचयन, काल-विभाजन, नामकरण आदि चरण होते हैं।

साहित्येतिहास में काल-विभाजन आरंभ से ही होता रहा है। प्रत्येक साहित्येतिहास-लेखक ने विशिष्ट आधार पर काल-विभाजन किया है। ई॰एच॰ कार का मत है कि 'इतिहास का काल-विभाजन तथ्य ही नहीं, अपितु एक विचार-विशिष्ट धारणा भी है, जो इस दृष्टि से प्रमाणित है कि यह दृष्टि देती है और अपनी प्रामाणिकता की व्याख्या के लिए स्वतंत्र है।' [6]

साहित्येतिहास-लेखन में काल-विभाजन के साथ ही नामकरण की समस्या भी उत्पन्न होती है। उसके लिए कभी साहित्यिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जाता है तो कभी विशेष पद्धति को। कभी साहित्यकार के नाम पर नामकरण होता है और कभी साहित्यिक विधा के आधार पर। डॉ॰ नामवरसिंह का यह मत है– 'नाम तो साहित्य की अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ही होना चाहिए, लेकिन उन प्रवृत्तियों के पीछे उक्त सामाजिक ढाँचे और काल-विभाजन का स्पष्ट आधार अवश्य हो।' [7]

अब तक जितना भी साहित्येतिहास लिखा गया, उनमें विद्वानों ने काल-विभाजन की विभिन्न पद्धतियाँ अपनाईं। 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' की भूमिका में डॉ॰ गणपतिचंद्र गुप्त ने तीन पद्धतियों का उल्लेख किया है। पहली पद्धति के अनुसार– आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल, आधुनिककाल। दूसरी पद्धति में इसके तीन ही भाग किए गए है- आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिककाल। तीसरी प्रणाली में शुद्ध काल-क्रम से विभाजन करने का सुझाव दिया है।

डॉ॰ बच्चनसिंह का हिंदी साहित्येतिहास-लेखन को योगदान एवं साहित्यिक परिचय :

डॉ॰ बच्चनसिंह हिंदी-साहित्य और आलोचना के अग्रण्य हस्ताक्षर हैं। डॉ॰ बच्चनसिंह का जन्म 2 जुलाई 1919 ई॰ में हुआ । डॉ॰ बच्चनसिंह ने कई वर्ष शिमला विश्वविद्यालय में अध्यापन किया। डॉ॰ बच्चनसिंह हिंदी-साहित्य के लिए निम्नलिखित कृतियों की रचना की है। सूतों वा सूतपत्रों वा, लहरें और कगार (उपन्यास), क्रांतिकारी कवि निराला, रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना, हिंदी-आलोचना के बीज शब्द, हिंदी-साहित्य का दूसरा इतिहास, आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल का इतिहास पढ़ते हुए, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन, साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद, बिहारी का नया मूल्यांकन, हिंदी-नाटक, समकालीन साहित्य : आलोचना को चुनौती, आलोचक और आलोचना, कविता का शुक्लपक्ष आदि।' आलोचक और आलोचना' पुस्तक विभिन्न आलोचनात्मक सिद्धांतों और आलोचकों की उपलब्धियों और अभावों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है।' साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद' पुस्तक में डॉ॰ बच्चनसिंह ने कहा है, 'यदि साहित्य को अपनी रक्षा करनी है तो उसे विज्ञान और टैक्नोलॉजी की सहायता लेनी पड़ेगी।'[8] डॉ॰ बच्चनसिंह का कहना है कि समाजशास्त्रीय परंपरा का हमारे साहित्यशास्त्र में कुछ खास नहीं मिलेगा, किंतु सौंदर्यशास्त्रीय और रूपात्मक पक्ष पर सूक्ष्म विचार किया गया है। 'भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन' पुस्तक में भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न संप्रदायों और सिद्धांतों की विशेषतओं, एक संप्रदाय के दूसरे से लगाव-अलगाव को इस ढंग से विवेचित किया गया है कि प्रत्येक का संपूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र में अपना महत्त्व और स्थान निर्धारित किया जा सके। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विकास को बताते हुए उसके अद्यतन सिद्धांतों पर भी प्रकाश डाला गया है। तुलनात्मक अध्ययन को पूर्णता प्रदान करने के लिए कवि, पाठक, कृति, काव्यभाषा एवं नैतिकता आदि प्रश्नों पर भी इस खंड में विस्तारपूर्वक विचार हुआ है। 'कविता का शुक्ल पक्ष' पुस्तक डॉ॰ बच्चनसिंह ने अपने सहकर्मी डॉ॰ अवघेश प्रधान के साथ शुक्ल जी के चयन के आधार पर हिंदी की एक 'गोल्डन ट्रेजरी' एकत्र की है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह हिंदीकाव्य की छायावाद-पूर्व की संपदा से आकलित, एक रत्न-मंजूषा है।

'बिहारी का नया मूल्यांकन' पुस्तक में 'बिहारी सतसई' का मूल्यांकन करते समय तत्कालीन सामंतीय परिवेश को बराबर दृष्टि में रखा गया है।

डॉ॰ बच्चनसिंह का साहित्येतिहास-लेखन चिंतन : इतिहास-दृष्टि

काल-विभाजन और नामकरण :

डॉ॰ बच्चनसिंह के अनुसार आदिकाल को 'अपभ्रंश काल : जातीय साहित्य का उदय' कहना अधिक संगत प्रतीत होता है। भाषा की दृष्टि से सन् 1000 से 1400 ई॰ का समय महत्त्वपूर्ण है। भक्तिकाल का समय डॉ॰ बच्चनसिंह ने सन् 1400-1600 ई॰ तक माना है। डॉ॰ बच्चनसिंह

का कहना है कि भक्तिकाल, भक्तिकाल है मध्यकाल नहीं। डॉ॰ बच्चनसिंह ने सन् 1650-1857 ई॰ तक के 'समय को रीतिकाल नाम दिया है। डॉ॰ बच्चनसिंह ने रीतिकाल को अपने आपमें स्वतंत्र काल कहा है। डॉ॰ बच्चनसिंह का कहना है कि इसे उत्तर मध्यकाल कहना गणितीय भ्रमोत्पादन है। डॉ॰ बच्चनसिंह ने 1857 ई॰ से अब तक के काल को आधुनिककाल कहा है।

आदिकाल के प्रमुख कवि :

पुराण-संबंधी आख्यानों के रचयिताओं में स्वयंभू, पुष्पदंत, हरिभद्र सूरि, विनय सूरि, धनपाल, जोइंदु तथा रामसिंह का विशेष स्थान है। आदिकाल के कतिपय रासोकाव्य तथा कवि बीसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह हैं। यह एक विरह गीतिकाव्य है। चंदवरदाई कृत पृथ्वीराज रासो इस काल का जितना अधिक महत्त्वपूर्ण काव्य है, उतना ही अधिक विवादास्पद भी है। दलपति विजयकृत खुमान रासो में बगदाद के खलीफा अलमामू के चित्तौड़ पर किए गए आक्रमण का उल्लेख है। परमाल रासो के रचयिता जगनिक हैं।

चौरासी सिद्धों के मुख्य कवि है– सरहपा, शबरपा, लुहपा, दारिकपा, डोवीया भुसकपा, कव्हपा आदि। सरहपा पहले बौद्धसिद्ध हैं, जिन्होंने चर्यागीतों और दोहाकोश की रचना की। कव्हया चोटी के विद्वान और पंडित थे। वे पांडित्य और कवित्व में बेजोड़ थे। श्रृंगार और वीर-दर्पपूर्ण काव्य के अंतर्गत हेमचंद्र, मेरुतुंग, अदूहमाण कवियों को रखा है। प्राकृत पैंगलम के कवि 'विद्याधर शार्ङ्गधर को स्वीकार किया। इन कवियों की रचनाओं में कई प्रकार के विषय हैं। वीर, श्रृंगार, नीति, शिव-स्तुति, विष्णु-स्तुति, ऋतुवर्णन आदि। हिंदी के जातीय कवि विद्यापति, खुसरो, मौलाना दाउद को कहा है। विद्यापति श्रृंगारिक कवि हैं या भक्ति के कवि' को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ और वह अभी भी बंद नहीं हुआ। खुसरो को खड़ीबोली हिंदी का प्रथम कवि माना है।

भक्तिकाल के प्रमुख कवि :

संतकाव्य-परंपरा के प्रमुख कवि नामदेव, कबीर, रविदास हैं। संत नामदेव मराठी साहित्य के प्रमुख भक्तकवि थे। कबीर निराकारवादी थे। सूफ़ी कवियों में सर्वश्रेष्ठ मलिक मुहम्मद जायसी हैं। इस काल के अन्य सर्वश्रेष्ठ कवि हैं– कबीर, सूर और तुलसी। इनमें से प्रत्येक अलग-अलग काव्यधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। रामभक्ति काव्य के प्रमुख कवि तुलसीदास हैं। इनके अतिरिक्त नाभादास, प्राणचंद, विश्वनाथ आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। संपूर्ण हिंदी-साहित्य में कृष्णभक्ति काव्य-परंपरा सबसे लंबी और समृद्ध है। सूरदास कृष्णभक्ति काव्य के प्रमुख कवि हैं। उनके अतिरिक्त परमानंददास, कुंभनदास, गोविंदस्वामी, छीतस्वामी आदि कृष्णकाव्य के कवि हैं।

अष्टछाप के कवियों में सूरदास को मुख्य स्थान प्राप्त है। अष्टछाप के अन्य कवि परमानंददास, नंददास, कृष्णदास, कुंभनदास, गोविंदस्वामी है। हिंदी में रामकाव्य के पुरस्कर्ता के रूप में 'रामानंद को मान लेना सुविधाजनक है। यद्यपि उनकी लिखी हुई हिंदी-संस्कृत की रचनाओं की प्रामाणिकता संदिग्ध है। तुलसी के पूर्व कई रामभक्त कवि हो चुके हैं– विष्णुदास, अग्रदास, ईश्वरदास, कृपाराम। केशवदास रीति कवि हैं। केशवदास ने 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' नामक दो रीति-ग्रंथ लिखे हैं।

रीतिकाल के प्रमुख कवि :

रीति की दो परपंराएँ थीं– एक परंपरा केशव की थी, दूसरी चिंतामणि की। चिंतामणि ने काव्य के सब ढंगों पर ग्रंथ लिखे। इनकी भाषा ललित और सानुप्रास होती थी। यद्यपि समय-विभाग के अनुसार केशवदास भक्तिकाल में पड़ते हैं और गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन होने तथा 'रामचंद्रिका' आदि लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परंतु उन पर पिछले काल के संस्कृत साहित्य का इतना प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की हिंदी-काव्यधारा से पृथक् होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गए और हिंदी में रीति-ग्रंथों की परंपरा के आचार्य कहलाए। भिखारीदास इस काल के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक आचार्य हैं। इन्होंने हिंदी काव्य-परंपरा, भाषा, छंद, तुक आदि पर भी विचार किया है। प्रतापसाहि रीतिकाल के अंतिम चरण के श्रेष्ठ रीति-ग्रंथकार हैं। ग्वाल कवि रीतिकाल के अंतिम शास्त्र कवि हैं। हिंदी के इस सर्वतोव्याप्त शृंगार-प्रवाह के बीच भूषण का अभ्युदय हुआ, जिन्होंने जातीय जागृति का शक्तिशाली उपक्रम किया। पांडित्य की दृष्टि से रीतिकाल के समस्त कवियों में देव का स्थान आचार्य केशवदास से कुछ नीचा माना जा सकता है। कलाकार की दृष्टि से वे बिहारी से निम्न ठहर सकते हैं, परंतु अनुभव और सूक्ष्मदर्शिता में उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा को मिश्रण करने और सुंदर कल्पनाओं की अनोखी शक्ति लेकर विकसित होने के कारण हिंदीकाव्य-क्षेत्र में सहृदय और प्रेमी कवि देव को रीतिकाल का प्रमुख कवि स्वीकार करना पड़ता है। रीतिकाल के अंतिम चरण के पद्‌माकर सबसे प्रसिद्ध कवि हैं। पद्‌माकर के काव्य में उनकी भावधारा को सरल, स्वच्छंद प्रवाह मिला है, जिसमें भावों की सुंदर योजना के बीच में सुंदर चित्र खड़े किए गए हैं। इसके अतिरिक्त तोष, रसलीन, बेनी, प्रवीन, वृंद, अली मुहिब खाँ, बेनी बंदीजन, यशोदानंदन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

रीतिमुक्त कवि :

रीतिमुक्त कवियों में प्रसिद्धि की दृष्टि से बिहारी अन्यतम हैं। सौंदर्य और प्रेम के सुंदरतम चित्र बिहारी ने खींचे हैं। घनानंद इस काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। इस धारा के प्रायः सभी गुण इनकी शैली में मिल जाते हैं। जैसे– भावात्मकता, वक्रता, लाक्षणिकता, भावों की वैयक्तिकता, रहस्यात्मकता, मार्मिकता, स्वच्छंदता आदि। आलम घनानंद की भाँति सर्वथा स्वच्छंद नहीं हैं। आलम के कवित्व-सवैयों में रीति-परंपरा के गुण भी कुछ-कुछ मिल जाते हैं अर्थात् कहीं-कहीं उन्हें नायिकाभेद, रस आदि के आधार पर खतियाया भी गया है। ठाकुर काव्य-मार्ग की विशेषताओं के प्रति घनानंद की भाँति सजग हैं। इनके भाव व्यक्तिगत होकर भी सार्वजनीन हैं। भाषा की स्वाभाविकता स्वच्छंदमार्गी सभी कवियों की अपेक्षा बोधा में अधिक है। केवल बोधा ही ऐसे हैं, जो भाषा के स्वाभाविक रूप को लेकर चले हैं।

आधुनिक काल के प्रमुख कवि :

भारतेंदु हरिश्चंद्र की कविता हिंदी में नवीन प्रगति को लेकर आई थी। पंडित श्रीधर पाठक और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी खड़ीबोली की कविता के इस युग के प्रथम लेखक और आचार्य हुए। मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक खड़ीबोली के सबसे प्रसिद्ध प्रतिनिधि कवि हैं। लोकप्रियता की दृष्टि से गुप्त जी को जितना गौरव प्राप्त हुआ है, उतना आधुनिक काल में

किसी कवि को नहीं प्राप्त हुआ। रामचंद्र शुक्ल की प्रसिद्धि उत्कृष्ट गद्य-लेखक और समालोचक की दृष्टि से है। उनकी कविताएँ उन्हें अधिक सम्मानित नहीं कर सकीं।

छायावादी कवि :

कवियों में जयशंकरप्रसाद को नवीन छायावादी काव्य का प्रवर्तक कहा जाता है। उनकी प्रधान काव्य-रचनाएँ– झरना, आँसू, लहर तथा कामायनी हैं। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला छायावाद के दूसरे प्रधान कवि हैं। प्रसाद की दार्शनिक चेतना आदि शैव-दर्शन को आत्मसात करती है तो निराला में अद्वैतवादी दर्शन की व्याप्ति दिखाई पड़ती है। परिमल, अनामिका, गीतिका, तुलसीदास उनकी वे काव्य-कृतियाँ हैं, जो छायावाद की समस्त प्रमुख विशेषताओं को उजागर करती हैं। छायावाद की बृहद्त्रयी के तीसरे कवि सुमित्रानंदन पंत हैं। कविता के भावपक्ष और कलाकक्ष दोनों ही भूमियों पर आपने अपनी कल्पना को सक्रिय किया है। महादेवी जी अत्यंत भावप्रवण तथा संवेदनशील कवयित्री हैं, जिन्होंने छायावाद को अपनी भावप्रवणता द्वारा सर्वाधिक संपन्न किया है। छायावाद के अन्य कवियों में रामकुमार वर्मा, केदारनाथ मिश्र, सुमित्राकुमारी सिन्हा आदि के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रगतिवादी कवि :

प्रगतिशील कविता के प्रमुख रचयिताओं में रामविलास शर्मा, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, रांगेय राघव आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रयोगवादी कवि :

प्रयोगवाद के प्रवर्तन का श्रेय हिंदी के प्रमुख कवि तथा कथाकार श्री अज्ञेय को दिया गया है। मुक्तिबोध की कविता में प्रयोगवाद और प्रगतिवाद और प्रगतिवाद का रासायनिक मिश्रण है। वे एक ही साथ प्रयोगवादी भी हैं और प्रगतिवादी भी। प्रयोगवादी कवियों के अंतर्गत शमशेरबहादुर सिंह, भवानीप्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, कुँवरनारायण, रघुवीरसहाय, केदारनाथ सिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियाँ :

क्रमात्मक प्रवृत्यात्मक विकास :

इस काल के साहित्य में चित्रित क्रमात्मक प्रवृत्तियाँ आगामी हिंदी-साहित्य में क्रमश: उत्तरोत्तर विकसित हुईं। आदिकाल के साहित्य में नारी के प्राकृत शृंगार से लेकर उसके मानसिक सौंदर्य तक पहुँचाने की प्रवृत्ति प्रबल वेग से उभरी।

प्रकृति-निरूपण :

इस काल के साहित्य में वस्तु-वर्णन के अंतर्गत प्रकृति-चित्रण की दोनों पद्धतियों–आलंबन व उद्दीपन को अपनाया गया। इसके अतिरिक्त उक्त साहित्य में कहीं पर प्रकृति-वर्णनों की परिगणन शैली भी दृष्टिगोचर होती है। इस साहित्य के प्रणेता ने विभिन्न प्राकृतिक वर्णनों के साथ मानव-जीवन की रागात्मकता का भी कलात्मक अभिव्यंजन किया है।

भक्तिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियाँ :

भक्ति की प्रधानता :

इस काल की चारों काव्यधाराओं अर्थात् संत, प्रेम, राम तथा कृष्ण साहित्य में

ईश्वरोपासन के लिए भक्ति पर समान बल दिया गया है। यद्यपि कबीर के ईश्वर निराकार हैं और वे ज्ञानगम्य हैं, किंतु भक्ति के बिना उसकी प्राप्ति नहीं होती। भक्ति ज्ञान का प्रमुख साधन है।

बहुजनहिताय :

भक्तियुग में रचित साहित्य की सर्वप्रमुख विशेषता बहुजनहित-संपादन रहा है। भक्ति की शाखाओं में सदाचार तथा नैतिक भावना पर यथेष्ट बल दिया गया है। अनुभावाश्रयी निर्गुण साहित्य व्यक्तिगत उत्कर्ष के साथ चिरंतन आध्यात्मिक प्रेरणा देता रहा है। रामभक्ति काव्य ने सदाचार, नैतिक भावना तथा वैयक्तिक अभ्युत्थान के साथ तत्कालीन प्रबुद्ध जनता के लिए रावणत्व पर रामत्व की विजय प्रदर्शित कर आत्मनिरीक्षण तथा परिस्थिति-परीक्षण का अवसर प्रदान किया।

वीरकाव्यों की रचना :

यद्यपि भक्तिकाल में धार्मिक काव्यों की प्रमुखता रही है, किंतु इसमें वीरकाव्यधारा भी निरंतर चलती रही है। तुलसी तथा जायसी ने अपने प्रबंधकाव्यों में प्रसंगवश वीररस का उल्लेख किया है।

रीतिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियाँ :

लक्षण-ग्रंथों का निर्माण :

रीतिकाल में कवि-कर्म और आचार्य-कर्म साथ चलते रहे। रीतिमुक्त कवियों को छोड़कर प्राय: इस काल के सभी कवियों ने लक्षण-ग्रंथों का निर्माण किया।

विविधमुखी साहित्य :

रीतिकाल भारतीय संस्कृति और साहित्य का पुनरुत्थान काल है। इस युग में ज्ञान-संग्रह के रूप में अनेक विषयों से संबद्ध ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, रमल शालिदोत्र, राजनीति, पाकशास्त्र, सुरापान, संगीतशास्त्र आदि का निरूपण है।

आधुनिक हिंदी-साहित्य की प्रवृत्तियाँ :

पुनर्जागरण युग का साहित्य बहुत हद तक आधुनिककाल का संधि साहित्य है। इसमें प्राचीन युग के साहित्य का उद्देश्य प्राचीन की रक्षा करते हुए भी आगे बढ़ना है। स्वच्छंदतावाद युग काव्य में छायावाद का युग है। भाषा, भाव और शिल्प-विधान की दृष्टि से यह काल प्रौढ़तम काल है। इस युग का साहित्य अनुभूति में भी भक्तिकालीन साहित्य की समकक्षता में आता है और कलात्मकता में रीतियुग की तुलना में आता है। उत्तर-स्वच्छंदतावाद युग में हिंदी-साहित्य की आधुनिक परंपरा का यथेष्ट परिमार्जन तथा विकास हुआ। विशेषत: कविता, आलोचना और कथा-साहित्य में इस युग में प्रौढ़ता आई।

डॉ॰ बच्चनसिंह कृत 'आचार्य शुक्ल का इतिहास पढ़ते हुए'

डॉ॰ बच्चनसिंह का कहना है कि आचार्य शुक्ल का इतिहास-लेखन उनकी लंबी साहित्य-साधना या प्रयत्नपक्ष की फलश्रुति है। इतिहास-लेखन का कार्य शुरू करने के पहले वे मनोवैज्ञानिक निबंध, सूर, तुलसी और जायसी की भूमिकाएँ, विश्वपंच, बुद्धचरित काव्य शास्त्रीय निबंध आदि लिख चुके थे। 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' इन्हीं की रासायनिक परिणति है। यह ऐसा ज्योतिस्तंभ है, जिसके प्रकाश में संपूर्ण हिंदी के जातीय साहित्य के अंतर्विरोध,

जिसमें उनका अपना अंतर्विरोध भी शामिल है, प्रगति और परपंरा, भाषायी विकास और जीवन के गत्यात्मक पहलुओं को संश्लेषित देखा जा सकता है।

डॉ॰ बच्चनसिंह कृत 'आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास'

आधुनिक होने की प्रक्रिया का आरंभ 1857 से होता है। आधुनिक शब्द दो अर्थों की सूचना देता है—मध्यकाल से भिन्नता की और नवीन इहलौकिक दृष्टिकोण की। मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और एकरस हो चुका था। एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उसे तोड़कर गत्यात्मक बनाया। मध्यकालीन जड़ता और आधुनिक गत्यात्मकता को साहित्य और कला के माध्यम से समझा जा सकता है। रीतिकाल की कला और साहित्य, अपने-अपने काव्य, अलंकृति और शैली में एकरूप हो गए थे। वे घोर श्रृंगारिकता के बँधे घाटों में बह रहे थे। इनके छंदों में न वैविध्य था और न विन्यास में। एक ही प्रकार के छंद एक ही प्रकार के ढंग। आधुनिक काल में बँधे हुए घाट टूट गए और जीवन की धारा विविध स्रोतों में फूट निकली। साहित्य मनुष्य के बृहत्तर सुख-दुःख के साथ पहली बार जुड़ा।

आधुनिक शब्द से जो दूसरा अर्थ ध्वनित होता है वह है, इहलौकिक दृष्टिकोण। धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र आदि सभी के प्रति नए दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। मध्यकाल में पारलौकिक दृष्टि से मनुष्य इतना अधिक आच्छन्न था कि उसे अपने परिवेश की सुध नहीं थी, पर आधुनिक युग में मनुष्य अपने पर्यावरण के प्रति अधिक सतर्क हो गया। आधुनिक युग की पीठिका के रूप में इस देश में जिन दार्शनिक चिंतकों और धार्मिक व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ, उनकी मूल चिंताधारा इहलौकिक ही है। सुधार-परिष्कार, अतीत का पुनराख्यान नवीन दृष्टिकाण का फल है। आधुनिक युग की ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है कि साहित्य की भाषा ही बदल गई। ब्रजभाषा की जगह खड़ीबोली ने ले ली।

डॉ॰ बच्चनसिंह एक सफल आलोचक और साहित्यकारों की कोटि में आते हैं। इन्होंने हिंदी-साहित्य इतिहास के कालों की प्रामाणिकता और कालों की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक प्रवृत्तियों की ओर भी विशेष ध्यान दिया है। डॉ॰ बच्चनसिंह ने आदिकाल को अपभ्रंशकाल कहा है और काव्य के साथ गद्य पर भी बेबाकी से विचार किया है। हिंदीभाषा, जाति और साहित्य इन तीनों को अपभ्रंशकाल में रखा है। अपभ्रंशकाव्य और हिंदी-अपभ्रंश की रचनाओं को अपनी लेखनी में लिया। श्रृंगार और वीर-दर्पपूर्ण काव्य को रासोकाव्य में लिया। हिंदी के भक्तिकाल का विवेचन अखिल भारतीय भक्ति-आंदोलन के संदर्भ में किया गया है। भक्ति के उदय के कारणों पर भी नई दृष्टि से विचार किया गया है। भक्तिकाल में भी सगुण काव्यधारा और निर्गुण काव्यधारा के कवियों और उनकी कृत्तियों को प्रामाणिक और अप्रामाणिक सिद्ध करने की कोशिश की। निर्गुण काव्यधारा में संतकाव्य, सिक्ख गुरुओं की भक्ति, सूफ़ीकाव्य को प्रस्तुत किया और सगुण काव्यधारा में आलवार, सगुण-निर्गुण का द्वंद्व, कृष्ण भक्तिकाव्य, अष्टछाप के कवि, रामभक्ति काव्य और अन्य कवियों का व्यक्तित्व और कृतित्व प्रस्तुत किया।

इतिहास का सबसे मौलिक अंश रीतिकाल का विवेचन है, जिसमें हिंदी के रीतिकाव्य के साथ ही उर्दू के रीतिकाव्य का भी समावेश कर लिया गया है। इसके अलावा रीतिकाव्य में विभाजन-विवेचन में भी इतिहासकार के नए सोच के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। रीतिकाल में भी सामंती विचारधारा और रीतिकाल के कवियों के व्यक्तित्व, कृतित्व को भी प्रस्तुत किया।

आधुनिककाल का आरंभ 1857 के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम से मानते हुए लेखक ने इस काल का उपविभाजन 'नवजागरण युग' स्वच्छंदतावाद युग तथा उत्तर स्वच्छंदतावाद युग के नाम से किया है। उत्तर-स्वच्छंदतावाद युग के अंतर्गत प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता और उत्तर-आधुनिकतावाद का विवेचन मिलता है। गद्य-साहित्य का विवचेन करते समय लेखक ने हिंदी-साहित्य के आदिकाल से ही गद्य की विकास-परंपरा को रेखांकित किया है। 'हिंदी-साहित्य का दूसरा इतिहास' ग्रंथ इतिहास की धारावाहिक निरंतरता के साथ ही हिंदी के प्रमुख साहित्यकारों और साहित्यिक कृतियों का मौलिक दृष्टि से मूल्यांकन प्रस्तुत करता है।

डॉ॰ बच्चनसिंह ने अपने निजी दृष्टिकोण तथा साहित्यिक समझ के आधार पर इसमें ऐसा बहुत कुछ नया जोड़ा है, जो इस कृति को सच्चे अर्थों में हिंदी-साहित्य का विशिष्ट इतिहास प्रमाणित करता है।

इस प्रकार डॉ॰ बच्चनसिंह ने अपने साहित्य में नए मूल्यों को और नई विचारधारा को जोड़ा और अपनी सूझबूझ से नए तथ्यों के आधार पर हिंदी-साहित्य इतिहास को एक नई दिशा दिखाई। इन्होंने अपने साहित्येतिहास-लेखन में नए संस्करणों में से कुछ पुरानी बातों को बदल दिया। डॉ॰ बच्चनसिंह के इतिहास को पढ़ने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इनकी ऐतिहासिक दृष्टि काल्पनिक नहीं, बल्कि यथार्थवादी है, क्योंकि इन्होंने हिंदी साहित्येतिहास के कालों का और कवियों के व्यक्तित्व, कृतित्व और आधुनिककाल के छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद का वर्णन बड़े ही सरल और स्पष्ट ढंग से किया है। इस प्रकार डॉ॰ बच्चनसिंह हिंदी-साहित्येतिहासकारों की उच्च श्रेणी में आते हैं।

संदर्भ

1. रूपचंद पारीक, हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन (सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, सं. 1972), पृ॰ 68
2. सुमनराजे, साहित्येतिहास : संरचना और स्वरूप, (ग्रंथायन, कानपुर, सं. 1975), पृ॰ 302
3. जार्ज ग्रियर्सन, हिंदी-साहित्य का प्रथम इतिहास (अनु. किशोरीलाल गुप्त), हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी), पृ॰ 8
4. विजय शुक्ल, साहित्येतिहास सिद्धांत एवं स्वरूप, (स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम सं. 1978), पृ॰ 40
5. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी-साहित्य का इतिहास (काशी नागरी प्रचारिणी, बनारस, संवत् 2025), पृ॰ 3
6. ई॰एच॰ कार, इतिहास क्या है? (मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया, दिल्ली, 1972), पृ॰ 39
7. नामवरसिंह, इतिहास और आलोचना, (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1978), पृ॰148
8. डॉ॰ बच्चनसिंह, साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1984), भूमिका

❒ हिंदी विभाग,
भागसिंह खालसा कालेज फार वीमन,
काला टिब्बा, तह॰ अबोहर (फिरोजपुर) पंजाब

तुलसीदास का जीवन-दर्शन

डॉ॰ शिवशंकर लधवे
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
सीताबाई कला महाविद्यालय, अकोला (महाराष्ट्र)

क्या तुलसी दार्शनिक थे? तुलसी के दार्शनिक सिद्धांतों के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। रामदास गौड़ गोस्वामी जी को स्मार्त वैष्णव एवं अटल भक्त तो मानते हैं, पर दार्शनिक नहीं। डॉ॰ बलदेवप्रसाद मिश्र का मत है कि 'तुलसी ने कोई नई बात कहने का दावा नहीं किया और जो कुछ कहा श्रुति-सम्मत ही कहा है—उनकी नवीनता उपर्युक्त विषय के संग्रह तथा अनुपयुक्त विषय के त्याग में थी।' डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त कहते हैं कि 'तुलसी को जो कुछ अध्यात्मरामायण से सिद्धांत रूप में मिला, प्रायः उसी का उन्होंने तर्कसंगत विकास किया।' आचार्य रामचंद्र शुक्ल की दृष्टि में तुलसी की आस्था पारमार्थिक सत्ता में थी। डॉ॰ श्यामसुंदर दास जी को तुलसी दार्शनिक प्रतीत होते हैं। डॉ॰ श्रीकृष्णलाल के अनुसार तुलसी संत और महात्मा थे, दार्शनिक नहीं, जबकि डॉ॰ शंभुनाथसिंह का विचार है कि तुलसी कोरे कवि ही नहीं, दार्शनिक भी हैं। प्रो॰ बारान्निकोव की दृष्टि में तुलसी किसी दार्शनिक तंत्र के प्रवर्तक या आचार्य न होकर प्रधानतः भक्त हैं।

कवि तुलसी मूलतः एक भक्तकवि थे। उनके जीवन और साहित्य की संपूर्ण साधना, अपने आराध्य श्रीराम की स्तुति करना, उनके शील-शक्ति-सौंदर्य की महिमा का प्रतिपादन करना, उनकी कृपालुता, भक्तवत्सलता का वर्णन करना, उनके रक्षक-रूप के प्रति अटूट विश्वास व्यक्त करना आदि एक ही उद्‌देश्य से प्रेरित रही है। कवि की मूल स्थापना यह रही है कि उसके आराध्य श्रीराम ईश्वर के अवतार हैं। अयोध्याकांड का एक पद लीजिए, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उनके राम भगवान विष्णु के अवतार हैं—

> नाम अजामिल-से खल कोटि अपार नदी-भव बूढ़त काढ़े।
> जो सुमिरे गिरि-मेरु सिला-कन होत, अजाखुर वारिधि बाढ़े।
> तुलसी जेहिके पद-पंकज तें प्रगटी तटिनी जो हरै अघ गाढ़े।
> सो प्रभु स्वै सरिता-तरिवे कहँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े।
>
> —कवितावली, अयोध्याकांड/5

उत्तरकांड में कवि ने कई स्थलों पर राम की कृपालुता, रामप्रेम, नाम पर विश्वास और नाम की महिमा का वर्णन किया है। साथ ही तुलसी ने चित्रकूट, सीतावट, तीर्थराज प्रयाग का गुणगान और सजीव चित्रण किया है, क्योंकि ये सारे स्थान उनके आराध्य श्रीराम से जुड़े हुए हैं। जब भक्त अपने आराध्य की भक्ति में लीन होता है तो उसे सब तरफ़ आराध्य ही

दीखता है। आराध्य से जुड़ी वस्तुएँ, स्थान, व्यक्ति सभी आकर्षक लगते हैं।

तुलसी के पूर्व ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रसिद्ध संत-कवि कबीर का प्रबल स्वर गूँजा था। परंतु वह आगे चलकर भारतीय संस्कारों से रँगे शाखा के सगुणोपासक कवि सूर की वाणी की सरसता में भारतीयजन भाव-विभोर हो गए। अनंतर महाकवि तुलसी रामकाव्य लेकर जनता के समक्ष उपस्थित हुए। सूर और तुलसी दोनों समुणोपासक कवियों की अमृतवाणी ने 'भक्तिकाल' को स्वर्णकाल की विशेषता से विभूषित कर दिया। रामाश्रयी शाखा के इस महाकवि को भारत में जो ख्याति प्राप्त हुई, उसकी तुलना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। तुलसी का मन निर्गुण-निराकार ब्रह्म के प्रति आकृष्ट नहीं होता। कवितावली ही नहीं, अपितु उनके समूचे साहित्य में निर्गुण ब्रह्म की तुलना में सगुण ब्रह्म अर्थात् श्रीराम की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। उनका विश्वास है कि निर्गुण ब्रह्म की उपासना शुष्क ज्ञान का विषय है। आचार्य शुक्लजी ने भक्ति को श्रद्धा और प्रीति का योग बताया है। भक्ति के लिए प्रभु को साकार होना आवश्यक है। निराकार से प्रीति कैसे हो सकती है?

तुलसी ने ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, अज, अनादि, घट-घटव्यापी आदि तो माना है, पर साथ ही उसे सगुण और साकार भी कहा है। मानस के उत्तरकांड में इस विषय पर कवि ने सूक्ष्म विचार व्यक्त किया है। ईश्वर ही कारण, उपदान कारण और निमित्त कारण सब-कुछ है। ईश्वर ही से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है। अतएव ईश्वर कारण है, और जगत कार्य है। कार्य कारण से भिन्न अथवा विजातीय नहीं होता। निमित्त कारण उसे कहते हैं, जिसकी सहायता से कार्य की उत्पत्ति होती है। घट के बनते में कुम्हार को चक्र आदि की सहायता अपेक्षित है। उपादान कारण मिट्टी है। वेदांत के अनुसार इस जगत की उत्पत्ति में परमात्मा स्वयं ही उपादान और निमित्त कारण है, इसीलिए उसे अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहा जाता है। जीव का ईश्वर के साथ अखंड संबंध चला आ रहा है, और उससे कोई भी जीव किसी प्रकार अलग नहीं हो सकता, क्योंकि जीव ईश्वर ही का अंश है। एक उर्दू कवि का कथन है–'ख़ुदा की हस्ती है मुझसे साबित, ख़ुदा न होता तो मैं न होता।' ईश्वर की तरह जीवन भी चैतन्यरूप और आनंदरूप है। तुलसी के शब्दों में ...

'ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख रासी। इसी तरह 'विनय पत्रिका' में दर्शनविषयक निम्न पद देखिए–

केसब, कहि न जाइ का कहिये।
देखत तब रचना विचित्र हरि, समुझि मनहिं मन रहिये।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सों आपन पहिचानै।

–विनयपत्रिका-111

आशय यह है कि तत्त्वत: तुलसी ने ब्रह्म और जीव को एक ही माना, किंतु सरलता और सुविधा के ख़्याल से भक्ति पर उनका विशेष ज़ोर है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद से उनका मत भिन्न है। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद से कवि प्रभावित है। जहाँ वे ज्ञान और भक्ति को समान मानते हैं, वहाँ वे भक्ति का विशेष पक्ष लेकर श्रेष्ठ प्रमाण उपस्थित करते हैं। वे एक जगह लिखते हैं कि–

भक्तिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव-संभव खेदा।

–रामचरितमानस-7/115/7

वहीं अन्यत्र यह प्रतिपादित करते हैं कि ज्ञान का प्रकाश दीपक का प्रकाश है, जो विषय-वासना की तेज़ हवा से बुझ सकता है, पर भक्ति का प्रकाश चिंतामणि का प्रकाश है, जिसे कोई हवा या वर्षा बुझा नहीं सकती। माया का ज़ोर पुल्लिग ज्ञान पर चल सकता है पर भक्ति और माया दोनों समलिंगी हैं। अत: उन्हीं के शब्दों में...

मोहे न नारि नारि के रूपा,
पन्नगारी यह चरित अनूपा।

तुलसीदास सगुणमार्गी वैष्णव कवि हैं। उन्होंने भक्ति के आगे मोक्ष को भी ठुकरा दिया। उनकी भक्ति शुद्ध दास्य-भक्ति है। सेव्य-सेवक भाव की पुष्टि उन्होंने पग-पग पर की है। भारतीय जनमानस आदिकाल से ही धर्म-भीरू और अध्यात्म-प्रवण रहा है। तुलसीदास जी वेदशास्त्र-पारंगत पंडित और प्रतिभा के धनी कवि थे। उनके दार्शनिक विचारों पर अनेक महान ग्रंथों की छाप मिलती है। साथ ही वे हर क्षेत्र में विश्वविख्यात समन्वयवादी महापुरुष थे। समन्वयवाद की विराट चेष्टा ने ही उन्हें भारत का महान लोकनायक बनाया। एक विद्वान ने अपना मत व्यक्त किया है कि महात्मा बुद्ध के बाद तुलसी से बढ़कर दूसरा लोकनायक भारत में नहीं हुआ। अत: दार्शनिक क्षेत्र में भी कवि का समन्वयवादी रूप स्पष्ट झलक रहा है। 'जगत मिथ्या ब्रह्मसत्य' वाला अद्वैतवादी तत्त्व भी उनके काव्य में है, तो विशिष्टाद्वैतवादी विचारों की प्रधानता भी प्रधान रूप से काव्य में वर्णित है। शायद उनका प्रबल मत यह है कि कोई भी दार्शनिक सिद्धांत ईश्वर के रहस्य को समझने में असमर्थ है, इसलिए बुद्धिवाद के तर्क-जाल में उलझना बेकार है। भक्ति भी सीधा-सादा राजमार्ग है। नाम-स्मरण ही सबसे सरल-सहज और सुलभ साधन है। इसलिए वे 'केशव कहि न जाई का कहिये' इस पद का समापन निम्न पंक्ति से करते हैं–

तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो अपनि पहिचानै।

जगत के संबंध में सत्य, असत्य और सत्यासत्य कहना केवल भ्रम है। द्वैत-अद्वैत, विशिष्टाद्वैत या द्वैताद्वैत आदि के चक्रव्यूह से साधक के हाथ कुछ लगने वाला नहीं है। क्योंकि दुर्लभ मानव-जीवन क्षण भंगुर है, अत: विविध तात्त्विक प्रयोगों में यह अल्प काल का मानव कब तक अपना अमूल्य समय व्यय करेगा? उर्दू शायर की यह पंक्ति ज्ञातव्य है 'रात थोड़ी है मगर स्वांग बहुत है' बेहतर यही है कि अपने इस छोटे-से जीवन को, वह रामनाम-स्मरण द्वारा सत्कर्मरत रहकर भक्ति की भगीरथी में अवगाहन करके सफल बना ले। तुलसीदास जी तो यहाँ तक कहते हैं कि मोक्ष माँगकर या नर से नारायण बनकर इस अपार ब्रह्मांड चक्र के संचालन का दु:सह भार क्यों मोल लूँ?

अब यहाँ हम द्वैत-अद्वैत आदि का संक्षेप में स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करते हैं। ईश्वर, जीव और जगत तीनों को एक मानना या अभेद स्थापित करना 'अद्वैतवाद' कहलाता है। जहाँ ब्रह्म और जगत् अथवा ब्रह्म और जीव भिन्न माना जाता है, वह द्वैतवाद है। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानंद ने तो द्वैतवाद भी माना है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने स्पष्ट किया है कि ब्रह्म, जीव और जगत तीनों–अज, अनादि और सनातन हैं। तीनों का कभी

तिरोभाव नहीं होता। जगत भी केवल परिवर्तित होता है, पर नष्ट नहीं होता। ईश्वर केवल कर्तारूप है। वह जगत और जीव के मेल से सृष्टिचक्र का निर्माण और संचालन करता है। सारांश रूप में हम यही कह सकते हैं कि ये तमाम वाद एकाकी और उलझन में डालनेवाले हैं। तुलसी का भक्तिमार्ग ही राजमार्ग है और उनकी भक्ति सेव्य-सेवकभाव, दास्यभाव की है। यहाँ उनके भक्तिभाव का विवेचन संक्षेप में दिया जा रहा है।

तुलसीदास की भक्ति-भावना में हृदय और मस्तिष्क के व्यापार का समन्वय देखने में आता है। उन्होंने भक्त भ्रमरों के लिए अपनी कृति-वाटिका में भाव-कलिकाओं द्वारा अनुराग और प्रेम-मकरंद की जो धारा प्रवाहित की है, उसको पान कर आज भी भक्ति रसरसिक, परितृप्त होते हैं। श्रीरामतत्त्व मर्मज्ञ गोस्वामी जी का प्रादुर्भाव जब भारत में हुआ, उस समय निराशा का निबिड़ अंधकार छाया हुआ था। जनता उस अंधकार में इधर-उधर भटक रही थी। वह किसी स्थाई अवलंब को खोज रही थी। ऐसे समय तुलसी-शशि ने प्रकट होकर सारा नैराश्य-अंधकार दूर कर दिया। राम एकदेशीय राम नहीं, बल्कि 'जड़ चेतन जग जीव जित, सकल राममय जानि'। कवि तुलसी कहते हैं कि राम के भक्त चार प्रकार के हैं– जिज्ञासु, अर्थार्थी, आर्त, ज्ञान या मोक्षार्थी। ये चारों ही पुण्यात्मा और उदार हैं। इन सभी लोगों को केवल नाम ही का आधार है।

चहू चतुर कहँ नाम अधारा, काली विसेषि नहिं आत उपाऊ।

भागवत में नवधा भक्ति का उल्लेख मिलता है, जो श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, पाद-सेवन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन के रूप है। तुलसी ने भी क्रम बदलकर उक्त नवधा भक्ति का उल्लेख किया है। 'हनुमान संहिता' में पाँच प्रकार की भक्ति वर्णित है–शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। गोस्वामी जी की भक्ति-पद्धति में सात भूमिकाओं का वर्णन है–दैन्य, मान, अर्पण, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारण। कवितावली में दास्यभक्ति की उक्त सातों भूमिकाओं के दर्शन होते हैं।

(क) दीनता :

इस ग्रंथ के अनेक पदों में दैन्य भाव मिलता है। एक उदाहरण देखिए–

साहिब सुजान जिन खानहु को पच्छ कियो,
रामबोला नाम, हौं गुलाम राम ताहि को।

(ख) मान अर्पण :

भक्त अपने अहंकार का विसर्जन करके ही अथवा अपने अस्तित्व को मिटाकर ही भगवान को पा सकता है। निम्न पद देखिए–

अवनीस अनेक भए अवनी, जिनके डरते सुर सोच सुखाहीं
मानव-दानव-देव-सतावन रावन घाटि रच्यो जग-माहीं।
ते मिलये धरि-धूरि सुजोधनु, जे चलते बहु छल की छाहीं।
वेद-पुरान कहैं, जगु जान, गुमान गोविंदहिं भावत नाहीं।

–कवितावली, उत्तरकांड-132

(ग) भयदर्शन :

'भय बिनु होई न प्रीति' यानी भय के बिना प्रीति नहीं होती। मानव-मन चंचल है।

वह बुराई की ओर सहज ही प्रवृत्त हो जाता है। ठीक राह पर लाने के लिए कभी-कभी भय का प्रयोग भी आवश्यक है। कवितावली का एक पद प्रस्तुत है–

विषया परनारी निसा-तरुनाई सु पाई पर्‍यो अनुरागहि रे।
जम के पहरू दुख, रोग-वियोग बिलोकतहूँ न विरागहि रे।
ममता-बस तैं सब भूलि भयो भोर, महा भय भागहि रे।
जरठाइ–दिसा, रबिकालु उग्यो, अजहूँ जड़ जीव न जगहि रे।

–कवितावली, उत्तरकांड-31

(घ) भर्त्सना :

मन जब एक बार के कहने से नहीं मानता, तब उसकी भर्त्सना भी करनी पड़ती है। उसे भला-बुरा कहकर ठिकाने पर लाना पड़ता है। उदाहरण के लिए निम्न पद में मन को लालची कुत्ता कहकर फटकारा गया है–

नर-देह कहा, करि देखु विचारु, बिगारु गँवार न काजहि रे,
जनि डोलहि लोलुप कूकर ज्यों, तुलसी भजु कोसलराजहि रे।

–कवितावली, उत्तरकांड-30

(ङ) आश्वासन :

प्रभु की दयालुता तथा भक्तवत्सलता पर कवि का पूर्ण विश्वास है। विपत्ति में तो यह विश्वास और भी मजबूत हो जाता है, और भक्त को नई ताक़त मिलती है। यह पंक्ति देखिए–

जहाँ सब संकट, दुर्घट सोचु, तहाँ मेरो साहेब राखे रमैय्या।

इसी प्रकार मनोराज्य और विचारण से संबंधित पद भी कवितावली में प्राप्त हैं। तुलसीदास जी ने अपनी भक्ति का आदर्श चातक को बनाया है। जैसे चातक को स्वाति-जल का ही सहारा है, उसी तरह तुलसी भी राम के प्रति अनन्य एकनिष्ठ भक्ति के प्रार्थी हैं। 'विनय पत्रिका' में उन्होंने सब देवताओं की स्तुति की, पर सबसे यही माँगा है कि उन्हें राम की भक्ति प्राप्त हो। जैसे–

माँगत तुलसिदास कर जोरे,
बसहिं राम-सिय मानस मोरे।

–विनयपत्रिका-1

तात्पर्य यह कि उनकी भक्ति बड़ी ही उच्चकोटि की है। उनको किसी से विरोध नहीं है। वे सबके भक्त हैं। भक्ति से आप्लावित विचार-भावनाएँ जो उन्होंने प्रगट की हैं, उनमें दैन्य, आशा, आत्मसमर्पण, आत्मग्लानि, अनुताप आदि सभी तत्त्व पाए जाते हैं। उनकी साधना में उनके रहस्यवाद में, ज्ञान की नहीं, प्रेम की प्रधानता स्वीकार की गई है। उनकी भक्ति आडंबरविहीन है। उसमें विधिनिषेध की जटिलता नहीं है। यह मार्ग बिलकुल सीधा है।

सूधे मन, सूधे वचन, सूधी सब करतूति,
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुबर, प्रेम-प्रसूति।

–दोहावली-152

उनके राम के विग्रह में 'सत् रज तम्', 'सत् चित् आनंद' या 'सत्यं शिवं सुंदरम्'

की सभी झाकियाँ देखने को मिलती हैं।

भक्ति हृदय से होती है। व्यापार का अर्थ कर्म से है। उनकी भक्ति में हृदय, मस्तिष्क और व्यापार का समन्वय है, अर्थात् वह सब ओर पूर्ण है। गोस्वामी जी रामभक्ति के प्यासे हैं, लेकिन वे अपनी प्यास कभी बुझाना नहीं चाहते, यह प्यास जितनी बढ़ती जाए, उसी में उन्हें आनंद है। जैसे–

चातक तुलसी के मते स्वातिहु पियै न पानि,
प्रेम-तृषा बाढ़ति भली, घटै घटैगी आन।

–दोहावली-279

उनकी निष्ठा सब प्रकार की भक्तियों में थी। वैसे वे दास्यभक्ति के लिए प्रसिद्ध हैं। वे राम के नामरूप तथा भाव के अनन्य उपासक थे। उन्हें स्वर्ग की तरह चाह नहीं है। मुक्ति की कामना भी नहीं है। वे तो चातक की तरह रामरूपी श्यामघन की आशा लगाए हैं–

एक भरोसो, एक बल, एक आस-बिस्वास
एक राम-घनस्याम हित चातक-तुलसीदास।

–दोहावली-277

भक्तप्रवर गोस्वामी जी को किसी दूसरे का भरोसा नहीं है–

जाऊँ कहाँ तजि चरन तिहारे।

अंत में उनके एक पद की कुछ पंक्तियाँ देकर हम इस विषय को समाप्त करते हैं–

भरोसो जाहि दूसरो, सो करो
मोहिं राम को नाम कलपतरु कलि-कल्याण फरो।
करम, उपासन, ग्यान, वेदमत सो सब भाँति खरो।
मोकों सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो।

–विनयपत्रिका-216

कवि का कथन है कि जिसे दूसरे का भरोसा है, वह कैसा करे। पर मेरे लिए तो एक राम नाम कालभय-भंजक तथा सर्वेच्छापूरक कल्पवृक्ष है, जिसमें सब कल्याणफल फलते हैं। यद्यपि कर्म-उपासना और ज्ञान–ये वैदिक सिद्धांत सभी से ठीक और ख़रे हैं। मैं किसी का विरोध नहीं करता या किसी को घट-बढ़कर नहीं बताता। पर मेरी हालत तो उस सावन के अंधे की तरह है, जिसे सब ओर हरा ही हरा नज़र आता है अर्थात् एक राम नाम ही सूझ रहा है। सर्वत्र राम ही राम दिखाई पड़ते हैं 'सीय राममय सब जग जानी। करहूँ प्रनाम जोरि जुग पानी।'

विषय को समाप्त करते-करते यहाँ दर्शन और भक्ति के संबंध में दो-एक बातें स्पष्ट कर देना ज़रूरी समझते हैं। पहली मुख्य बात यह है कि तुलसी ने भक्ति का स्वरूप रागात्मिका रखा है। कहीं भी घर छोड़कर वनवासी बनकर वैराग्य लेने या समाधि लगाने की बात वे नहीं कहते। इसलिए उनका सारा का सारा काव्य जगत और जीवन से संबंधित है। जगत और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने सूक्ष्मता से प्रकाश डाला है। इसलिए हम दावे के साथ कह सकते हैं कि संसार उनके लिए असार या असत्य नहीं था। कविवर ने पूर्ण रस लेकर जीवन की प्रत्येक गतिविधि, प्रत्येक हलचल और प्रत्येक परिस्थिति का सांगोपांग वर्णन किया है। तभी तो उनका

जगप्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' पारिवारिक महाकाव्य का स्थान पा सका है। जीवन में आनेवाली हर समस्या, हर प्रश्न और हर सुख-दुख का उन्होंने आधिकारिक रूप से समाधान किया है। उनकी भक्ति में अहिंसा का भी एकपक्षीय समर्थन नहीं, अपितु अन्याय और अत्याचार के विरोध में खड्गहस्त होकर जोश-ख़रोश के साथ युद्ध करने की वे प्रेरणा देते हैं। कवितावली में भी शील-सौंदर्य के साथ राम के तत्त्व पर अधिक बल दिया गया है। हनुमान जी की अपारशक्ति का उन्होंने मनोयोगपूर्वक बड़ा ही अच्छा वर्णन किया है। इससे स्पष्ट है कि वे भारतीय जनता को धीर-वीर-गंभीर बनाना चाहते थे, शक्तिपूजा उनके काव्य की विशेषता है। ❐

'राधाचरितम्' महाकाव्य में अलंकार

श्रीमती अर्चनाकुमारी
संस्कृत प्रवक्ता
राजकला पी॰डी॰ए॰ गर्ल्स इंटर कालिज, मुरादाबाद (उ॰प्र॰)

'राधाचरितम्' महाकाव्य अत्यंत ज्वलंत विषय को आधार मानकर लिखा गया है। नायिका-प्रधान, महाकाव्यीय समस्त लक्षणों से युक्त, प्रौढ़ एवं सुबोध शैली में सुसंपन्न लोकोपकारी महाकाव्य है। यह महाकाव्य 22 सर्गों के 2339 श्लोकों में समुपनिबद्ध उच्चकोटि महाकाव्य है, जिसके रचयिता विविध शास्त्रनिष्णात डॉ॰ हरिनारायण दीक्षित हैं। श्री दीक्षित जी ने इस महाकाव्य की रचना सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पृहणीय रीति से की है, जिसके फलस्वरूप अलंकारों की यहाँ मनोहर छटा अवलोकनीय है।

काव्य के स्वरूप को प्राय: साहित्यशास्त्रियों ने शब्द और अर्थ का सम्मिश्रण अंगीकार किया है। शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं तो अलंकार उस काव्यरूप शरीर का शोभाकारक तत्त्व है। आलंकारियों ने अलंकार को परिभाषित करते हुए कहा है कि–

'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते'।

'अलंकरोति अलंकार' अर्थात् काव्य को शोभायमान करनेवाला तत्त्व अलंकारपदवाच्य होता है। इसे इस प्रकार सरलतापूर्वक बुद्धिस्थ किया जा सकता है, जैसे–कटक, कुंडल आदि आभूषण शरीर को विभूषित करने के कारण अलंकार कहलाते हैं, उसी प्रकार काव्य को अलंकृत करनेवाले अनुप्रासादि शब्दालंकार और उपमादि अर्थालंकार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को शोभायमान बनाने के कारण अलंकार शब्दबोध्य हैं। ज्ञातव्य है कि काव्य में अलंकार केवल अलंकार्य का उत्कर्षाधायक तत्त्व होता है, स्वरूपाधायक या जीवनाधायक तत्त्व नहीं। जैसे–संसार में जो स्त्री या पुरुष अलंकारविहीन हैं, वे भी मनुष्य हैं, परंतु जिन्होंने सुंदर वस्त्रों के साथ शरीर को शोभा प्रदान करनेवाले अलंकारों को धारण कर रखा है, वे अलंकारहीन जनों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार काव्य में अलंकार की स्थिति अपरिहार्य नहीं है।

आचार्य मम्मट ने काव्य के लक्षण में 'अनलंकृति पुन: क्वापि' [1] लिखकर काव्य में अलंकारों की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। इन्होंने अलंकार को इस प्रकार परिभाषित किया है–

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्,
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय:। [2]

आचार्य विश्वनाथ ने भी अलंकार को परिभाषित करते हुए उन्हें काव्य को शोभा प्रदान करनेवाले तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है–

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा: शोभातिशायिन:,
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्। [3]

उपर्युक्त मत ध्वनिवादी आचार्यों का है, परंतु अलंकार-संप्रदाय के आचार्य तो अलंकार को काव्य का कथमपि अस्थिर धर्म मानना स्वीकार नहीं करते। वे तो इसे अपरिहार्य तत्त्व के रूप में अंगीकार करते हैं। आचार्य जयदेव ने तो अलंकाररहित काव्य की कल्पना करनेवाले (मम्मटादि) से पूछा है कि आप अग्नि को उष्णतारहित क्यों नहीं मानते? यथा–

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती,
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती। [4]

अस्तु, मैंने काव्य के शोभाधायक तत्त्व अलंकार पर अपनी विहंगम दृष्टि संप्रेषित कर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि कवि डॉ॰ हरिनारायण दीक्षित जी ने 'राधाचरितम्' महाकाव्य में किन-किन अलंकारों की योजना को सन्निविष्ट कर उसके उत्कर्ष में वृद्धि की है।

शब्दालंकार तथा अर्थालंकार भेद शब्द के परिवर्तनसहत्व या परिवर्तनासहत्व के ऊपर निर्भर है। जहाँ शब्द का परिवर्तन करके उसका पर्यायवाचक दूसरा शब्द रख देने पर अलंकार नहीं रहता है, वहाँ यह समझना चाहिए कि उस अलंकार की स्थिति विशेष रूप से उस शब्द के कारण ही थी। इसलिए उसे 'शब्दालंकार' कहा जाता है। जहाँ शब्द का परिवर्तन करके दूसरा पर्यायवाचक शब्द रख देने पर भी उस अलंकार की सत्ता बनी रही है, वहाँ अलंकार शब्द के आश्रित नहीं, अपितु अर्थ के आश्रित होता है, इसलिए उसको 'अर्थालंकार' कहा जाता है। इस प्रकार जो अलंकार शब्दपरिवृत्ति को सहन नहीं करता, वह शब्दालंकार और जो शब्द परिवृत्ति को सहन करता है, वह अर्थालंकार होता है। यह शब्दालंकार तथा अर्थालंकार भेद है।

कवि ने महाकाव्य में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का प्रचुर प्रयोग किया है, जो निम्नवत् हैं– शब्दालंकार– 1. अनुप्रास (अ) छेकानुप्रास (ब) वृत्यनुप्रास (स) अन्त्यानुप्रास 2. यमक; अर्थालंकार 3. उपमा (अ) पूर्णोपमा (ब) लुप्तोपमा (स) प्रतीपोपमा; 4. अनन्वय 5. प्रतिवस्तूपमा 6. रूपक 7. उत्प्रेक्षा 8. काव्यलिंग 9. अर्थान्तरन्यास 10. तुल्ययोगिता 11. अतिशयोक्ति 12. अप्रस्तुत प्रशंसा 13. परिसंख्या 14. दृष्टांत 15. निदर्शना 16. विभावना 17. ससंदेह 18. विरोधाभास 19. संकर 20. व्यतिरेक 21. रसाभास।

'राधाचरितम्' महाकाव्य में शब्दालंकार :

1. अनुप्रास अलंकार :

शब्दालंकारों में प्रथमतया परिगणित शब्दवैचित्र्यजनक अनुप्रास स्वर-वर्णों की असमानता नहीं होने पर भी व्यंजन वर्णों की समानता के कारण अवश्य ही काव्य में लालित्य का संचार अनायास कर देता है। ज्ञातव्य है कि वर्णों का साम्य ही अनुप्रास कहलाता है। यथा–
वर्णसाम्यमनुप्रासः। [5]

(अ) छेकानुप्रास :

तं कालियं चापि नियम्य खेलन्
अशोधयंस्त्यं यमुनाजलं यत्।
तत्तूपकारं तव सस्मरन्त्यो
रोमाञ्चमञ्चन्त्यधुनाप्यनेकाः। [6]

प्रस्तुत पद्य के तृतीय पाद के 'न्त्य' वर्ण की चतुर्थ पाद में (न्त्य) आवृत्ति है, तथा चतुर्थ पाद में ही 'ञ्च' की आवृत्ति होने से छेकाप्रास अलंकार सुस्पष्ट है।

वृत्त्यनुप्रास :

अमन्दानन्द सन्दोहं
तदाविन्दत राधिका।
नन्दादिव्रजवासिभ्यो
धन्यवादानदात्पुनः। [7]

प्रस्तुत पद्य में 'न्द' की अनेक बार आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास अलंकार स्वयमेव दृष्टिगोचर है।

2. **यमक अलंकार :**

अर्थ होने पर (भिन्नार्थक) वर्णों की उसी क्रम में पुनरावृत्ति से यमक अलंकार होता है। जैसा कि आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में कहा है–

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः। [8]

यमक :

सायं प्रभातेऽपि सखे! विना त्वां
गावः प्रसीदन्ति न तास्त्वदीयाः।
गोपाल! गोपालनकौशलं ते
मन्ये न विस्मर्त्तुममूः क्षमन्ते। [9]

प्रस्तुत पद्य में 'गोपाल' गोपाल (वर्णों) पदों की क्रमिक उपस्थापना से यमकालंकार है, क्योंकि प्रथम गोपाल का अर्थ कृष्ण तथा दूसरे का उससे भिन्ना गो+पाल गायों का पालन अर्थ किया गया है।

'राधाचरितम्' महाकाव्य में अर्थालंकार

3. **उपमा अलंकार :**

अर्थालंकारों में सर्वप्रथम गणनीय उपमा अलंकार का काव्य में विशिष्ट स्थान दृष्टिगोचर होता है। यह अलंकार दैनिक वार्तालाप में तो अपनी स्थिति अत्यंत प्रबल बना चुका है, संभवतः इसी कारण से लोकजीवन या अलौकिक घटनाओं को आधारण मानकर विरचित काव्यों में इसकी प्रचुरता उपलब्ध होती है। प्रायः सभी महाकवियों ने अपनी लेखनी रूपी तूलिका से उपमारूपी-चित्र को आकृति प्रदान करने का अद्‌भुत प्रयास किया है, परंतु महाकवि कालिदास ने तो जैसे उपमा को मानो अपने विचारों के अधीन कर लिया हो। तभी तो उपमा अलंकार के प्रायोगिक पक्ष में इनसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। अतएव समीक्षकों ने कहा है– उपमा कालिदासस्य

महाकवि कालिदास की भाँति 'राधाचरितम्' महाकाव्य के यशस्वी रचयिता डॉ॰ हरिनारायण दीक्षित जी ने सर्वाधिक उपमा अलंकारों का समुचित प्रयोग प्रदर्शित कर निज काव्य-कला-नैपुण्य का सफल उदाहरण प्रस्तुत किया है। इन्होंने सजीव उपमान, उपमेय, साधारण धर्म एवं वाचक शब्द से उपमा अलंकार का मनोहारी वर्णन किया है।

उपमा :

पिपीलिका शुण्डगतेव हस्तिनं
तुरंगमं कर्णगतेव मक्षिका

सा वेदना शीर्षगता यदूत्तमं
चकार पर्य्याकुलचित्तचिन्तनम्। [10]

जिस प्रकार सूँड में घुसी हुई चींटी हाथी को व्याकुल कर देती है और जिस प्रकार कान में घुसी हुई मक्खी घोड़े को व्याकुल कर देती है, उसी प्रकार सिर में घुसी हुई उस वेदना ने यदुश्रेष्ठ भगवान श्रीकृष्ण को बुरी तरह व्याकुल कर दिया।

प्रस्तुत पद्य में उपमान पिपीलिका, मक्षिका है, वेदना उपमेय पर्य्याकुलत्व साधारण धर्म है तथा 'इव' वाचक शब्द है। अतएव पूर्णोपमा द्रष्टव्य है।

अनन्वय अलंकार :

अन्य उपमान का संबंध न होना ही अनन्वय अलंकार है अर्थात् एक वाक्य में एक ही के उपमान तथा उपमेय होने पर यह अलंकार होता है यथा–

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे अनन्वयः। [11]

'राधाचरितम्' महाकाव्य में सादृश्यमूलक अनन्वय अलंकार का कविवर हरिनारायण दीक्षित ने यथावसर मनोहारी प्रयोग किया है। उदाहरण द्रष्टव्य है–

पुरी द्वारावती चैषा
वासिता भवतेह या।
लोके लोके तुलां नास्या
एषा त्वेषेव शोभते। [12]

और आपने यहाँ समुद्र में यह जो द्वारकापुरी बसाई है, इसकी तुलना मैं इस संसार में नहीं देखती हूँ। यह तो बस इसी की तरह सुशोभित हो रही है।

रूपक अलंकार :

जहाँ उपमेय स्वरूप भित्ति उपमानरूप चित्र से सर्वदा रंजित हो, वहाँ रूपक अलंकार होता है। अर्थात् उपमान एवं उपमेय का अभेदारोप ही रूपक है। आचार्य जयदेव ने चंद्रालोक नामक ग्रंथ में रूपक को परिभाषित करते हुए लिखा है–

यत्रोपमान-चित्रेण सर्वथाप्युपराज्यते।
उपमेयमयी भित्तिः तत्र रूपकमिष्यते। [13]

काव्यप्रकाश में भी आचार्य श्रीमम्मट ने उपमान और उपमेय के अभेद को रूपक माना है–

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।
अतिसाम्यादनपहुत भेदयोरभेदः। [14]

कविवर श्री दीक्षित जी ने 'राधाचरित' महाकाव्य में रूपक अलंकार का प्रचुर प्रयोग किया है। रूपक अलंकार समन्वित पद्य प्रस्तुत है–

या काचिदाशा व्रजभूमिजनां
चित्रेष्वषात्सीत्तव दर्शनस्य।
साप्यद्य नष्टा त्वयि दूरसंस्थे
दुःखाम्बुधौ मङ्क्ष्यति तद्व्रजस्ते। [15]

ब्रजवासियों के मन में तुम्हारे दर्शन की जो थोड़ी बहुत उम्मीद बची थी, वह भी आज तुम्हारे बहुत दूर चले जाने के कारण समाप्त हो गई है। इसलिए हे कृष्ण! अब तुम्हारा यह ब्रज दु:ख के सागर में अवश्य डूब जाएगा।

उत्प्रेक्षा अलंकार :

सादृश्यमूलक उत्प्रेक्षा अलंकार उपमेय की उपमान के साथ (उत्कटैककोटिक) संभावना के कारण होता है। काव्यप्रकाश में उत्प्रेक्षा अलंकार का वर्णन इस प्रकार है–

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। [16]

आलंकारिकों ने उत्प्रेक्षावाचक शब्दों में (मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायो, नूनमित्येकवमादय:'। उत्प्रेक्षावचाक: शब्दा: इवशब्दोऽपि तादृश:। मन्ये (मानना कल्पना), शंके (संदेह या शंका) ध्रुवं (निश्चय), प्राय: नूनं (निश्चय) और सादृश्यबोधक इव का कथन किया है। इव शब्द का प्रयोग क्रिया के साथ होने पर उत्प्रेक्षा अलंकार समझना चाहिए।

'राधाचरितम्' महाकाव्य में प्राप्त उत्प्रेक्षा अलंकारयुक्त पद्य इस प्रकार है–

गावो न वत्सा न तृणं चरन्ति।
त्वामाह्वयन्तीव च रम्भमाणा:।
त्वद्-वेषभूषामपि धारयित्वा
तत्प्रीतये नैव भवन्ति गोपा:। [17]

यहाँ की गौएँ न घास चरती हैं, और न बछड़े घास चरते हैं। ये सभी रंभाते हुए तुम्हें पुकारते से रहते हैं। यहाँ के ग्वाले तुम्हारी वेषभूषा को धारण करके भी इन्हें प्रसन्न नहीं कर पाते हैं।

प्रस्तुत पद्य उत्प्रेक्षा अलंकार का सुंदर उदाहरण है, क्योंकि 'आह्वयन्तीव' क्रिया-पद में इव का प्रयोग क्रिया के साथ किया गया है और गायों के द्वारा कृष्ण को रंभाकर बुलाने की संभावना दृष्टिगोचर हो रही है।

अर्थान्तरन्यास अलंकार :

सामान्य का विशेष के द्वारा और विशेष का सामान्य के द्वारा जो समर्थन किया जाता है, वह अर्थान्तरन्यास अलंकार साधर्म्य-वैधर्म्य भेद से दो प्रकार का होता है–

सामान्य वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यास: साधर्म्येणेतरेण वा। [18]

'राधाचरितम्' महाकाव्य में प्रयुक्त अर्थान्तरन्यास अलंकार का उदहारण प्रस्तुत है–

व्रजऽपि मातश्च तवैव सूनुना।
समूलकं कंसभयं समापितम्।
एतेन नूनं तव वर्धते यश:
माता सुपुत्रेण सदा महीयते। [19]

और हे मात:! आपके ही पुत्र ने यहाँ व्रज में भी कंस के भय को समूल नष्ट कर दिया था। इससे निश्चय ही आपका यश बढ़ा है। अच्छे पुत्र से हमेशा ही माता की प्रतिष्ठा बढ़ती है।

यहाँ 'तव वर्धते यश:' विशेष वाक्य का 'माता सुपुत्रेण' सदा महीयते, इस सामान्य

वाक्य से समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार सुस्पष्ट है।

विभावना अलंकार :

कारण का निषेध होने पर भी, फलोत्पत्ति होने पर विभावना अलंकार होता है–

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना।[20]

विभावना अलंकार का प्रयोग कविवर ने इस प्रकार से किया है–

त्वां कृष्ण! नूनं वसुदेवसूनुं
ज्ञात्वापि मत्वापि च देवकीजम्।
वात्सल्य सिन्धवानयोरनन्ते
न्यूनत्वमायातमहो न किञ्चिद।[21]

हे कृष्ण! उन्हें निश्चय ही देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुआ वसुदेव-पुत्र जानकर और मानकर भी इन दोनों के वात्सल्य के अनंत समुद्र में आश्चर्य है कि तुम्हारे लिए ज़रा भी कमी नहीं आई है।

प्रस्तुत पद्य में कृष्ण का नंद-यशोदा पुत्र कारण न होने पर भी वात्सल्यरूप कार्य की अर्थात् फल की उत्पत्ति है। अतः विभावना अलंकार दर्शनीय है।

ससंदेह अलंकार :

जिस स्थल पर उपमेय में उपमान से संशय किया जाए या प्रकट होवे, वहाँ ससंदेह अलंकार होता है–ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः।[22]

'राधाचरितम्' महाकाव्य में ससंदेह अलंकार का प्रयोग इस पद्य में सुस्पष्ट है। यथा–

दृष्ट्वा जनास्तामनुभावशालिनी
मित्थं स्वचित्तेऽचकथंस्तदाध्वगाः।
उमा रमा वा किमियं शची शुभा
देवाङ्गनाभिस्सह याति भूतले।[23]

उस समय राह चलने वाले लोगों ने उन प्रभावशाली श्रीराधा जी को देखकर अपने मन में इस प्रकार कहा कि देवांगनाओं के साथ पृथ्वी पर क्या यह इंद्राणी जा रही हैं? या क्या यह देवी पार्वती जा रही हैं? या फिर क्या यह सबका कल्याण करनेवाली साक्षात् देवी लक्ष्मी जा रही हैं।

श्री राधा जी को देखकर उमा, रंभा और शची का संदेह होने से ससंदेह अलंकार है।

'राधाचरितम' महाकाव्य में अलंकार-योजना पर एक विहंगम दृष्टि :

'राधाचरितम' महाकाव्य में प्रायः शब्दालंकार और अर्थालंकार का यथोचित एवं प्रचुर प्रयोग हुआ है। मनीषी कवि ने जहाँ एक ओर अनुप्रास की छटा बिखेरी है, वहीं यमक का भी सुंदर चित्रण प्रस्तुत किया है। एक ओर तो उपमा की पद्यावली निराली है तो दूसरी ओर अनन्वय, प्रतिवस्तूपमा, रूपक के पद्यों को देखते ही चित्त आनंदमग्न होने लगता है। कहीं कवि ने गायों के रंभाने को कृष्णाह्वय की संभावना कर उत्प्रेक्षा अलंकार को जीवंतता प्रदान की है तो कहीं काव्यलिंग और आर्थान्तरन्यास का सजीव उपस्थापन कर अपनी काव्य-प्रतिमा का अद्भुत परिचय दिया है। तुल्ययोगिता, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा ने तो महाकाव्य को मानो

अद्वितीयता प्रदान करने की ठान ली है।

ब्रजवासियों के शांत, सुखदायी जीवन-यापन का वर्णन कर (जहाँ ध्वजा में कंपन), हस्ति में मद और धनुष की डोर (गुण) का कर्तन न कि ब्रजनिवासियों में महाकाव्य को परिसंख्या अलंकार से सजा डालना कवि की आलंकारिकी क्षमता का परिचय देता है। दृष्टांत, निदर्शना और विभावना अलंकार के पद्य सहृदय संवेद्य ही नहीं, अपितु अहृदयजन संवेद्य से भी प्रतीत हो रहे हैं।

ससंदेह अलंकार तो मानो अपने लक्षण को पुष्ट कराने हेतु महाकाव्य में अनायास ही प्रविष्ट हो गया है। जहाँ श्रीराधा को देखकर उनमें शची, रमा और उमा का संदेह ब्रजवासियों को होने लगता है।

'राधाचरितम' महाकाव्य में विरोधाभास, संकर, व्यतिरेक अलंकारों का सुंदर प्रयोग भी द्रष्टव्य है। कवि हरिनारायण दीक्षित जी ने कतिपय बुधसम्मत रसाभास अलंकार को भी इस पवित्र महाकाव्य में स्थान देकर अपनी आलंकारिक भावना का सफल उदाहरण अवस्थापित किया है।

संदर्भ

1. काव्यप्रकाशः, आचार्य मम्मटः, 1/1
2. तत्रैव, 8/67
3. साहित्यदर्पणम्, आचार्य विश्वनाथ, 10/1
4. चंद्रालोकः, आचार्य जयदेव, 1/8
5. काव्यप्रकाशः, 9/103
6. राधाचरितम्, डॉ॰ हरिनारायण दीक्षित, 1/37
7. तत्रैव, 3/273
8. काव्यप्रकाशः, 9/116
9. राधाचरितम्, 1/28
10. तत्रैव, 13/2
11. काव्यप्रकाश, 10/134
12. राधाचरितम्, 18/46
13. चंद्रालोकः, 5/18
14. काव्यप्रकाशः, 10/138
15. राधाचरितम्, 1/57
16. काव्यप्रकाशः, 10/136
17. राधाचरितम्, 1/27
18. काव्यप्रकाशः, 10/164
19. राधाचरितम्, 2/4
20. काव्यप्रकाशः, 10/16
21. राधाचरितम्, 1/6
22. काव्यप्रकाशः, 10/92
23. राधाचरितम्, 16/6

पृथ्वी पर हिंदू-सभ्यता की प्रागैतिहासिकता : तथ्य एवं प्रमाण

हर्षिता शर्मा, शोधछात्रा
इतिहास विभाग, आर॰जी॰ (पी॰जी॰) कालेज, मेरठ (उ॰प्र॰)

पृथ्वी की आयु का अनुमान अरबों-खरबों वर्षों में ही लगाया जा सकता है। इस अवधि में उसके धरातल पर जो मानव-सभ्यताएँ पनपीं, उनमें हिंदू-सभ्यता सबसे प्राचीन थी। अपने दीर्घकालीन अस्तित्व में इस महान सभ्यता ने अन्य अनेक सभ्यताओं का उत्थान और पतन देखा है। राष्ट्रों का अभ्युदय और अवसान होता रहा; जातियाँ उदय और अस्त होती रहीं, परंतु हिंदू-सभ्यता हज़ारों वर्षों तक सुदृढ़ और स्फूर्तिवान बनी रही।

यूरोपीय इतिहासकार काउण्ट यजोस्टयर्ना ने अपनी पुस्तक 'थियोयनी ऑफ द हिंदूज़' में लिखा है, 'सभ्यता और धर्म की प्राचीनता की दृष्टि से कोई भी राष्ट्र हिंदुओं का मुकाबला नहीं कर सकता।' [1] अमेरिका के येल विश्वविद्यालय के प्रेसिडेंट डॉ॰ स्टिल्स ने भी अपनी पुस्तक 'वार्ड्स मिथोलॉजी' में इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हुए लिखा है, 'हिंदुस्तान की तुलना में अन्य भी सभ्यताएँ बौनी लगती हैं।' वे आगे लिखते हैं, 'श्री बेली की गणना के अनुसार जब हिंदुओं की सभ्यता ने ईसा से 3000 वर्ष पूर्व विज्ञान और ज्यामिती के क्षेत्र में इतनी अधिक प्रगति कर ली थी तो इस बात की सहज ही कल्पना की जा सकती है कि वह सभ्यता कितनी प्राचीन रही होगी, क्योंकि विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति की गति बहुत धीमी होती है।' [2]

हिंदू-सभ्यता की प्राचीनता के अनेक ऐतिहासिक प्रमाण सुलभ होने के अतिरिक्त हिंदू-संस्कृति, कला, साहित्य और विज्ञान की प्राचीनता के और भी अधिक ठोस और विश्वसनीय प्रमाण सुलभ हैं। इन प्रमाणों में भारत द्वारा दक्षिण-पूर्व एशिया और इंडोनेशिया में बसाई गई हिंदू बस्तियों में स्थित विशालकाय भव्य हिंदू-मंदिरों के भग्नावशेष और भारत में स्थित एलोरा के विशालकाय शिव मंदिर, एलोरा तथा अजंता की गुफाओं में अंकित भित्ति-चित्र भी शामिल हैं। ये भव्य और विशाल मंदिर विशालकाय शिलाओं को काटकर बनाए गए हैं। मिस्र के इतिहास-प्रसिद्ध पिरामिड इनकी तुलना में बौने लगते हैं। [3]

कैप्टन हॉमर द्वारा प्रकाशित अपने शोध-लेख में लिखा है, मैं इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकता कि ईसा से 3000 वर्ष पूर्व भारत में अत्यंत विकसित और उन्नत सभ्यता का अस्तित्व था। हिंदू-सभ्यता में श्रीराम का अस्तित्व इससे बहुत समय पूर्व था।[4] उक्त तथ्य तो उन यूरोपीय इतिहासकारों द्वारा भी स्वीकार किए गए हैं, जो बाइबिल में वर्णित 'कालचक्र' में विश्वास करते हैं। वस्तुत: पश्चिमी देशों के लिए तो इस सृष्टि का प्रादुर्भाव ईसा के जन्म से ही हुआ है।

वे इस तथ्य को मानने से भी इंकार करते हैं कि ईसा से पूर्व अन्य किसी प्राचीन सभ्यता का अस्तित्व रहा होगा। परंतु कुछ खोजी प्रवृत्ति के विवेकशील विद्वानों और इतिहासकारों ने, जो इस संकुचित विचारधारा का परित्याग करने में समर्थ हुए, इतिहास का अधिक न्यायसंगत मूल्यांकन किया है। वे उन अकाट्य प्रमाणों की उपेक्षा नहीं कर सके, जो स्पष्ट रूप से भारत की प्राचीन सभ्यता की ओर इंगित कर रहे थे। भारत की सभ्यता इतनी प्राचीन है, जिसकी पश्चिम के लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। कश्मीर से प्राप्त एक बैक्टीरियन प्रलेख 'दाविस्तान' में, जिसे यूरोपीय विद्वान सर डब्ल्यू॰ जोंस अपने साथ लाए थे, मगध नरेश की वंशावली दी गई है। इस वंश की पहली पीढ़ी ने भारत पर सिकंदर महान के आक्रमण से 5600 वर्ष पूर्व बैल्टीरिया पर शासन किया था। अलेग्जेंडर से संबंधित प्रलेखों में पृथ्वी पर मनुष्य के प्रकट होने का जो समय बताया गया है, उससे यह घटना हज़ारों वर्ष पहले घटी थी। इस प्रकार 'दविस्तान' प्रलेख से यह सिद्ध हो जाता है कि भारत की हिंदू-सभ्यता ईसा से 6000 से 8000 वर्ष तक पुरानी थी। [5] भारत के महान दार्शनिक संत तथा आर्यसमाज आंदोलन के जनक स्वामी दयानंद सरस्वती ने हिंदू-सभ्यता की प्राचीनता के विषय में बहुत ही सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत किया है। शायद ही ऐसा कोई हिंदू हो, जो 'संकल्प' शब्द के अभिप्राय से अपरिचित हो। यह हिंदुओं के हर उत्सव और धार्मिक अनुष्ठान का अनिवार्य अंग माना जाता है। जब कोई हिंदू गंगा-यमुना में स्नान करता है तो वह कोई संकल्प करता है। यह चामत्कारिक शब्द वर्तमान आकार में पृथ्वी के सृजन-संबंधी रहस्य की कुंजी है। [6] हमारे पवित्र धर्मग्रंथों में प्रस्तुत व्याख्याओं और विश्लेषणों के अनुसार, इस शब्द का अर्थ है, 'हमारी पृथ्वी का सृजन परमाणु (पदार्थ का सूक्ष्मतर रूप) से हुआ है और उसी रूप में उसका विसर्जन भी होता है। सृजन और विसर्जन की यह शृंखलाबद्ध क्रिया अनवरत रूप से गतिशील रहती है और इन्हीं निरंतर गतिशील परमाणुओं से पृथ्वी का निर्माण होता है और कालचक्र में एक निश्चित समय पर इन्हीं परमाणुओं के रूप में उसका विसर्जन हो जाता है। इसी स्थिति को महाप्रलय कहते हैं। [7]

अतः स्पष्ट है कि यह सृष्टि एक निश्चित काल तक अपने वर्तमान रूप में विद्यमान रहेगी। अपने वर्तमान 'पदार्थ' रूप में उसके अस्तित्व की अवधि होती है, जिसे 'काल-अवधि' कहते हैं। हमारे ऋषि-मुनियों ने इसको 'ब्रह्मदिन' कहा है। नष्ट होने के बाद जितनी अवधि तक वह अपने सृजनकर्ता मूल परमाणुओं के रूप में रहती है, उसको उन्होंने 'ब्रह्मरात्रि' की संज्ञा दी है। अथर्ववेद में 'ब्रह्मदिन' की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि इसकी अवधि 43, 20, 000, 000 वर्ष है। 'ब्रह्मदिन' में 1000 चतुर्यग होते हैं (चार युग) इनको 'दिव्य युग' भी कहते हैं। हिंदू-सभ्यता की 'मनुसंहिता' के रचयिता मनीषी मनु के अनुसार, एक 'चतुर्युग' या 'दिव्ययुग' से अभिप्राय चार युगों– सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर, कलयुग से है। इसकी कुल अवधि 12000 दिव्य वर्ष है। सतयुग की अवधि 4800 दिव्य वर्ष, त्रेतायुग की अवधि 3600 दिव्य वर्ष, द्वापरयुग की अवधि 2400 दिव्य वर्ष और कलियुग की अवधि 1200 दिव्य वर्ष है। [8] मनुस्मृति में 'दिव्य वर्ष' और प्रत्येक युग की अवधि की विश्लेषणात्मक गणना भी दी गई है, जो निम्न प्रकार है–

दिव्य वर्ष	360 सामान्य वर्ष
सतयुग	4800×360= 17, 28, 000 वर्ष
त्रेतायुग	3600×360= 12, 96, 000 वर्ष

द्वापरयुग	2400×360= 08, 64, 000 वर्ष
कलियुग	1200×360= 04, 32, 000 वर्ष
एक चतुर्युग का कुल योग	= 43, 206, 000 वर्ष
एक ब्रह्मदिन	43, 20, 000, 000= 43, 20, 000 वर्ष

मनीषी मनु की इस गणना के अनुसार एक 'ब्रह्मदिन' 43, 20, 000, 000 वर्षों का होता है।[9] अतएव, इस अवधि तक पृथ्वी अपने वर्तमान रूप में विद्यमान रहेगी। इसके उपरांत महाप्रलय में उसका यह रूप नष्ट हो जाएगा तथा एक निश्चित अवधि व्यतीत होने के उपरांत (ब्रह्मरात्रि) पृथ्वी पर एक नए रूप में अवतरित होगी।

हिंदुओं के एक अन्य पवित्र ग्रंथ 'सूर्य सिद्धांत' के अनुसार 'ब्रह्मदिन' 14 मन्वन्तरों में विभाजित किया गया है। एक मनवन्तर में 71 चतुर्युग होते हैं।[10] पूर्व वर्णित 'संकल्प' के अनुसार अब तक 6 मनवन्तर स्वयंभव, स्वरुचि, औतमी, तैनस, रैतत, चक्षुस और वैतस्वत–व्यतीत हो चुके हैं तथा अभी सात अन्य मनवन्तर–सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रपुच, रोच्यक्ष, शोतका– व्यतीत होने शेष हैं। प्रत्येक चतुर्युग (43, 20, 000 वर्ष) को 71 से गुणा करने पर एक मनवन्तर बनता है। इस प्रकार एक मनवन्तर में (43, 20, 000×71) 30, 67, 20, 000 दिव्य वर्ष बैठते हैं। तात्पर्य यह है कि एक मनवन्तर 30, 67, 20, 000 दिव्य वर्षों का होता है। 6 मनवन्तरों में 1, 84, 03, 20, 000 दिव्य वर्ष हुए, जो अब तक व्यतीत हो चुके हैं। वर्तमान कलियुग 28 वें चतुर्युग का कलियुग है। इस चतुर्युग में कलियुग के 5006 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। 43, 20, 000 दिव्य वर्षों में से 5006 वर्ष घटाने पर 43, 14, 994 वर्ष अभी व्यतीत होने बाक़ी हैं। अत: महाप्रलय की दशा आने के लिए अभी 214, 70, 34, 904 दिव्य वर्ष (शेष सात मनवंतरों की कुल अवधि में से कलियुग के 5006 वर्ष घटाने पर) बाकी हैं। संक्षेप में, अपने वर्तमान रूप में पृथ्वी की शेष आयु 2, 33, 32, 26, 994 दिव्य वर्ष हैं।

अत्यंत जटिल गणित और 'काल', 'अवकाश' और 'ब्रह्मांड-चक्र' की गणनाओं से हम यह भली प्रकार समझ सकते हैं कि प्राचीन भारतीय-सभ्यता उन्नति के कितने उच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी। अंधकार में डूबे ये लाखों वर्ष पृथ्वी पर प्राचीन हिंदू-सभ्यता के आविर्भाव और ईसामसीह के अवतरण के बीच के वही चतुर्युग हैं, जिनका वर्णन प्राचीन भारतीय ग्रंथों में है।

संदर्भ

1. काउण्ट यजोस्टमर्ना, थियोमनी आफ़ द हिंदूज़।
2. डॉ॰ स्टिल्स 'वार्ड्स मिथोलॉजी', भाग-1, पृ॰ 144
3. काउण्ट यजोस्टयर्ना, 'थियोमनी आफ़ द हिंदूज़', पृ॰ 45
4. कैप्टन ट्रायर, 'एशियाटिक जर्नल', वर्ष 1841
5. काउण्ट यजोस्टयर्ना, थियोमनी आफ़ द हिंदूज़, पृ॰ 138
6. स्वामी दयानंद सरस्वती, इंट्रोडक्शन टु वेदाज
7. आर्यदर्पण, मार्च 1880, आर्यसमाज, लाहौर, पृ॰ 67-68
8. मनुस्मृति, अध्याय 1, श्लोक 71
9. मनुस्मृति, अध्याय 1, श्लोक 79
10. सूर्य सिद्धांत, अध्याय 1, श्लोक, 18, 19, 20

राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता में महात्मा गांधी का योगदान

श्रीमती दिव्या भट
प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान
कमला माहेश्वरी आर्य कन्या डिग्री कालेज, मीरजापुर

राष्ट्र की सुरक्षा एवं प्रगति राष्ट्रीय एकीकरण के साथ प्रतिबद्ध है, जो स्वत: उस एकत्व की भावना का प्रतिफल है, जिसमें धारणाओं व विश्वासों के प्रति पारस्परिक आदर है तथा आदर्श व लक्ष्यों के प्रति समान सहभागिता एवं दृष्टिकोण विद्यमान है। जहाँ यह भावना है वह राष्ट्र अजेय है। इस संदर्भ में गांधी जी का योगदान अप्रतिम है।

किसी वस्तु से तादात्म्य तब होता है, जब हमारा मन उसे स्वीकार कर लेता है। बच्चा उसी की ओर दौड़ता है, जो उससे प्रेम करता है। प्रेम से ही अन्य मानवीय गुण जैसे उदारता, क्षमा, एकता आदि आते हैं। इसी आध्यात्मिक एकता की दिशा में भारतीय संस्कृति की चिरंतन धारा प्रवाहित होती है। गांधी जी की अहिंसा में इसी आध्यात्मिक एकता का बीज दिया हुआ है। उनकी अहिंसा का अर्थ है—संपूर्ण प्रेम। यह एकीकरण की व्यावहारिकता और नैतिकता का सर्वोच्च प्रदर्शन है, जो गांधी विचार-प्रवाह को नीतिपरक बना देता है। इसीलिए गांधी जी का अहिंसा-प्रयोग भारतीय जनमानस को उद्वेलित करने में समर्थ रहा और उन्हें एक-दूसरे के समीप लाया।

गांधी जी में देश-प्रेम की भावना बचपन से ही दिखाई देती थी [1] उनका कहता था कि 'जो मनुष्य देशप्रेम को नहीं जानता, वह अपने सच्चे कर्त्तव्य या धर्म को नहीं पहचानता।'[2] अपने देश के लिए उन्हें जेल जाना पड़ा, जनशक्ति को संगठित करना पड़ा और तीन बड़े पैमाने पर, असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन तथा भारत छोड़ो आंदोलन चलाने पड़े। [3]

दक्षिण अफ्रीका से लौटने के पश्चात् जब उन्होंने भारत में पदार्पण किया, तब उन्हें लगा कि जनमानस स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए उद्विग्न है। आतंकवादी गतिविधियाँ तो भारतीयता के अनुकूल थी ही नहीं। गांधी जी के व्यक्तित्व में उदारवादियों की न्यायप्रियता, अतिवादियों की भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम, स्वदेशी धन बलिदानी वृत्ति समवेत रूप में जीवंत हो उठी थी। उन्होंने आम आदमियों की तरह जीकर, उसकी भाषा बोलकर, उन जैसा पहनकर, उसका दुख-दर्द जानकर भारतीय समस्याओं के लिए भारतीय हल पेश किया।

जाति-प्रथा देश की राजनीतिक एकता के लिए सदैव बाधक रही, यह हिंदुओं को ऊँच-नीच की श्रेणी में विभाजित करके रखती थी। गांधी जी के आह्वान पर देश-भर में अस्पृश्यों के लिए मंदिर-प्रवेश का निषेध हटा लिया गया और अछूतोद्धार के लिए 'हरिजन सेवक संघ' का गठन किया गया। गांधी जी से पहले अनेक समाज-सुधारकों द्वारा अस्पृश्यता जातिभेद, स्त्री-अधोगति, बाल-विवाह आदि समस्याओं पर प्रहार तो किया गया था, पर किसी

ने भी गांधी जैसी दृढ़ता का परिचय नहीं दिया।

राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि भाषा हमारी भावनाओं को रूप और अर्थ देती है तथा पारस्परिक विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम बनती है। गांधी जी ने राष्ट्रीय भाषा के रूप में हिंदी को स्वीकार किया। इसके लिए अँग्रेज़ी के प्रचलन का विरोध किया और दूसरी ओर हिंदी के प्रयोग को प्रोत्साहन देकर राष्ट्रीयता एकता की दिशा में महान कार्य किया। भाषा के मामले में उन्होंने लोगों को उदारदृष्टि और सहिष्णुता का बर्ताव उपजाने की सलाह दी।

वस्तुतः गांधी जी के लिए सभी भाषाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं। गांधी-विचार की विशिष्टता उनकी समन्वयकारी प्रवृत्ति में निहित है। राष्ट्रीय प्रश्नों को वे भारतीय परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही रखते थे, किंतु अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार में उन्होंने अँग्रेज़ी के प्रयोग को उचित ठहराया है।

शिक्षा द्वारा ही सांस्कृतिक मूल्यों की निरंतरता और संवर्द्धन संभव है। शिक्षा ही मानव में निहित क्षमताओं का विकास करती है। शैक्षिक कार्यक्रम व नीतियाँ किसी भी व्यवस्था की सामान्य विशेषताओं को प्रतिबिंबित करती हैं। इसलिए इसका स्वरूप अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए अथवा सांस्कृतिक धाराएँ सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन की नींव उखाड़ देंगी। इस दृष्टि से उन्होंने दोतरफ़ा कार्य किया। प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के दोषों को स्पष्ट कर तथा राष्ट्रीय शिक्षा-योजना प्रस्तुत कर वे शिक्षा को क्रांति का वाहक बनाना और व्यक्ति-निर्माण के माध्यम से नवसमाज की संरचना चाहते थे। यदि अन्याय का प्रतिकार हम नहीं कर पा रहे हैं, तो हमारी शिक्षा दोषपूर्ण है। आज की सारी समस्या है नैतिक मूल्यों के संरक्षण में लोगों के चरित्र-निर्माण की।

गांधी जी स्त्रियों और पुरुषों को समाज में समान अवसर देने के पक्षपाती थे। स्त्री व पुरुष की शारीरिक संरचना व प्रकृतिगत विभेद परस्पर विरोधी नहीं, पूरक हैं। इसलिए दोनों को समान स्तर में लाना न्याय की माँग है। स्त्रियों को पुरुषों के समान ही पालन-पोषण, शिक्षण व व्यक्तित्व-विकास की सुविधा मिलनी चाहिए। गांधी जी के अनुसार भारत का विकास तब तक संभव नहीं है, जब तक कि हिंदू-समाज में स्त्री-जाति के प्रति रखा गया तुच्छ भाव समाप्त नहीं हो जाता है।[4] गांधी जी कुछ दृष्टियों में तो स्त्री को पुरुष से भी आगे मानते थे। उन्होंने स्त्री को अहिंसा का अवतार माना।[5] गांधी जी ने दहेज़-प्रथा पर भी करारी चोट की। उन्होंने दहेज़ को रोकने के लिए दहेज़-लोभियों के सामाजिक बहिष्कार और अंतर्जातीय विवाह जैसे व्यावहारिक सुझाव भी लिए। उनके द्वारा किए गए इन प्रयासों से भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति मजबूत हुई और स्त्रियों के प्रति उदार दृष्टिकोण पैदा हुआ, जिससे स्वस्थ राष्ट्रीयता के विकास में मदद मिली।

राष्ट्रीय एकता और अखंडता के प्रति गांधी जी के योगदान का तब और स्पष्टीकरण हो जाता है, जब गांधी-विचार के दो प्राणतत्त्व को सामने रखें। ये हैं—साधनों की पवित्रता और सत्याग्रह। साधन की शुद्धता को उन्होंने सत्याग्रह के माध्यम से व्यवहृत किया, जो हिंसात्मक संघर्ष का विकल्प है। सत्याग्रह में सत्य एवं अहिंसा के आदर्श का विनियोग है। सत्य हेतु अहिंसा का प्रदर्शन ही सत्याग्रह है। अन्याय का अहिंसात्मक प्रतिरोध करना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार

भी है और कर्त्तव्य भी। आसपास हो रहे अन्याय का प्रतिरोध न करने का अर्थ है– अन्याय के प्रतिपादन में सहायता देना। इस दृष्टि से सत्याग्रह करना कर्त्तव्य पहले अधिकार बाद में। वस्तुत: सत्याग्रह की सक्रियता गांधी को व्यावहारिक बना देती है।

उन्होंने भारतवर्ष की प्राचीन सांस्कृतिक परंपरा को परिष्कृत करके और उसे युगधर्म के रूप में ढालकर इस देश की महती सेवा की। उन्होंने भारतीय जनता में निर्भयता, उपयोगशीलता, अनुशासन, सहिष्णुता, सेवा, परमार्थ भाव, नम्रता आदि मानवीय गुणों का संचार किया, जिनसे कि एक देश महान बनता है।

भारतीय संस्कृति ने मानव-जीवन के आरंभ में ही सामुदायिक पारस्परिक सद्भावना व विश्वमैत्री का पाठ पढ़ाया– 'तुम्हारी मंत्रणा में, समितियों में, विचारों में और चिंतन में समानता हो, सद्भावना हो, वैषम्य एवं दुर्भावना न हो।' भावनात्मक एकता का कैसा अटूट प्रेरणा-सूत्र है। जैसी भावना होगी, वैसे ही विचार बनेंगे और जैसा विचार होगा वैसा ही आधार होगा। फलत: पारस्परिक सद्भाव द्वारा भारतीयों के हृदय में एकता और अखंडता की ज्योति प्रकाशित करने का काम गांधी जी ने किया।

भारत अपने मूल रूप में कर्मभूमि है, योगभूमि नहीं। गांधी जी का यह दृष्टिकोण ईशावास्योपनिषद् के निम्न मंत्र से अनुप्राणित है–

ईदावास्यमिदं सर्वं यतकिन्च जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुन्जीथा: मा मृष: कस्यचितधनम्।[6]

इसमें त्यागपूर्वक भोग के साथ-साथ 'मैं' और 'मेरा' का संकुचित भाव नहीं है। अपितु 'हम' और 'हमारा' की भावना का विस्तार है। वस्तुत: गांधी जी अपने उपदेशों से भारतीयों की अज्ञान ग्रंथियों को खोलकर आध्यात्मिक जगत की ओर प्रेरित करना चाहते थे, जहाँ सब-कुछ हमारा ही रह जाता है। मैं के संकुचित दायरे स्वत: नष्ट हो जाते हैं और व्यक्ति केवल शाब्दिक ज्ञान या बौद्धिक प्रयास से ऊपर उठकर हार्दिक अनुभूति के ऊँचे धरातल पर अपने-आपको पहुँचाने में सफल हो जाता है। इस धरातल पर विषय की अनेकता एकता में ढल जाती है। ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट आदि का अंधकार दूर हो जाता है। आनंद और हर्ष का अतिरेक होता है। यही आध्यात्मिकता विकास का सोपान है, जहाँ तक पहुँचाने के लिए गांधी जी ने आध्यात्मिक मार्ग प्रशस्त किया। स्वामी विवेकानंद जी ने कहा था– 'व्यक्ति मंदिर, गिरजे में पैदा हो, यह अच्छा है, किंतु यदि वहीं मर जाता है, तो यह उसका दुर्भाग्य है' क्योंकि विकास का अंतिम सोपान 'तत त्वं असि' अहं ब्रह्मस्मि ही है।[7]

महात्मा जी आध्यात्मिकता की परिणति एकता के आनंद की अनुभूति में स्वीकार करते है। अच्छे और बुरे पर भौतिक और अभौतिक का द्वंद्व जीवन के आरंभ में होता है, किंतु परिपन्नावस्था में वह द्वंद्वातीत स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ नैतिकता की ज्योति स्वमेव प्रकट होती है। यही संस्कृति का मूल है। वेदों का रहस्य है, जीवन का सार है तथा उपनिषदों का अमृत है, सामाजिक जीवन की आधारशिला है।

महात्मा जी के निम्न शब्द 'हम देश के लिए हैं न कि देश हमारे लिए' भारतीयों के हृदय में राष्ट्रप्रेम एवं कर्त्तव्यनिष्ठा का संचार करने में सक्षम है। देश से प्रेम करनेवाला व्यक्ति देश की प्रत्येक वस्तु से आगाध स्नेह करेगा। फलत: विखंडन एवं भेद का प्रश्न ही उसके

मस्तिष्क को आवृत्त नहीं कर सकेगा। भेद और खंड-खंड की भावना रूपी उद्यान के बादल उसी प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाएँगे; जैसे सूर्य के आलोकित होते ही अंधकार स्वयमेव विलीन हो जाता है। तदुपरांत भारतभूमि पर एकता और अखंडता का सूर्य दमकेगा, जिसकी किरणों से क्षुद्र एवं संकुचित विभेदीकरण की भावनाओं का विलय होगा। इस बिंदु तक पहुँचने का मार्ग जटिल है। जहाँ एक पहुँचना नितांत आवश्यक है। यही होनहार है। इसी से सभी को निपटना होगा।

भारतीयों के हृदय में व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तुदपरांत विषय की परिधि को एकाकार रूप में समाहित करने का प्रशंसनीय कार्य गांधी जी ने किया। जीवन का कोई भी क्षेत्र गांधी जी की सूक्ष्म दृष्टि एवं तीक्ष्ण बुद्धि से परे न रहा। जिस-जिस क्षेत्र में गांधी जी ने पदार्पण किया, वह-वह क्षेत्र वैविध्य की बहुरंगी आभा से मुक्त होता हुआ इंद्रधनुषी आभा से दीप्तिमान हो गया। गांधी जी के विचार, कर्म, व्यक्ति, देश और काल की सीमा का उल्लंघन करते हुए मानव-मात्र के लिए कल्याणकारी थे, हैं और आगे भी रहेंगे। यही उनके व्यक्तित्व की पराकाष्ठा है, जिसके कारण वह मर्त्यलोक में वंदनीय हैं और रहेंगे। महात्मा जी एक ऐसी दैदीप्यमान मूर्ति हैं, जिसके सान्निध्य-मात्र से ही मानव के मन से विखंडन और भेद का भाव तिरोहित हो जाता है और वह एकता और अखंडता में ही आनंदानुभूति करने लगता है, ऐसे असाधारण व्यक्तित्व के धनी महात्मा जी का राष्ट्रीय एकता और अखंडता में अमिट योदान रहा है।

सत्य यह है कि गांधी जी की विभूतियों का, उनके कृत्यों का, उनकी सेवाओं का, उनके त्याग और तपस्या का न कोई माप है, न गणना और न अंत है। वह न होते तो न मालूम हम कितने वर्षों तक ग़ुलामी की जंज़ीरों में जकड़े रहते। हमारी स्वतंत्रता के दाता और आराध्य यदि बापू नहीं तो और कौन है?

संदर्भ

1. गांधीजी की आत्मकथा पृ॰ 35-36 : सस्ता साहित्य मंडल प्रकाश, दिल्ली बारहवीं पुनरावृत्ति 1967
2. उद्धत, गोपीनाथ, धवन, सर्वोदय तत्त्व दर्शन, पृ॰ 36 नवजीवन प्रकाशन मंदिर : द्वितीय संस्करण : अगस्त 1963
3. शिवनारायण राय, गांधी, इंडिया एंड दी वर्ल्ड, पृ॰ 257 नचिकेता पब्लिकेशन्स लि॰ बाम्बे : 1970
4. गांधी विचार दोहन : पृष्ठ 42 : सस्ता साहित्य मंडल : नई दिल्ली : दसवीं आवृत्ति : 1968
5. Discovery of India : Jawahar Lal Nehru
6. ईशावास्योपनिषद मंत्र : 2
7. विवेकानंद : तृतीय खंड : पृ॰ 105
8. आत्मकथा : महात्मा गांधी

स्मृतिकालीन भारत में व्यापार एवं वाणिज्य का स्वरूप

डॉ॰ (श्रीमती) रेखा सिंह
सहायक अध्यापिका
आज़ाद उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, कुंभी
मोकलपुर, जौनपुर (उ॰प्र॰)

भारतीय व्यापारिक गतिविधियों का स्वरूप प्राचीनकाल से ही अत्यंत विकसित होता है। सैंधवकाल, वैदिककाल एवं बौद्धकाल में व्यापारिक प्रगति विकसित अवस्था में पहुँच चुकी थी। जिसकी प्रामाणिक सूचना साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों से उपलब्ध होती है। भारतीय व्यापारी प्राचीनकाल से ही आंतरिक एवं विदेशी व्यापार के लिए स्थल और जल दोनों मार्गों का प्रयोग करते थे। व्यापारिक सुविधा के लिए प्राय: सभी बड़े नगर व्यापारिक मार्गों से एक-दूसरे जुड़े हुए थे। इन्हीं मार्गों का प्रयोग करते हुए सार्थगण एवं व्यापारी वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए दूरस्थ देशों की यात्रा पर गमन किया करते थे।

भारत में व्यापार एवं वाणिज्य का विकास सैंधव सभ्यता के काल से ही दिखाई देने लगता है किंतु प्रसिद्ध भारतीय लेखक मोतीचंद्र का विचार है कि मनुष्य अपनी प्राथमिक अवस्थाओं में व्यापार करता था और एक जगह से दूसरी जगह की वस्तुएँ सीमित मात्रा में आती जाती थीं।[1] सैंधव सभ्यता के विभिन्न पुरास्थलों की खुदाई से विदित होता है कि सैंधवकालीन संपूर्ण नगर व्यापार एवं वाणिज्य के केंद्र थे। इन नगरों के मध्य परस्पर व्यापारिक संबंध स्थापित था।[2] सिंधु सभ्यता के काल में आंतरिक एवं विदेशी दोनों प्रकार के व्यापार में पर्याप्त विकास हुआ। बलूचिस्तान, सिंध, पंजाब, हरियाणा, गुजरात, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा महाराष्ट्र में स्थित इस संस्कृति के व्यापारियों ने उद्योगों को फैक्ट्री सिस्टम, के आधार पर संगठित किया था। वे शिल्पियों को बड़ी संख्या में कारखानों में नियुक्त करते थे और उन्हें कच्चा माल देकर विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ तैयार कराते थे।[3] मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से खुदाई के दौरान ऐसी अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जो उस क्षेत्र की नहीं हैं। उनमें से अनेक वस्तुएँ व्यापारिक माध्यम से दूसरे प्रदेशों से प्राप्त की गई थीं। सैंधवकाल में कृषि-उत्पाद, सूत, सूती वस्त्र, मृण्पात्र, काष्ठनिर्मित वस्तुएँ, धातुएँ, औज़ार, मनके, आभूषण आदि प्रमुख व्यापारिक वस्तुएँ रही होंगी। यद्यपि लिखित साक्ष्य के अभाव के कारण कच्चे माल के स्रोत एवं आंतरिक व्यापार के विषय में समुचित जानकारी नहीं है किंतु यह मान्य है कि विटुमन (डायर) संभवत: बलूचिस्तान से जिप्सम एवं सेलखड़ी राजस्थान एवं बलूचिस्तान से गोमेद, स्फटिक, ताड़ा पत्थर, करकेत्तन, जमुनिया काठियावाड़ से मँगाया जाता था।[4] ताँबा राजस्थान के खेतड़ी और डेबरी के खदानों

के अलावा अफ़गानिस्तान एवं ईरान से आयात किया जाता था। [5] सोना कर्नाटक के कोलार एवं हत्ती की खानों से मँगाया जाता था। कर्नाटक के ही मास्की, पिखली हल एवं उलूर नामक स्थानों से मिले हड़प्पा संस्कृति के मनके कर्नाटक से व्यापारिक संबंध का संकेत करते हैं। सोना सिंधु नदी की बालू से भी प्राप्त किया जाता था। [6] इसी प्रकार सोना अजमेर, कश्मीर और सीमित मात्रा में पूर्वी एवं दक्षिणी भारत से आता रहा होगा। टिन (त्रपु) राजस्थान एवं बिहार के हज़ारीबाग़ और अरावली की पहाड़ियों से तथा चाँदी उदयपुर में जबार की खदानों या अफ़गानिस्तान से मँगाया जाता होगा। नमक पंजाब की पहाड़ियों से, सागौन एवं देवदार की लकड़ी कश्मीर एवं हिमालय क्षेत्र के वन्य प्रदेश से तथा शंख एवं घोंघे पश्चिमी समुद्रतटीय प्रदेश एवं फारस की खाड़ी से मँगाए जाते होंगे। [7] सैंधव सभ्यता के विभिन्न स्थानों से विविध भार, माप-तौल वाले पत्थर के टुकड़े मिले हैं, जो बाँट-बटखरों के रूप में प्रयुक्त किए जाते थे। यहाँ के व्यापारी मानक बाटों का प्रयोग करते थे। साधारण लोगों के भवनों से प्राप्त हुए बाट प्रमाणित करते हैं कि व्यापारियों के अलावा अन्य लोग भी आदान-प्रदान एवं क्रय-विक्रय में बाट का प्रयोग करते थे। सैंधव बाटों के आकार की एकरूपता तथा भार में परिशुद्धता से स्पष्ट होता है कि इनका निर्माण एवं वितरण राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त संस्था के नियंत्रण में किया जाता था। मोहनजोदड़ों से जो सबसे लघु आकार का बाट मिला है, उसका आकार 75x75x625 सेमी॰ और सबसे बड़ा बाट 17x15x95 सेमी॰ का है। यहाँ से प्राप्त सबसे भारी बाट 10970 किग्रा॰ का है। [8] एस॰आर॰ राव का मत है कि छोटे और बड़े भार वाले बाटों का प्रयोग आंतरिक व्यापार में किया जाता होगा और भारी बाटों का विदेशी व्यापार में प्रयोग होता होगा। [9]

निश्चय ही आयात-निर्यात के लिए एक संगठित व्यापारी-वर्ग रहा होगा, जो काफ़िले के रूप में व्यापार किया करते थे। स्टुअर्ट पिगट ने मत व्यक्त किया है कि व्यापारियों के ऐसे काफ़िले अपने पड़ाव के लिए निश्चय ही नियमित स्थान बना चुके होंगे, जहाँ सराय भी होती होगी। पिगट के अनुसार सिंध में 'अमीलनों' ऐसा ही व्यापारिक पड़ाव-स्थल रहा होगा। व्यापारी लोग स्थलों एवं जल दोनों मार्गों से व्यापार करते थे। लोथल से पाँच खिलौना जहाज़ मिला है और कुछ मोहरों पर नाव का अंकन भी प्राप्त हुआ है। एस॰आर॰ राव का मत है कि उस समय भारत में तीन प्रकार की गाड़ियाँ प्रचलन में थीं, प्रथम ठोस ढाँचे वाली गाड़ी, द्वितीय छिद्रित ढाँचे वाली, तीसरी वियोज्य आड़ी छड़ वाली। दो पहियों वाली गाड़ी अधिक लोकप्रिय थी। [10] हड़प्पा की खुदाई में दो पहिए वाली खिलौना-गाड़ी प्राप्त हुई है और जोदड़ों से चार पहिए वाली मिट्टी की खिलौना गाड़ियाँ मिली हैं। गाड़ी के पहिए ठोस होते थे। [11] इसी प्रकार जलीय यातायात में नाव प्रयुक्त होती थी। नाव के आकार-प्रकार की जानकारी मिट्टी के बने खिलौना नाव, मुहरों एवं मृण्पात्रों पर उनके अंकन से की जा सकती है। मोहन जोदड़ों से प्राप्त एक मुहर पर नाव का अंकन है, इसका केविन वर्गाकार है और इसके ऊँचे अधिष्ठान पर एक नाविक दर्शाया गया है। मोहन जोदड़ों से प्राप्त एक मृदभांड के ठीकरे पर मस्तूल, लपेटे गए पाल एवं नाविक की आकृति सहित एक जहाज़ का अंकन है। लोथल से मिट्टी की पाँच खिलौना नावें प्राप्त हुई हैं।

ऋग्वेद में वाणिज्य का उल्लेख मिलता है। वैदिक ग्रंथों में वाणिज्य [12] एवं श्रेष्ठिन [13] शब्द कई बार प्रयुक्त किया गया है। अर्थवेद में [14] वस्त्र, दुर्श (ऊनी वस्त्र)[15], पवस्त (चादर)

एवं अजिन को व्यापारिक वस्तु बताया गया है। अन्य व्यापारिक वस्तुओं में सूत, ऊन एवं ऊनी वस्त्र, कृषि उत्पादन, समुद्री शंख एवं मोती, शिल्प-संबंधी वस्तुएँ प्रमुख थीं। गांधार एवं रावी नदी की घाटी उत्तम नस्ल की भेड़ों एवं ऊनी वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थी। सिंधु प्रदेश अश्व, गुग्गुल एवं नमक के लिए प्रसिद्ध था। [16] गाय एवं कृषि उत्पाद क्रय-विक्रय के प्रमुख माध्यम थे। वैदिक साहित्य में वस्तुओं के मूल्य या शुल्क के अतिरिक्त क्रय-विक्रय में मोल-भाव किए जाने का वर्णन मिलता है। [17]

वैदिक युग में पथ सुरक्षित नहीं थे, स्थल यातायात के साधनों में अनस [18] शंकट [19] तथा रथ प्रमुख थे। निषादों आदि द्वारा लूटमार करने का उल्लेख प्राप्त होता है। [20] इंद्र, अग्नि आदि देवताओं से मार्गों में सुरक्षा प्रदान करने हेतु प्रार्थना की गई है। व्यापार में सुरक्षा के लिए अधिकांश वणिक समूह बनाकर यात्रा करते थे। बौद्ध काल में वाणिज्य एवं व्यापार के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति परिलक्षित होती है। धर्म सूत्रों में उल्लिखित है कि वर्ण-व्यवस्था के नियमानुसार व्यापार एवं महाजनी वैश्यों के अतिरिक्त व्यवसाय थे। [21] जबकि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय आपत्तिकाल में कुछ गिनी-चुनी वस्तु के व्यापार द्वारा जीवनयापन कर सकते थे। ब्राह्मण को संकट के समय कृषि, वाणिज्य तथा स्व-उत्पादित मंजू, घास, फलफूल, तृण, काष्ठ आदि बेचकर जीवनयापन करने की छूट प्रदान की गई थी। [22]

पाणिनी ने निम्नलिखित व्यापारिक वस्तुओं का उल्लेख किया है– नमक, गुग्गुल, कौशेय, कपास, ऊन, कंबल, तुल, लाक्ष्य, नीली, भंगा मजिष्ठ, मृण्याम, क्षौम शक्कर, गुड़, अनाज, कपिशायन, वाघ, आभूषण, त्रपु ताम्रायस, कृष्णायस, शकट, रथ, नाव, चर्म रेशें आदि के थैले, फूलमाला, धनुषबाण, कुदाल आदि उपकरण [23] सूती वस्त्र आंतरिक एवं विदेशी व्यापार की सर्वप्रमुख वस्तु थे। बनारस सूती एवं रेशमी वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था, यहाँ के सूती वस्त्रों को काशिकुत्तम [24] एवं काशीय [25] कहा जाता था। महापरिनिब्बाणसूत्र में उल्लिखित है कि महात्मा बुद्ध का मृत शरीर बनारस में बने मलमल में लपेटा गया था। [26] बनारस क्षौम लिनन और रेशमी वस्त्रों के लिए अधिक प्रसिद्ध था। [27] बंगाल और उड़ीसा में अच्छे क़िस्म के सूती वस्त्र बनते थे। ये क्षेत्र हाथियों के लिए भी प्रसिद्ध थे। [28] गांधार [29] उड़ीयान [30] और शिवि [31] जनपद ऊनी कंबल के लिए प्रसिद्ध केंद्र थे। बनारस चंदन की लकड़ी [32] और सुगंधित तेल के लिए प्रसिद्ध था। कम्बोज के अश्व [34], ऊँट [35], पशमीना, लोम, चर्म [36] तथा बलुचिस्तान के अश्व, भेड़, बकरी, खच्चर तथा दुशाल प्रसिद्ध थे। [37]

पाणिनी ने क्रय-विक्रय को व्यापार का मुख्य लक्षण बताया है और आपण (बाज़ार), पण्य (व्यापारिक वस्तुएँ), क्रय-विक्रयिक (वास्तविक व्यापार में पूँजी लगाने वाला) शुल्कशाला एवं शुल्क की दरों का उल्लेख किया है। [38] नगर के व्यापारी तीन प्रकार के होते थे। प्रथम फेरीवाले, द्वितीय फुटकर विक्रेता, तृतीय थोक विक्रेता एवं सार्थवाह। [39] दैनिक जीवन में काम आनेवाली वस्तुओं को अधिकाशत: फेरीवाले बेचते थे। ये फेरीवाले दूर-दूर तक जाते थे। [40] उनके पास तुला, थैला तथा कुछ धन आदि रहता था।

इस प्रकार हम देखते है कि स्मृतिकालीन भारत में व्यापार और वाणिज्य विकसित अवस्था में था। प्राचीन व्यापारिक पद्धति के नक़्शे-क़दम पर आज हम लगातार प्रगति और विकास के नए-नए प्रतिमान स्थापित कर रहे हैं। हमारे पूर्वज पहले भी समूह के साथ व्यापारिक

सामानों को लेकर गंतव्य स्थानों पर जाते थे, आज भी हमारे मालवाहक (ट्रक आदि) समूह के साथ चलते थे। पहले भी व्यापारियों के साथ लूट-पाट होती थी, आज भी अराजक तत्त्व मौक़ा पाते ही व्यापारियों से छिनैती व डकैती करने से बाज नहीं आते। प्राचीनकाल में हमारे पूर्वज व्यापार यात्रा के दौरान सरायों में ठहरते थे, लेकिन आज हमारे बड़े व्यापारी वातानुकूलित रेस्तरां में ठहरकर आराम करते है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यापार की पद्धति पुरानी ही है लेकिन इसके स्वरूप विकसित हो गए है, जो आगे भी किसित होते रहेंगे।

संदर्भ

1. ट्रेड एवं ट्रेड रूट्स इन एंशियंट इंडिया, मोतीचंद्र, पृ॰ 28
2. बिजेंट एंड रेमांड अल्विन, द वर्थ ऑफ इंडियन सिविलाइजेशन, पृ॰ 268
3. आर॰एस॰ राव लोथल, पृ॰ 115
4. ट्रेड एवं ट्रेड रूट्स इन एंशियंट इंडिया, मोतीचंद्र, पृ॰ 33
5. इंडस सिविलाइजेशन, व्हीलर, पृ॰ 80
6. वही, पृ॰ 79
7. एस॰आर॰ राव, लोथल, पृ॰ 122
8. के॰के॰ थपल्याल एंड शुक्ल, सिंधु सभ्यता, पृ॰ 180-182
9. एस॰आर॰ राव, लोथल, पृ॰ 122
10. वही, पृ॰ 123
11. इंडस सिविलाइज़ेशन, व्हीलर, पृ॰ 80
12. बल्देव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ॰ 572
13. ऐतरेय ब्राह्मण, 3/30/3, कौशतिक ब्राह्मण 28/6, कौशित के उपनिषद 4/20
14. अर्थर्ववेद 4/716
15. ट्रेड एवं ट्रेड रूट्स इन एंशियंट इंडिया, मोतीचंद्र, पृ॰ 43
16. वैदिक इंडेक्स-1, पृ॰ 228
17. वैदिक इंडेक्स-2, पृ॰ 278
18. ऋग्वेद 4/30/0
19. छांयोग्य उपनिषद 4/9/8
20. ऋग्वेद 4/28/3 अर्थर्ववेद 6/12/41, मोतीचंद्र पूर्वोधृत, पृ॰ 42
21. गौतम धर्म सूत्र 10/5-6
22. गौतम धर्म सूत्र 7/24, आस्तम्ब 1/7/221/2
23. वी॰एस॰ अग्रवाल, पाणिनीकालीन, भारत, पृ॰ 237
24. जातक 6, पृ॰ 47-51
25. वहीं, पृ॰ 500
26. महापरिनिब्बाण सूत्र भग्गड़, पृ॰ 16, मोतीचंद्र, पूर्वोधृत, पृ॰ 66
27. जातक, पृ॰ 77
28. मोतीचंद्र पूर्वोधृत, पृ॰ 48
29. जातक 6, पृ॰ 27

30. जातक 4, पृ॰ 352
31. जातक 4, पृ॰ 401
32. जातक 2, पृ॰ 33
33. जातक 1, पृ॰ 129
34. महाभारत 2/47/4
35. वही, पृ॰ 2/45/2
36. वही, पृ॰ 2/2/47/3 एवं 2/45/9
37. पाणिनी, 4/2/99, मोतीचंद्र, पूर्वोद्धत, पृ॰ 67
38. वी॰एस॰ अग्रवाल, पाणिनीकालीन भारत, पृ॰ 230-31 एवं 233-34
39. उदयनारायण राम, प्राचीन भारत के नगर एवं नगर जीवन, पृ॰ 309
40. जातक 3, पृ॰ 54

भारत-अफगानिस्तान संबंध : मौर्यकाल में

डॉ॰ मीनाक्षी

वैदिक युग में अफ़गानिस्तान भारत का उसी प्रकार से अंग था, जैसे कि सप्त-सैंधव और गंगा-यमुना का प्रदेश। अफ़गानिस्तान की कुभा (काबुल), क्रुमु (खुर्रम), गोमती (गोमल) और सुवास्तु (स्वात) नदियों का ऋग्वेद में उल्लेख है।[1] इस देश का नाम जो गांधार पड़ा, उसका कारण वहाँ राजा गांधार द्वारा अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करना ही था। राजा गांधार का संबंध ऐल वंश के साथ था, जो मानव वंश की एक शाखा था। इसके राजा उसी प्रकार से आर्य या भारतीय थे, जैसे कि हस्तिनापुर, अहिच्छत्र आदि के राजा थे। यही कारण है कि जब कुरु देश (हस्तिनापुर) के राजा संवरण पर पंचाल (अहिच्छत्र) के राजा सुदास ने आक्रमण किया, तो सुदास का सामना करने के लिए पश्चिम के अनेक राजाओं ने संवरण की सहायता की। संवरण के इन सहायकों में पक्थ (पक्थून या पठान) लोग भी थे, जो गांधार के निवासी थे।[2] इससे पक्थों के देश भारत का अंग होने का स्पष्ट रूप से संकेत मिलता है। बौद्ध साहित्य में भारत के जिन सोलह महाजनपदों का परिगणन किया गया है, गांधार और कंबोज भी उनमें है।[3] सिंकदर के आक्रमण से पूर्व चौथी सदी ई. पूर्व में गांधार देश दो भागों में विभक्त था। पूर्वी गांधार की राजधानी तक्षशिला नगरी थी और उसका राजा आम्भि था। पश्चिमी गांधार सिंध नदी के पश्चिम में था और उसकी राजधानी पुष्कलावती थी।[4]

ईरान को विजय कर सिंकदर अफ़गानिस्तान की दिशा में अग्रसर हुआ। 330 ई. पूर्व के समाप्त होने से पूर्व ही वह शकस्थान (सीस्तान) जा पहुँचा। यह प्रदेश मकरान के उत्तर तथा अफ़गानिस्तान के पठार के दक्षिण-पश्चिम में था। उसे जीतकर सिंकदर ने ठेठ अफ़गानिस्तान पर आक्रमण किया और हरूअवती नगरी की विजय की। यह नगरी दक्षिणी अफ़गानिस्तान की राजधानी थी और अरगंदाब या अरगंद नदी के तट पर बसी हुई थी। वर्तमान समय का कंकार या कंदहार नगर प्राचीन हरूअवती के स्थान पर ही आबाद है। इसे जीतकर सिंकदर ने काबुल नदी की घाटी में प्रवेश किया। इस घाटी में जहाँ आजकल चरीकर है, सिंकदर ने एक नई नगरी की स्थापना की, जिसे सिंकदरिया नाम दिया गया।[5]

अफ़गानिस्तान के प्रदेशों को जीतकर सिंकदर ने वहां क्षत्रप निकनोंर को पश्चिमी गांधार और आक्स्यार्टस को काबुल की घाटी का क्षत्रप नियुक्त किया। पर सिंकदर द्वारा नियुक्त ये क्षत्रप देर तक अपने-अपने प्रदेशों पर शासन नहीं कर सके। चंद्रगुप्त मौर्य ने शीघ्र ही उन पर अधिकार कर लिया और उन्हें मगध साम्राज्य के अंतर्गत शामिल कर लिया।

सीरिया के राजा सैल्यूकस ने इन प्रदेशों को जीतने के लिए प्रयत्न किया, पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। युद्ध में वह चंद्रगुप्त द्वारा परास्त कर दिया गया और पैरोपनिसदी, आरिया, जड्रोसिया तथा आर्कोशिया के प्रदेशों पर चंद्रगुप्त के प्रभुत्व को सैल्युकस ने स्वीकार कर लिया। पैरोपनिसदी से

अफ़गानिस्तान का वह पहाड़ी प्रदे अभिप्रेत है, जो हिंदुकु पर्वतमाला की उपत्यका में स्थित है। काबुल का प्रांत इसी के अंतर्गत था। आर्कोाया से आजकल के कंदहार का ग्रहण होता था। आरिया आधुनिक हीरात का पुराना नाम था और जड्रोसिया का अभिप्राय वर्तमान समय के मकरान (बलोचिस्तान) से था। सैल्यूकस की पराजय के परिणामस्वरूप अफगानिस्तान और उसके समीपवर्ती इन सब प्रदेों पर चंद्रगुप्त मौर्य का स्वामित्व निर्विवाद रूप से स्थापित हो गया था। [6] प्रसिद्ध इतिहासकार वी॰ए॰ स्मिथ ने इस संबंध में लिखा है कि दो हजार साल से भी अधिक हुए, जब भारत के प्रसिद्ध सम्राट ने उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त कर लिया था, जिसके लिए उसके ब्रिटि उत्तराधिकारी व्यर्थ में ही आहें भरते रहे और जिसे सोलहवीं तथा सत्रहवीं सदियों के मुगल सम्राट भी कभी पूर्णता के साथ प्राप्त नहीं कर सके थे। [7] चंद्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य कायह भाग उत्तरापथ में सम्मिलित था व इसकी राजधानी तक्षािला थी।

इसके पचात बिंदुसार के ाासनकाल में भी यह स्थान मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत थे। उसके काल में यहाँ के निवासियों ने दो बार विद्रोह किए। चूँकि इस प्रदे को मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत आए ज़्यादा समय नहीं हुआ था तो इनकी आंतरिक स्वतंत्रता को नष्ट नहीं किया गया था। इस दाा में यदि इनमें अपनी स्वतंत्रता एवं पथक सत्ता की स्मति सुदृढ़ रूप से विद्यमान रही हो और अवसर पाने पर वे मौर्यों के ाासन के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए तत्पर हो जाते हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। दिव्यावदान[8] में इन विद्रोहों का ज़िक्र है। इनमें से एक विद्रोह राजकुमार ओक के वहाँ पहुँचने पर ही ाांत हो गया और दूसरे विद्रोह को ाांत करने के लिए कुमार सुसीम को भेजा गया था। [9]

इसके पचात् ओक के ाासनकाल में भी अफ़गानिस्तान मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत था और ओक के अभिलेख काबुल और गांधार में भी मिले हैं। [10] ये लेख ओक के साम्राज्य की सीमा अफ़गानिस्तान तक सिद्ध करते हैं। यूनान के ऐतिहासिक ग्रंथों में भारत के उत्तर-पचिम सीमा प्रांत के बारे में जो उल्लेख आए हैं। यह लेख उसकी पुष्टि करते हैं। गांधार (कंधार) लेख से यह भी सिद्ध हो जाता है कि ओक ने अपने अभिषेक के दसवें वर्ष अर्थात् ई॰पू॰ 260 के बाद अपना धार्मिक प्रचार प्रारम्भ किया। [11] साथ ही साथ ओक ने इस क्षेत्र में अपने धर्म प्रचारक मंडल भी भेजे थे। कामीर और गांधार में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए स्थविर मज्झन्तिक के नेतत्व में एक पथक प्रचार-मंडल भेजा गया था। ओक के समय भी तक्षािला में विद्रोह हो गया। दिव्यवदान की कथा अनुसार उत्तरापथ में तक्षािला नगर के राजा ओक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जब राजा ने यह समाचार सुना तो वह स्वयं ही विद्रोह को ाांत करने के लिए चल पड़ा। परंतु अमात्यों के समझाने पर उसने कुमार कुनाल को वहाँ भेज दिया। तक्षािलावासियों ने कुमार का ज़ोरदार ढंग से स्वागत किया और अमात्यों की ािकायत की। [12] अफ़गानिस्तान में कंधार की पुरानी बस्ती मुें विद्यमान एक मुस्लिम धर्मस्थान के समीप एक ािलालेख पड़ा हुआ था, जिसकी ओर सन् 1963 में स्ट्रासबर्ग यूनिवर्सिटी (जर्मनी) के प्रोफेसर डॉ॰ लुम्बर्गर का ध्यान आकृष्ट हुआ। अनुाीलन से ज्ञात हुआ कि यह ओक का ािलालेख है। जिस ािला पर यह उत्कीर्ण है, वह सवा बीस इंच चौड़ी, [18] इंच ऊंची और 5 इंच मोटी है। लेख ग्रीक भाषा में है। ओक के अन्य ािलालेखों के समान यह किसी विााल चट्टान पर उत्कीर्ण न होकर एक ऐसी ािला पर उत्कीर्ण कराया गया है, जिसे काटकर तथा गढ़कर वर्तमान रूप प्रदान किया गया था और संभवत: जिसे किसी भवन की भित्ति पर लगाया गया था। लेख अपूर्ण दाा में है। ओक के चतुर्द ािलालेखों में से बारहवाँ (प्रारंभिक भाग को छोड़कर) और तेरहवाँ (केवल

प्रारंभिक भाग) लेख इस शिला पर उत्कीर्ण है। इससे अनुमान किया जाता है कि चतुर्दश शिलालेख अविकल रूप से अनेक शिलाओं पर उत्कीर्ण कराए गए थे और उन्हें किसी भवन की भित्ति पर लगा दिया गया था। संभव है कि ये अन्य शिलाएँ भी इस क्षेत्र से भविष्य में प्राप्त हो जाएँ। ग्रीक भाषा का यह लेख अशोक के चतुर्दश शिलालेखों का शब्दानुवाद नहीं है। पालि भाषा के अन्य लेखों को कुछ परिवर्तित कर स्वतंत्र रूप से इसे ग्रीक भाषा में उत्कीर्ण कराया गया है। लेख की भाषा शुद्ध एवं साहित्यिक ग्रीक है और लिपि अत्यन्त सुंदर है।[13]

डॉ॰ लुम्बर्गर ने इस लेख को संपादित कर एपिग्राफ़िया इंडिका के जनवरी 1968 के अंक में प्रकाशित कर दिया और इसके अध्ययन से इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि कंधार का प्रदेश भी अशोक के साम्राज्य के अंतर्गत था और उस समय वहाँ ग्रीक भाषा का भली-भाँति प्रचलन था।

संक्षेपतया कहा जा सकता है कि अफ़गानिस्तान इस दौरान मौर्य साम्राज्य का अंग था, जो कि चंद्रगुप्त मौर्य ने यूनानी सेनापति सेल्यूकस से जीता था और अशोक के समय में भी यह साम्राज्य का एक भाग था।

संदर्भ

1. ऋग्वेद, 7.18.13
2. ऋग्वेद, 7.18
3. भरतसिंह, उपाध्याय, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प. 160
4. सत्यकेतु, विद्यालंकार, मध्यएशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति, प. 10
5. वही, प 50
6. वही, प 51-52
7. वी॰ए॰ स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, प॰ 126
8. दिव्यावदान (कावेल और नील द्वारा संपादित), प॰ 449
9. दिव्यावदान (कावेल और नील द्वारा संपादित), प॰ 450
10. ए॰ई॰ xxxiii
11. ए॰ई॰ xxxiii
12. दिव्यावदान, प॰ 407-408
13. सत्यकेतु, विद्यालंकार, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, प॰ 620

❒ म॰नं॰ 1329, सेक्टर 11
पंचकूला (हरियाणा)

भारत के बीमा क्षेत्र से संबंधित प्रमुख अधिनियम एवं संस्थाएँ

कपिलदेव, शोधकर्ता
वाणिज्य विभाग
जे॰वी॰ जैन (पी॰जी॰) कालेज, सहारनपुर (उ॰प्र॰)
डॉ॰ अनिलकुमार जैन, निर्देशक
रीडर, वाणिज्य एवं प्रासन विभाग
जे॰वी॰ जैन (पी॰जी॰) कालेज, सहारनपुर (उ॰प्र॰)

क्र॰	अधिनिमय/संस्था	वर्ष	प्रमुख उद्देश्य/विवरण
1.	भारतीय जीवन बीमा अधिनियम	1912	भारत में जीवन बीमा के नियमन हेतु क़ानूनी व्यवस्थाएँ सुनिश्चित करना
2.	भारतीय समुद्री बीमा अधिनियम	1903	देश में समुद्री बीमा के संबंध में आवश्यक क़ानूनी प्रावधानों का निर्धारण किया जाना
3.	बीमा अधिनियम	1938	भारत में बीमा व्यवसाय से संबंधित क़ानूनी प्रावधनों का निर्धारण करना
4.	भारतीय बीमा कंपनी अधिनियम	1928	देश में बीमा कंपनी के संचालन हेतु नियमों की व्यस्था सुनिश्चित करना
5.	भारतीय जीवन बीमा निगम अधिनियम	1956	जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण किए जाने हेतु क़ानून को पास करना
6.	साधारण बीमा परिषद का गठन	1957	साधारण बीमा के क्षेत्र में नियम व विनियमों के निर्धारण का दायित्व
7.	जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण	1956	जीवन बीमा व्यवसाय को केवल सरकारी क्षेत्र में रखे जाने के प्रावधान सुनिश्चित करना
8.	साधारण बीमा व्यवसाय (राष्ट्रीयकरण) अधिनियम	1972	साधारण बीमा व्यवसाय को केवल सरकारी क्षेत्र में रखे जाने के प्रावधान सुनिश्चित करना

क्र०	अधिनिमय/संस्था	वर्ष	प्रमुख उद्देश्य/विवरण
9.	भारतीय प्रतिभूति एवं विनिमय बोर्ड (SEBI) का गठन	1988	प्रतिभूतियाँ तथा बीमा आदि क्षेत्रों के निवेशकों के हितों की रक्षा करने हेतु संवैधानिक संस्था की व्यवस्था करना
10.	आर०एन० मल्होत्रा समिति का गठन	1993	अप्रैल 1993 में गठित इस समिति द्वारा 7 जनवरी, 1994 को बीमा-क्षेत्र में सुधार के लिए सुझाव प्रस्तुत किए गए
11.	मुखर्जी समिति का गठन	1995	बीमा कंपनियों की सॉल्वेंसी मार्जिन से संबंधित विवादों के समाधान हेतु संस्तुति देना
12.	बीमा नियामक प्राधिकरण का गठन	1996	23 जनवरी, 1996 को एक ग़ैर संवैधानिक निकाय के रूप में इसका गठन किया गया। लेकिन यह निष्क्रिय व दंतविहीन रहा।
13.	बीमा नियमन एवं विकास अधिनियम (Insurance Regulatory & Development Act- IRDA)	1999	मल्होत्रा समिति के सुझावों के आधार पर संपूर्ण बीमा क्षेत्र के नियमन व नियंत्रण हेतु संवैधानिक संस्थान का गठन करना।
14.	बीमा लोकपाल की नियुक्ति	1998	साधारण बीमा निगम एवं सहायक कंपनियों और जीवन बीमा निगम के बीमाधारकों की शिकायतों के निपटारे हेतु त्वरित व्यवस्था सुनिश्चित करना
15.	बीमा जन शिकायत नियमावली अधिनियम का प्रख्यापन	1998	बीमा के क्षेत्र में उपभोक्ताओं की शिकायतों के निस्तारण हेतु नियमों उपनियमों का निर्धारण
16.	एक्चुरीज (बीमांकन) अधिनियम	2006	बीमा के विभिन्न क्षेत्रों में वित्त आदर्शरूपेण और जोखिम विश्लेषण से संबंधित आवश्यक व्यवस्थाएँ सुनिश्चित करना

स्रोत :– आधुनिक बीमा विधि, डॉ० ममता चतुर्वेदी से संकलित।

देश में जीवन बीमा उद्योग की प्रगति के मद्देनज़र द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व की अवधि को भारतीय जीवन बीमा व्यवसाय का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। इस संबंध में उपलब्ध आँकड़े भी इसके प्रत्यक्ष गवाह हैं। वर्ष 1928 में जहाँ भारत में जीवन बीमा के 80 कार्यालय स्थापित थे, वहीं वर्ष 1938 में इनकी संख्या बढ़कर 280 तक पहुँच गई। साथ ही अकेले इस एक दशक में देश में बीमा क्षेत्र के वार्षिक कारोबार में डेढ़ गुना वृद्धि दर्ज की गई। यही नहीं वर्ष 1935 में देश में पअली बार एक वर्ष में 12 बीमा कंपनियों की स्थापना की गई, जो बीमा के क्षेत्र में एक वर्ष में स्थापित होने वाली कंपनियों की सर्वाधिक संख्या है। देश में वर्ष 1935 में स्थापित हुई बीमा कंपनियों में न्यू एशियाटिक वार्डन, मैट्रोपोलिटन एवं रूबी जेनेरल प्रमुख कंपनियाँ थीं, जिनका स्वतंत्र अस्तित्व वर्ष 1956 तक बरकरार रहा। देश में बीमा उद्योग को सुसंगठित तथा सुव्यवस्थित करने के उद्देश्य से भारत सरकार द्वारा 19 जनवरी, 1956 को एक अध्यादेश के माध्यम से भारतीय जीवन बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण कर दिया। इस अध्यादेश को अधिनियमित कराने हेतु जून 1956 में संसद में 'जीवन बीमा निगम अधिनियम, 1956' को पारित भी करा लिया गया। देशभर में यह अधिनियम 1 जुलाई 1956 से लागू माना गया। इस अधिनियम में निर्धारित किए गए प्रावधानों के अंतर्गत ही सहकारी क्षेत्र में भारतीय जीवन बीमा निगम की स्थापना की गई। इसके उपरांत भारतीय जीवन बीमा निगम द्वारा देश में 1 सितंबर 1956 से जीवन बीमा व्यवसाय प्रारंभ कर दिया गया। इस संबंध में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय तथ्य है कि वर्ष 1956 में बीमा क्षेत्र के राष्ट्रीयकरण से पहले देश में 154 भारतीय बीमा कंपनियाँ, 16 ग़ैर-भारतीय बीमा कंपनियाँ और 75 प्रोविडेंट सोसायटियाँ अर्थात् कुल मिलाकर 245 बीमा संस्थाएँ जीवन बीमा के व्यवसाय में कार्यरत थीं। वर्तमान में जीवन बीमा निगम द्वारा अपने मुंबई स्थित मुख्यालय तथा 7 क्षेत्रीय कार्यालयों व महत्त्वपूर्ण शहरों में स्थित अपने 100 मंडलीय कार्यालयों तथा समस्त देश में फैले 2100 से अधिक शाखा कार्यालयों के माध्यम से बीमा-संबंधी कार्य संपादित किए जाते हैं। भारतीय जीवन बीमा निगम के अपने देश के अतिरिक्त अन्य कई देशों जैसे–मॉरीशस, ब्रिटेश तथा फिजी में भी कार्यालय स्थापित किए गए हैं। वर्ष 1970 के दशक में भारत सरकार द्वारा ग़ैर-जीवन बीमा अर्थात् सामान्य बीमा की सभी निजी कंपनियों का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और इसके उपरांत वर्ष 1973 में देश में भारतीय सामान्य बीमा निगम की स्थापना की गई। इस निगम की चार सहायक कंपनियाँ यथा–ओरियंटल इंश्योरेंस, नेशनल इंश्योरेंस, न्यू इंडिया और यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कार्यरत थीं। हाल के वर्षों में 'भारतीय कृषि बीमा निगम' के नाम से सरकारी क्षेत्र में दो और विशिष्ट बीमा कंपनियों की स्थापना की गई है। [2]

देश में बीमा-क्षेत्र के उदारीकरण के बाद वर्ष 2000 में भारतीय सामान्य बीमा निगम नामक सरकारी कंपनी के संगठन से एक महत्त्वपूर्ण बदलाव भी लाया गया है। इसके अंतर्गत इस निगम की चारों सहायक कंपनियाँ अर्थात् ओरियंटल इंश्योरेंस, नेशनल इंश्योरेंस, न्यू इंडिया और यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस को अलग-अलग करके स्वायत्तता प्रदान करते हुए इन्हें सामान्य बीमा निगम के नियंत्रण से मुक्त करा दिया गया। साथ ही सामान्य बीमा निगम को राष्ट्रीय पुनर्बीमा कंपनी का नाम प्रदान कर दिया गया है। इसी समय में इस क्षेत्र में एक प्रमुख बदलाव यह भी लाया गया कि देश में पूर्व से गठित 'कंट्रोलर ऑफ़ इंश्योरेंस' के स्थान पर देश की

विभिन्न बीमा कंपनियों को नियंत्रित करने के लिए वर्ष 1999 में भारतीय जीवन बीमा नियमन व विकास प्राधिकरण का गठन किया गया। उल्लेखनीय है कि विशेष रूप से निजी बीमा कंपनियों के निवेशकों के हितों की रक्षा के साथ बीमा कंपनियों पर नियंत्रण और बीमा व्यापार के नियमन को आधार प्रदान करने के लिए सरकार द्वारा इरडा की स्थापना की गई है। इसके गठन के बाद से देश की बीमा कंपनियों का, जिसमें सरकारी कंपनियों के साथ निजी बीमा कंपनियाँ भी शामिल हैं, के नियमन और नियंत्रण का काम ज़्यादा व्यापक पैमाने पर होने लगा है, उल्लेखनीय है कि बीमा के क्षेत्र में आई॰आर॰डी॰ए॰ की वही भूमिका है, जो भूमिका टेलीकॉम के क्षेत्र में टी॰आर॰ए॰एल॰ बैंकिंग व्यवसाय के क्षेत्र में आर॰बी॰आई॰ उच्च शिक्षा के क्षेत्र में यू॰जी॰सी॰, तकनीकी व व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में 'ए॰आई॰सी॰टी॰ई॰', समाचार-पत्रों व एजेंसियों के लिए 'भारतीय प्रेस परिषद्', फ़िल्मी क्षेत्र में 'केंद्रीय फ़िल्म सेंसर बोर्ड' नामक संस्था की है। आई॰आर॰डी॰ए॰ के द्वारा बीमा कंपनियों को अपना कारोबार शुरू करने हेतु लाइसेंस देने से लेकर उनकी गतिविधि पर नज़र बनाए रखने व बीमा उत्पादों के उपभोक्ताओं और निवेशकों की धनराशि की सुरक्षा हेतु भी अनेकानेक प्रावधान निर्धारित किए गए हैं। इस संबंध में यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि बीमा कंपनियों की एक-एक हरकत पर आर॰आर॰डी॰ए॰ की पैनी नज़र है। बीमा कंपनियाँ कितना निवेश करेंगी और कहाँ निवेश करेंगी, इसके बारे में भी उन्हें इस प्राधिकरण को पूरी जानकारी देनी होती है। आर॰आर॰डी॰ए॰ को दुनिया-भर में सबसे कड़ी नियामक एजेंसियों में से एक माना जाने लगा है। हाल ही में यूलिप उत्पादों पर इसने कड़ा रुख़ अख्तियार कर यह साबित कर दिया है कि उसके लिए ग्राहकों के हितों से बढ़कर कुछ भी नहीं है। इस प्रकार की विषम परिस्थितियों से निपटने के लिए भी आर॰आर॰डी॰ए॰ द्वारा अनेक प्रावधान निर्धारित किए गए हैं।[3]

उल्लेखनीय है कि उपभोक्ताओं द्वारा निवेशित धनराशि की व्यापक सुरक्षा-प्रावधानों के अंतर्गत बीमा कंपनियों के लिए 'साल्वेंसी मार्जिन' के निर्धारण की व्यवस्था रखी गई है। वास्तव में सॉल्वेंसी मार्जिन एक ऐसी सुरक्षा-व्यवस्था है, जो यह दिखाती है कि बीमा कंपनी आपातकालीन स्थिति में अपने निवेशकों की निवेशित राशि को कहाँ तक सुरक्षित रख सकती है। आई॰आर॰डी॰ए॰ द्वारा निर्धारित किए गए प्रावधानों के मुताबिक बीमा कंपनियाँ जितनी राशि का बीमा कवरेज अपने ग्राहकों को देती हैं, उसका 150 फीसदी हिस्सा उन्हें सॉल्वेंसी मार्जिन के तौर पर जमा रखना अनिवार्य बनाया गया है। उदाहरण के तौर पर अगर कोई व्यक्ति किसी बीमा कंपनी से एक लाख रुपए का जीवन बीमा करवाता है, तो उस बीमा कंपनी को 1.5 लाख रुपए का सॉल्वेंसी मार्जिन रखना होता है। इस राशि का इस्तेमाल बीमा कंपनी द्वारा आपातकालीन परिस्थितियों में किया जाता है। बीमा क्षेत्र को निजी क्षेत्र के लिए खुलने के बाद निजी क्षेत्र में जोखिम को देखते हुए ही बीमा प्राधिकरण द्वारा भारत में 150 फीसदी का सॉल्वेंसी मार्जिन निर्धारित किया गया है, ताकि किसी भी परिस्थिति में पॉलिसी धारकों के लिए वायदा के अनुसार निर्धारित राशि लौटाया जाना संभव हो सके। वर्तमान में बीमा उद्योग में 27 प्रतिशत की औसत वार्षिक वृद्धि दर्ज की जा रही है। आई॰आर॰डी॰ए॰ में 30 जून 2008 तक एक पुनर्बीमा कंपनी के अतिरिक्त 20 कंपनियाँ जीवन बीमा के क्षेत्र में और 21 कंपनियाँ सामान्य बीमा क्षेत्र में कुछ 41 बीमा कंपनियाँ पंजीकृत हैं। 4 इन कंपनियों में आपस में घोर प्रतिस्पर्धा है और इनके

द्वारा देश के कोने-कोने में अपने कार्यालयों का विस्तार किया जा रहा है।

भारत में वर्तमान में कार्यरत बीमा कंपनियाँ

जीवन बीमा कंपनियाँ	साधारण बीमा कंपनियाँ
1. बजाज एलाइंज लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	1. बजाज एलाइंज जनरल इंश्योरेंस कं॰लि॰
2. बिरला सन लाइफ़ कंपनी लिमिटेड	2. आई॰सी॰आई॰सी॰आई॰ जनरल इंश्योरेंस कं॰ लि॰
3. एच॰डी॰एफ॰सी॰ स्टैंडर्ड लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	3. इफको टोकिया जनरल इंश्योरेंस कं॰लि॰
4. आई॰सी॰आई॰सी॰आई॰ प्रोडेंशल लाइफ इंश्योरेंस कं॰लि॰	4. नेशनल इंश्योरेंस कं॰लि॰
5. आई॰एन॰जी॰ वैश्य लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰ लि॰	5. द न्यू इंडिया इंश्योरेंस कं॰लि॰
6. लाइफ़ इंश्योरेंस कार्पोरेशन आफ इंडिया	6. द ओरियंटल इंश्योरेंस कं॰लि॰
7. मैक्स न्यूयार्क लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	7. रिलायंस जनरल इंश्योरेंस कं॰लि॰
8. मेट लाइफ़ इंडिया इंश्योरेंस लाइफ इंश्योरेंस लि॰	8. रायल सुंदरम एलायंस इंश्योंरेस कं॰ लि॰
9. कोटक महिंद्रा ओल्ड म्यूचुअल लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰ लि॰	9. टाटा ए॰आई॰जी॰ जनरल इंश्योरेंस कं॰लि॰
10. एस॰बी॰आई॰ लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	10. यूनाइटेड इंडिया इंश्योरेंस कं॰लि॰
11. टाटा इ॰आई॰जी॰ लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	11. चोलमंडलम एम॰एस॰ जनरल इंश्योरेंस कं॰लि॰
12. रिलायंस लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	12. एच॰डी॰एफ॰सी॰ इरगो जनरल इंश्योरेंस कं॰लि॰
13. अवीवा लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	13. एक्सपोर्ट क्रैडिट गारंटी कार्पोरेशन आफ़ इंडिया
14. सहारा इंडिया लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	14. एग्रीकल्चर इंश्योरेंस कं॰आफ़ इंडिया लि॰
15. श्रीराम लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	15. स्टार हैल्थ एंड एलाइड इंश्योरेंस कं॰लि॰
16. भारती ए॰एक्स॰ए॰ लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	16. अपोलो डी॰के॰वी॰ इंश्योरेंस कं॰लि॰
17. फ़्यूचर जेनेरली इंडिया लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	17. फ़्यूचर जेनेरली इंडिया इंश्योरेंस कं॰लि॰
18. आई॰डी॰बी॰आई॰ फोर्टीस लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	18. यूनीवर्सल सोम्पो जनरल इंश्योरेंस कं॰लि॰

19. केनरा एच॰एस॰बी॰सी॰	19. श्रीराम जनरल इंश्योरेंस कं॰लि॰
20. ओरियंटल बैक आफ़ कॉमर्स लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	20. भारती ए॰एक्स॰ए॰ जनरल इंश्यों॰ कं॰लि॰
21. एजोन रैलीगेयर लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	
22. डी॰एल॰एफ॰ प्रमेरिका लाइफ़ इंश्योरेंस कं॰लि॰	

इस प्रकार हमने इस बिंदु के अंतर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था में जीवन बीमा से संबंधित प्रमुख तथ्यों का प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही जीवन बीमा की वर्तमान दशा एवं दिशा को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिससे प्रस्तुत विषय की उपयोगिता को सहजता से समझा जा सकता है। यहाँ यह तथ्य वर्णित करना आवश्यक है कि विषय का वर्तमान आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में जितना योगदान है, ठीक उसी तरह संदर्भित विषय के बारे में जानकारी होना भी नितांत आवश्यक है।

संदर्भ

1. आधुनिक बीमा विधि, डा॰ ममता चतुर्वेदी से संकलित।
2. भारतीय जीवन बीमा की विभिन्न वार्षिक रिपोर्टों से संकलित।
3. प्रतियोगिता दर्पण विशेषांक लेख से उद्धृत
4. इरडा वार्षिक रिपोर्ट 2008-09 वेबसाइट से उद्धृत
5. प्रभारी 2008, जीवन बीमा निगम, उत्तर मध्य क्षेत्र, कानपुर।

पर्यावरण संचेतन में शिक्षक की भूमिका

कु॰ संगीता यादव, शोधार्थी
डॉ॰ सविता सिंह, शोध-निदेशक
शिक्षा विभाग
ए॰के॰ कालेज, शिकोहाबाद (उ॰प्र॰)

पर्यावरण का शाब्दिक अर्थ है चारों ओर से वरण (घिरा हुआ) अथवा आवरण, जो कि प्राकृतिक, सामाजिक, रासायनिक, जैविक आदि तत्त्वों के विभिन्न रूपों से मानव को प्रभावित करता है, जिसके द्वारा मानव की जीवन का निर्धारण होता है; लेकिन आज मानवीकृत घटनाओं के कारण इस आवरण (सुरक्षा कवच) को क्षति पहुँच रही है कल-कारखानों, वाहनों, विलासितापूर्ण जीवनशैली, बिल्डिंगीकरण, सीवरेज सिस्टम, प्रेशर हार्न, विद्युत-उत्पादन, बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए अधिक अन्न-उत्पादन एवं अधिक अन्नोत्पादन के लिए नए-नए तरीक़े, रासायनिक खाद, इंजेक्शन लगाकर सब्ज़ियों व फलों को बड़ा आकार देना, कीटनाशक दवाओं का अधिक प्रयोग, शहरों में कैमिकल्सयुक्त सीवर के पानी से हानिकारक सब्ज़ियों का उत्पादन, विभिन्न देशों द्वारा अपने को महाशक्ति घोषित करने के लिए परमाणुगत विस्फोट, विकास के नाम पर जंगलों का विनाश, भूमिगत दोहन, नदी-नलों का प्रदूषण, जल की कमी, मानवीय जंतुगत एवं तकनीकि-जनित कचरा, अपने-आपको उच्च दिखाने की प्रतियोगात्मक दौड़, नैतिक मूल्यों का ह्रास, भाषावाद, क्षेत्रवाद, धार्मिक कट्टरता, अंधविश्वास एवं अशिक्षा आदि के कारण पर्यावरण एवं मानव के मध्य अंतर लगातार बढ़ता जा रहा है।

वर्तमान समय में ग्रीन हाउस प्रभाव, पिलर मैल्टिंग, ग्लोबल वार्मिंग, ओजोन परत में छिद्र, पर्यावरण शृंखला में बाधा, जल, युद्ध, खाद्यान्न समस्या, ऊर्जा संकट, बेरोज़गारी, भुखमरी, ग़रीबी, सामाजिक विघटन, नैतिक व चारित्रिक पतन, सूमोटाइप बच्चों का जन्म, समय से पूर्व शारीरिक परिपक्वता, नई-नई शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों तथा असामयिक प्राकृतिक घटनाओं आदि ने मानव-जीवन के अस्तित्व पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है।

यदि इन सभी कारणों की सतह में हम जाएँ तो पाएँगे कि इन घटनाओं एवं परिस्थितियों के लिए मात्र हम ही ज़िम्मेदार हैं।

मिट्टी, पानी, अग्नि, गगन एवं वायु इन सभी तत्त्वों से मिलकर मानव-जीवन का निर्माण होता है। इसीलिए प्रकृति तथा मानव के मध्य सामंजस्य परम आवश्यक है। एक बार भी यदि यह संतुलित बाधित हो जाता है तो विनाश का भयंकर प्राकृतिक प्रकोप दिखाई देने लगता है।

जब तक मानव पर्यावरण का संरक्षण करता है, तब तक वह विकास की ओर अग्रसर होता है और जब वह पर्यावरण की उपेक्षा करने लगता है, तब उसकी विनाश-प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। क्योंकि जब तक जीवनदायिनी तत्त्वों की शुद्धता एवं उपलब्धता संरक्षित है, तभी तक हमारा जीवन शुद्ध एवं अस्तित्वमय है। पर्यावरण के संतुलन से ही जीवनचर्या नियमित एवं नियंत्रित होती है।

सुखी जीवन प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अंतिम लक्ष्य होता है। उसकी इच्छाएँ होती हैं कि उसे शुद्ध जल, शुद्ध वायु, अमिश्रित भोजन, साफ़-सुथरा आवास, अच्छा पास-पड़ोस तथा मनोरंजन के अच्छे साधन प्राप्त हों। लेकिन हमने प्रकृति से निशुल्क प्राप्त वस्तुओं की अवहेलना कर स्वयं अपनी सुविधा एवं स्वार्थसिद्धि के लिए प्रकृति से छेड़-छाड़ करने का धृष्टतम प्रयास किया है, जिसका नतीजा हमें वर्तमान और भविष्य दोनों में भुगतान ही होगा। जनसंख्यावृद्धि एवं विलासितापूर्ण जीवन-शैली के कारण मानवीय आवश्यकताएँ असीमित रूप से बढ़ती जा रही हैं, जिसमें पृथ्वी के सीमित संसाधनों पर अत्यधिक दबाव पड़ रहा है। विद्वानों का मानना है कि 'जिस देश में जनसंख्या बढ़ जाती है, वहाँ प्रकृति द्वारा अवरोध उत्पन्न कर दिए जाते हैं। इनमें सूखा, अतिवृष्टि, बाढ़ तथा भूकंप आदि का प्रकोप बढ़ जाता है।'

परिणामत: प्राकृतिक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। पूर्व प्रधानमंत्री स्व॰ इंदिरा गांधी ने एक गोष्ठी में कहा था कि 'निर्धनता एवं आवश्यकताएँ वास्तव में सबसे बड़े प्रदूषण हैं।'

विश्व पर्यावरण का व्यवहार लगातार बदल रहा है, परिणामत: विश्व के अंदर सभी प्रकार की जलवायु परिवर्तित हुई है। यदि इसके बदलने की यही गति आगामी दशकों तक बनी रही तो वह दिन दूर नहीं, जब इस पृथ्वी पर बसनेवाले जीव-जंतु, पशु-पक्षी एवं पौधों तक का अस्तित्व ख़तरे में पड़ जाएगा और हमारे पास बचेगा मात्र पछतावा। 'एक अनुमान के तौर पर इस पृथ्वी पर लगभग छह अरब मानव निवास करते हैं। माना जाता है कि इस मानव-समूह के चलते आठ लाख प्रजातियों के कीड़े, 41 सौ तरह के स्तनपायी प्राणी, 25 हज़ार प्रकार की मछलियाँ, तीन लाख प्रजातियों के पेड़-पौधे, 65 सौ प्रकार के जीव-जंतुओं का जीवन ख़तरे में है।' इसका कारण साफ़ है, मनुष्य अपनी सुख-सुविधाओं के लिए प्रकृति के साथ खिलवाड़ कर रहा है। समय-समय पर प्रकृति का कोप मनुष्य को सुनामी बाढ़, सूखा, भूकंप, महामारियों तथा कभी न ठीक होने वाली बीमारियों आदि के रूप में भोगना पड़ रहा है और यदि हम ऐसी विकराल परिस्थितियों के बाद भी जागरूक नहीं हुए तो भविष्य में क्या-क्या, किन-किन रूपों में भुगतान होगा, यह अभी ज्ञात भी नहीं है।

पर्यावरण-संरक्षण एवं प्रबंधन का कार्य चाहे कितना भी छोटा एवं सतही रूप में क्यों न हो, संचालित अवश्य किया जाए, क्योंकि सतही उपाय ही भविष्य में जनसमूह के द्वारा वृहद रूप धारण कर लेंगे। कोई भी योजना पेड़ पकड़कर फ़ोटो खिंचवाने तथा काग़ज़ों तक सिमटकर नहीं रहनी चाहिए। हमारा यदि यही हाल रहा तो वह दिन दूर न होगा, जब हमारे जीवन की कहानी पुष्प समर्पित फ़ोटो एवं काग़ज़ों में ही सिमटकर रह जाएगी। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में विभिन्न प्रश्न उठते हैं कि स्वयं, समाज व विश्व पर प्रदूषण का क्या प्रभाव होगा? दिन-प्रतिदिन बढ़ रहे प्रदूषण को रोकने के लिए एवं जनमानस तैयार करने का कार्य किसको

सौंपा जाए? हमारे किन-किन कार्यों से पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है, की जानकारी किसके द्वारा किनकी सहायता से दी जा सकती है? पर्यावरण-संरक्षण एवं प्रबंधन क्यों, कैसे और किसके द्वारा किए जाए? यह उत्तरदायित्व मुख्य रूप से कौन निभा सकता है, जिसके द्वारा पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन के उचित एवं सतही कारगर उपाय क्रियान्वित किए जा सकें? तब हमें एक ही उत्तर प्राप्त होता है, समाज के संचारक एवं चाबी शिक्षकगण।

शिक्षक ही समाज का भविष्य-निर्माता तथा सूचना का वाहक होता है। शिक्षक का कार्य मात्र सूचनाएँ देना ही नहीं, बल्कि क्रियाओं को करके दिखाने का भी होता है। कहा भी गया है कि Teacher is not only a source but also a resource (शिक्षक स्रोत ही नहीं बल्कि साधन भी है।) वर्तमान में इस बात की आवश्यकता है कि शिक्षकों एवं छात्रों द्वारा पर्यावरण-संरक्षण एवं प्रबंधन के प्रति समाज में चेतना उत्पन्न की जाए। यद्यपि इस बारे में सरकार द्वारा समय-समय पर सराहनीय कार्य किए गए और किए भी जा रहे हैं, लेकिन इनको ही पर्याप्त नहीं समझना चाहिए। पर्यावरण-संरक्षण में हमारा भी क्या प्रयास हो सकता है? ज़रा सोचिए ... और शीघ्र ही कार्य को क्रियान्वित करना प्रारंभ कीजिए। पर्यावरण-संरक्षण एवं प्रबंधन में शिक्षक के उत्तरदायित्व, इस प्रकार हो सकते हैं–

1. रोल मॉडल :

पूर्व राष्ट्रपति ए॰पी॰जे॰ अब्दुल कलाम ने कहा था। कि 'सर्वप्रथम शिक्षक को प्रत्येक क्षेत्र में रोल मॉडल बनना चाहिए।' पर्यावरण-संरक्षण एवं प्रबंधन के प्रति शिक्षक स्वयं भी जागरूक हो तथा स्वयं वृक्ष लगाना, साफ़-सफ़ाई, नैतिक-चारित्रिक एवं सामाजिक गुणों को अपने जीवन में अंगीकृत करता हो, तभी छात्र एवं समाज के लोग इन गुणों को अपने जीवन में उतारेंगे।

2. शिक्षक प्रभाव :

'एक विद्यार्थी 12 वीं तक की अपनी पढ़ाई के दौरान 25 हज़ार घंटे स्कूल में व्यतीत करता है और उसका जीवन अपने शिक्षकों से ज़्यादा प्रभावित होता है।' यह बाल्यावस्था से लेकर किशोरावस्था तक का समय ऐसा होता है, जिसमें बच्चों में पर्यावरण-संरक्षण एवं प्रबंध जैसी विभिन्न आदतों का विकास किया जा सकता है। इसलिए आवश्यक है कि शिक्षक पर्यावरणीय विभिन्न तकनीकों से छात्रों को अवगत कराएँ तथा उनमें प्रारंभ से ही नैतिक गुणों एवं अच्छी आदतों का विकास करें।

3. सांस्कृतिक एवं सामुदायिक कार्यक्रम :

शिक्षक समाज को जागरूक करने के लिए कुछ विशेष कार्यक्रम जैसे एन॰सी॰सी॰, एन॰एस॰एस॰, स्काउट गाइड्स एवं अन्य सभी छात्रों के सहयोग से विद्यालय के अंदर व बाहर नुक्कड़ नाटक, पर्यावरण गीत एवं विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि की सहायता से जन-आंदोलन ला सकते हैं। छात्र पर्यावरण-संरक्षण एवं प्रदूषित स्थिति का प्राकृतिक वेश-भूषा पहनकर प्रचार-प्रसार कर सकते हैं तथा छात्रों एवं शिक्षकों द्वारा स्वयं समाज में वृक्षारोपण किया जा सकता है।

4. जागरूकता रैली एवं बोलती दीवारें :

समाज में पर्यावरण-संरक्षण के प्रति जन-चेतना फैलाने के लिए शहरों एवं विशेष तौर से गाँवों की गलियों में जागरूकता रैली निकाल सकते हैं तथा दीवारों पर पर्यावरण से संबंधित उपयुक्त स्लोगन, संरक्षण एवं प्रदूषण की स्थिति के वास्तविक चित्र स्वयं व छात्रों के सहयोग से लिख/ बना सकते हैं।

5. अकादमिक कार्य एवं सृजनात्मकता :

शिक्षक, विद्यालय में पर्यावरण-संरक्षण से संबंधित लेख, वाद-विवाद प्रतियोगिता, सेमीनार, वर्कशाप तथा कांफ्रेंस आदि आयोजित कर छात्रों को प्रेरित कर सकते हैं तथा विद्यालय में पत्रिका प्रकाशन का सुझाव दे सकते हैं, जिसमें पर्यावरण-शिक्षा से संबंधित विभिन्न विषयों के साथ-साथ उसकी उपयोगिता बढ़ाने के लिए अन्य विषयों के भी लेख हों, चाहे उनका स्तर कुछ भी हो, जिससे छात्रों में सृजनात्मकता का विकास भी होगा और प्रदूषण/संरक्षण के बारे में मौलिक विचार भी मिलेंगे।

6. लैब एवं प्रकोष्ठ :

विभिन्न विषयों की भाँति विद्यालय स्तर पर भी पर्यावरण-शिक्षा के लिए एक लैब तथा प्रकोष्ठ की व्यवस्था की जानी चाहिए, ताकि शिक्षक ओ॰एच॰पी॰, टी॰वी॰, सी॰डी॰, चार्ट, मॉडल एवं स्वयं प्रयोग/ परीक्षण आदि के द्वारा छात्रों को पर्यावरण-प्रदूषण के कारण उत्पन्न भयावह दृश्यों को दिखा व सुना सकें। परिणामत: छात्रों में पर्यावरण-संरक्षण के लिए संवेदना एवं जिज्ञासा उत्पन्न होगी।

7. भ्रमण :

शिक्षक छात्रों को भ्रमण के द्वारा प्रदूषण, गंदी बस्तियों एवं विकराल रूप धारण कर चुके असहाय जीवन जीने को मजबूर व्यक्तियों, परिस्थितियों तथा स्वच्छ वातावरण के द्वारा उत्पन्न शांति, ईमानदारी, साफ़-सफ़ाई एवं प्राकृतिक हरियाली को साक्षात् रूप में दिखा सकते हैं।

8. मीडिया :

शिक्षक टी॰वी॰, डिश आदि पर पर्यावरण से संबंधित कार्यक्रमों आदि देखने को प्रोत्साहित कर सकते हैं, जिससे छात्र पर्यावरण से संबंधित डाक्यूमेंटरी फ़िल्म व फ़ोटोग्राफ़ी आदि के द्वारा समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों एवं सुधारों से निरंतर परिचित होते रहेंगे। छात्रों को पर्यावरण से संबंधित मैगज़ीन, पीरियोडिकल्स, जर्नल्स एवं समाचार-पत्र आदि को पढ़ने एवं जगह-जगह पोस्टर लगाने को दिए जाएँ तथा बाद में किस छात्र ने इनसे क्या ग्रहण किया तथा कार्यक्रम कैसा चल रहा है, के लिए 'फॉलोअप प्रोग्राम' चलाए जाएँ।

9. पर्यावरण वाहिनी/इको-फ्रेंडली क्लब/आपदा-प्रबंधन दल:

विद्यालय स्तर में इनका गठन कर जनमानस में पर्यावरण-संरक्षण सुधार एवं प्रदूषण के प्रति चेतना तथा उनकी संबद्धता उत्पन्न की जा सकती है। छात्र, जनता को पर्यावरण के

अनुकूल उत्पादन की जानकारी दे सकते हैं। शिक्षक देव संस्कृति विश्वविद्यालय शांति कुज, हरिद्वार एवं विभिन्न एन॰जी॰ओ॰ आदि की भाँति विद्यालय/विश्वविद्यालय स्तर पर आपदा-प्रबंधन दलों का गठन कर छात्रों को देशहित में लगा सकते हैं। भविष्य की ज्वलंत जल-समस्या से निपटने के लिए समाज को 'वाटर हार्वेस्टिंग' के लिए शिक्षित किया जा सकता है।

10. प्रोजेक्ट कार्य/क्रियात्मक शोध :

शिक्षक, पर्यावरण शिक्षा से संबंधित छोटे-छोटे प्रोजेक्ट कार्य तथा शीघ्र ही समाधित होनेवाले 'समस्या हमारी समाधान भी हमारा' के उद्देश्य पर आधारित क्रियात्मक शोध व्यक्तिगत या समूह में दे सकते हैं तथा विद्यालय के अन्य सभी छात्रों का सहयोग भी प्राप्त कर सकते है। जिससे हमारे पास समूह रूपी ऐसी पौध तैयार होगी, जो भविष्य में पर्यावरण के प्रति सचेत एवं संवेदनशील होगी।

11. मातृबालिका शिक्षा एवं व्यर्थ उत्पादन (वैस्ट-प्रोडक्ट) :

पर्यावरण-शिक्षा यदि बालिकाओं को मुख्य से दी जाए तो अति उत्तम रहेगा, क्योंकि यह भविष्य की माता होगी और माता ही पर्यावरण-संरक्षण एवं प्रबंधन के बीज बच्चों में डाल सकती है।

मार्गरेट थ्रेचर : 'अगर कोई कार्य बताना हो, तो पुरुष से कहें लेकिन यदि कोई कार्य कराना हो तो महिलाओं से कहें।' बालिकाएँ घरेलू वेस्ट उत्पादन का पुनः प्रयोग कर सकती हैं। जैसे—पॉलीथीन के स्थान पर पुरानी पेट्स कपड़ों व टाट के थैले, बेग एवं दरी आदि। विद्यालय स्तर पर ही छात्रों को व्यर्थ पदार्थ का जैविक खाद बनाना सिखाया जाए।

12. इमोशनल क्वाशिएंट (ई॰क्यू॰) :

शिक्षक का मुख्य कर्त्तव्य है कि वह छात्रों में भावात्मक बुद्धि का विकास करे, ताकि छात्रों का पशु-पक्षियों, वृक्षों एवं समाज के प्रति भावात्मक लगाव पैदा हो। हम नए बच्चों के जन्म के अवसर पर, मृत वरिष्ठों की स्मृति में, महान व्यक्तियों की पुण्य तिथियों में या महत्त्वपूर्ण सामाजिक अवसरों जैसे—जन्मदिन, विवाह तथा परीक्षा में सफलता आदि पर भी 'स्मृति वृक्षारोपण' कर सकते हैं। विद्यालय में अध्ययन के समय एक पेड़ की देखभाल का उत्तरदायित्व छात्र को सौंप सकते हैं तथा शिक्षा-उपरांत एक पेड़ छात्र को शिक्षक द्वारा उपहार में दिया जाए। ऐसे वृक्षों की यादें जुड़ी होंगी, जिससे उनका पेड़ों के प्रति भावात्मक लगावा भी होगा और उनकी देखभाल स्वयं ध्यानपूर्वक करेंगे।

13. स्प्रिचुअल क्वॉशिएंट (एस॰क्यू॰) :

वर्तमान में समय आ गया है कि आध्यात्मिक बुद्धि को बढ़ावा दिया जाए। 'आध्यात्मिकता का अर्थ है अपने अस्तित्व का ज्ञान। वह ज्ञान, जो हमें बोध कराए कि हम कौन हैं, क्यों हैं और हमारा उद्देश्य और लक्ष्य क्या है।' अपने-आपको जानकर ही हमारी स्वयं, पर्यावरण एवं राष्ट्र के प्रति क्या ज़िम्मेदारी है, को समझ सकते हैं। आध्यात्मिक आंदोलन से ही पर्यावरण-संरक्षण किया जा सकता है, क्योंकि हमारे सभी धर्मों ने इसको प्राथमिकता दी है। छात्रों में पर्यावरण-संरक्षण एवं प्रबंधन के लिए जोश, जज़्बा और जुनून विकसित करने एवं

योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए एक 'स्प्रिचुअल सर्कल' (आध्यात्मिक मंडल) का गठन किया जा सकता है।

विश्व के यदि सभी सेवारत एवं सेवानिवृत शिक्षक स्वयं तथा छात्रों के सहयोग से पर्यावरण-संरक्षण एवं प्रबंध के प्रति समाज को जागरूक कर जनचेतना फैलाएँ तो भविष्य की एक महान विभीषिका से आनेवाली पीढ़ियों की रक्षा की जा सकती है, क्योंकि शिक्षक का एकल प्रयास ही भविष्य का सामूहिक प्रयास होगा। शिक्षकों के साथ-साथ समाज के सभी लोगों का भी पर्यावरण-संरक्षण में क्या कोई योगदान हो सकता है। इसी आवाह्न के साथ एक शायर का कथन है–

भले शज़र न सही, सिर्फ़ घास रहें दो।
ज़मीं के ज़िस्म पे कुछ तो लिवास रहने दो।

संदर्भ

1. के॰के॰ सक्सेना एवं आर॰के॰ त्यागी, पर्यावरण शिक्षा एवं आपदा-प्रबंधन
2. जी॰एस॰ वर्मा, पर्यावरण अध्ययन
3. दैनिक जागरण, पृथ्वी पर संकट
4. एम॰के॰ गोयल, पर्यावरण शिक्षा
5. अखंड ज्योति, क्रांति और संकल्प की नई पौध निखर रही है।' मथुरा अखंड ज्योति संस्थान, अंक 1 जनवरी, ए॰कुमार, स्मृति वृक्षारोपण, एक समाधान प्रौढ़ शिक्षा जर्नल, नई दिल्ली भारतीय प्रौढ़ शिक्षा, संघ, अंक 9-10 अप्रैल-मई
6. दैनिक जागरण, जोश विशेषांक, बरेली संस्करण, मार्च 7

शोषण एवं संघर्ष की प्रतिमूर्ति : दलित महिलाएँ

प्रवीणकुमार, शोधकर्त्ता
डॉ॰ राजेश कुमार, शोध-निदेशक
अध्यक्ष इतिहास विभाग
धर्मसमाज महाविद्यालय, अलीगढ़ (उ॰प्र॰)

दलित समाज जहाँ एक ओर अपने अंदर एक मध्यवर्ग के उदय से जुड़ी समस्याओं से जूझ रहा है, वहीं उसे दलित-आंदोलन के भीतर एक और आंदोलन की आहट भी सुनाई पड़ रही है। (यह है दलित महिलाओं का आंदोलन, जो समग्र महिला समुदाय के मुक्ति-आंदोलन का हिस्सा होने के साथ-साथ दलित समाज में पितृसत्ता का प्रश्न उठाता है।) दलित महिलाओं की त्रासदी यह है कि उन्हें एक गाल पर ब्राह्मणवाद का तो दूसरे गाल पर पितृसत्ता का थप्पड़ खाना पड़ता है।

डॉ॰ अंबेडकर ने दलितोद्धार आंदोलन को ध्यान में रखते हुए 20 जुलाई 1924 को बंबई में 'बहिष्कृत हितकारणी सभा' की स्थापना की।[1] इससे प्रेरित होकर सैकड़ों महिलाओं ने इस सभा में भाग लिया। इसमें वेणुवाई भटकर तथा रंगबाई शुभकर आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अमरावती में 13 नवबंबर 1927 में हुए मंदिर प्रवेश के लिए सम्मेलन तथा चावदार तालाब से पानी लेने के लिए किए गए 'महाड़ सत्याग्रह' आंदोलन में महिलाओं की हिस्सेदारी काफ़ी थी। डॉ॰ अंबेडकर का मानना है कि महिलाओं को चाहिए कि वे स्वयं अपने पैरों पर खड़ी हों। फलस्वरूप जनवरी, 1928 बंबई में महिला मंडल की स्थापना हुई, जिसकी अध्यक्षा स्वयं डॉ॰ अंबेडकर की पत्नी रमाबाई थीं। रमाबाई जी के अथक् प्रयासों के फलस्वरूप 1930 में नागपुर में आयोजित 'डिप्रेस्ड क्लासेस सम्मेलन'[2] में बहुत-सी महिलाओं ने भाग लिया। बाबासाहेब ने धर्म-परिवर्तन के समर्थन में 16 जून 1936 को 'देवदास ठक्कर हाल' बंबई में वेश्याओं की एक सभा को संबोधित किया और कहा 'मैं आग्रह करता हूँ यदि आप हमारे साथ आना चाहती हैं तो आपको अपना यह अपमानजनक जीवन त्यागना होगा। कमाठीपुरा की महार स्त्री-जाति के लिए यह कलंक है।[3] और 'आप मुझसे पूछेंगी कि जीविका कैसे चलेगी? तो इसके लिए सैकड़ों रास्ते हैं, लेकिन मैं आग्रह करता हूँ कि आपको इस अपमानित जीवन को त्यागना चाहिए। आपको चाहिए कि अन्य महिलाओं की तरह शादी कर सामान्य जीवन बिताएँ।'[4] बाबा साहेब के आग्रह का बंबई की वेश्याओं पर तत्काल असर पड़ा। उनमें से कई इस पेशे को छोड़कर सामाजिक संघर्ष में उतरीं। उस समय उनके बीच एक संगठन की भी स्थापना

की गई, जिसका मूल उद्देश्य ऐसी महिलाओं को वेश्यावृत्ति से निकालना था।[5]

वैसे तो पूरे भारतीय समाज की स्त्रियाँ पितृसत्ता की विसंगतियों के बोझ के नीचे कराह रही थीं, लेकिन दलित स्त्रियों को न केवल अपने समाज की पितृसत्ता को झेलना पड़ता था, बल्कि सवर्ण समाज की पितृसत्ता भी उनका शोषण और दमन करती थी।[6]

केरल की पुलिया जाति के पुरुष और महिला दोनों ही घास के बनाए कपड़े पहनते थे।[7] कहीं-कहीं महिलाओं को ऊपरी वस्त्र पहनने की इजाजत नहीं थी। पुरुष लगभग अर्धनग्न रहते थे। केरल में ही कुछ स्थानों पर दलित समाज की महिलाओं को अपने वक्ष ढँकने की इजाजत नहीं थी।[8] स्त्रियों पर कठोर सामाजिक बंधन थे। इस निषेध का उल्लंघन करने पर उनको कठोर सज़ाएँ दी जाती थीं। ट्रावनकोर के पूर्वी ज़िले में दलितों की स्थिति और भी ख़राब थी। उन्हें सड़कों पर आने-जाने की मनाही थी। बाज़ार में प्रवेश निषेध था।[9]

दिसंबर 1930 में रामनाड ज़िले की एक प्रभु जाति कल्लर और दलितों के बीच संघर्ष हुआ।[10] जिसमें कल्लरों ने दलितों के लिए आठ निषेध घोषित किए, जिनका उल्लंघन करने पर वे दलितों के साथ मारपीट करते थे। उनकी झोंपड़ियाँ जला दी जाती थी। उनमें से दो निषेध[11] महिलाओं के लिए भी थे : दलित स्त्रियाँ अपने शरीर का ऊपरी भाग कपड़ों से खुकई (ब्लाउज) या तावीण (चोगे की तरह पहने जानेवाला वस्त्र) से नहीं ढकेंगी और वे फूल या केसर का लेप नहीं लगाएँगी। दरअसल, ऐसे निषेध उस समय देश-भर में लागू थे। कहीं थोड़े उदार, तो कहीं अनुदार।

राजस्थान में भी दलितों पर कड़े नियम थे। अधिकांश दलित महिलाएँ दासियाँ और रखैलों की स्थिति में थीं। हिंदी-क्षेत्र के अन्य राज्यों में दलित महिलाओं को विवाह की पहली रात किसी नवाब, जमींदार, पटेल के साथ गुज़ारने पर विवश होना पड़ता था। इस प्रथा को नकारने या न मानने वालों को दंड दिया जाता था।[12]

निम्न वर्ग की नारी की विडंबना यह रहती थी कि उसका शोषण उस वर्ग तक ही सीमित नहीं था। उच्च व मध्यम वर्ग के लोग भी इसमें पीछे न रहते थे। चौरासी मिलक का मालिक जबरन एक डोम की पत्नी से खुलेआम रमण करता था। पत्नी के साथ स्वयं सारी रात सोता और पति से सारी रात, गायन करवाता। गाने के लिए न आने पर उसकी पिटाई की जाती थी।[13]

एक ओर निम्न वर्ग की स्त्रियों को जहाँ सामाजिक स्तर पर समानता व बराबरी के अधिकार की बात कहते हैं, वहीं दूसरी तरफ़ उनका यह भी मानना है कि उन्हें जातिगत रीति-रिवाजों और बंधनों में ही रखने या रहने के लिए विवश किया जाता था। उनका नाता या पुनर्विवाह अपनी ही जाति में करना उचित एवं सम्मानजनक माना जाता था। अंतर्वगीय या अंतर्जातीय संबंधों को अच्छा नहीं माना जाता था।[14] और कुछ दलित महिलाओं का विवाह तो हो ही नहीं पाता था। इसका कारण था, उन पर किसी द्विज पुरुष की नज़र पड़ जाना। दलित महिलाएँ सस्ती और आम समझी जाती थीं।

अक्सर यह सवाल उठाया जाता है कि क्या दलित और औरत के बीच कोई समानता हो सकती है। संसद में पेश किए गए आँकड़े साबित करते हैं कि आतताइयों की नज़र में औरत और दलित एक समान हैं। लेकिन यह एक अधूरी सच्चाई ही है। असल में सवर्ण आतताइयों

की नज़र में औरत और दलित एकसमान नहीं हैं। बलात्कार की अधिकांश घटनाएँ दलित महिलाओं पर ही होती हैं। सवर्ण महिलाएँ इस खौफ़नाक दर्द से एक सीमा तक अभी दूर हैं। ‘क्यों नहीं किसी गाँव में किसी ब्राह्मण महिला की साड़ी उतारी जाती’? [15]

दलित समाज की अधिकांश महिलाएँ खेतिहर मजदूर हैं, जो बहुत कम मज़दूरी पर काम करती हैं। उन्हें हर रोज़ बेरोज़गारी का सामना भी करना पड़ता है। नीची जाति से संबंधित होने के कारण आर्थिक रूप से उच्च जाति के अमीर लोगों पर आश्रित होने से उन्हें बलात्कार और सब तरह की हिंसा का शिकार होना पड़ता है।[16]

देखा जाए तो महिला आयोग में दलित महिलाओं का प्रतिनिधित्व भी नहीं है। दलित वर्ग की महिलाओं के उत्थान-कल्याण एवं उनकी समस्याओं को निपटाने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर अलग से ‘दलित महिला आयोग’ ‘दलित महिला कोष’ की स्थापना की जाए, जो पूर्ण रूप से इस वर्ग की महिलाओं के लिए कार्य करे।

‘भारतीय समाज-संरचना में जाति एक बहुत बड़ा फैक्टर है। इसी कारण विशेष रूप से राजस्थान में दलित-उत्पीड़न की घटनाएँ बढ़ी हैं।’ इसी कारण भँवरीबाई मर्दवाद और वर्णवाद दोनों का शिकार रही। जाति-अहंकार को समझने के लिए स्वयं भँवरीबाई आपबीती का उल्लेख आवश्यक है :

‘मैं भँवरी बाई, [17] जाति नट, अपने पिता की इकलौती पुत्री, पिता कवि थे। धर्म पर विश्वास करते थे। गीता-रामायण सुनने का शौक़ था। छोटी-छोटी बातों पर माँ को मारते-पीटते थे। मुझे भी पीटते थे। पक्के मर्दवादी थे। मेरे बाद चार भाई हुए और जन्मते ही उनकी मृत्यु हो गई। मुझे अवसगुनि कहते थे। सात वर्ष की आयु में मेरी शारी हो गई। शादी के एक वर्ष बाद मेरे पति की मौत हो गई। अब और ज़्यादा अवसगुनि कहने लगे। अंत समय में अपने मोक्ष के लिए मुझे पाँचवी कक्षा तक पढ़ाया। 15 वर्ष की आयु में मेरा नाता दूसरे से कर दिया। मेरा पति शराबी था। गाँव में ढोल बजाता और माँगकर खाता था। मुझे शुरू से ही माँगने से नफ़रत थी। मैं माँगने नहीं जाती थी। गाँव के ऊँची जाति के लोग मुझसे जलते थे। मैं छोटी-मोटी सिलाई करना जानती थी और गाँव में प्रौढ़-शिक्षा, आँगनबाड़ी चलाती थी।

मेरी मेहनत को देखते हुए लोगों ने अपने बच्चों को मेरे पास पढ़ने भेजा। इसी बारे में राज्य सरकार ने मुझे पाँच हज़ार रुपए इनाम दिए। बाद में मेरा ईसाई मिशनरी सिस्टर से संपर्क हुआ। उन्होंने छुआछूत की वजह से 14 अप्रैल 1984 को गाँव में अंबेडकर जयंती मनाने का प्रावधान रखा। सवर्ण समाज के लोग भड़क गए। अतिथियों पर पत्थर बरसाए और बैनर फाड़ डाले, गाली-गलौज की। शाम को गाँव में पंचायत बैठी, जिसमें हमारे घर पर पाबंदी लगा दी। गाँव से पानी भरना, किसी से बात करना आदि पर रोक लग गई। [18] गाँव में ही बैरवा जाति (दलित) के 15 घर थे, उन्होंने भी भँवरी का साथ नहीं दिया। भँवरी किसी प्रथाओं, परंपराओं, नियमों की बंदिश में नहीं बँधना चाहती थी। रोक के बावजूद वह नए कपड़े पहनकर पानी के बर्तन उठाए। अपनी एक चुंदड़ी को कफ़न बनाकर घर वालों को देते हुए उसने कहा कि मरने के बाद मुझे यह चुनरी ओढ़ा देना। गाँव में वह एक ऐसी महिला थी, जिसने ऊँची जाति के कुएँ से पानी भरकर गाँववालों की पाबंदी तोड़ी। भँवरीबाई जब पुलिस में शिकायत खिलवाने गई तो भँवरीबाई ने कहा, ‘मुझे भी गंगाजल दो। मैं गंगाजल लेकर क़सम खाऊँगी।

मैं जो भी कह रही हूँ; सच कह रही हूँ।' उसने गंगा जी लेने के लिए हाथ बढ़ाया। पुलिस ने तब कहा, 'तेरा हाथ लगा तो गंगाजल भी अपवित्र हो जाएगा। [19]

बावजूद इसके दलित महिलाओं ने संघर्ष किया है। भँवरीबाई ने भी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया। उस पर दोहरी मार पड़ी। एक स्वयं अपने समाज की, दूसरे सवर्ण जातियों के लोगों की। एक अन्य दलित विधवा महिला बसमतिया के मालिक ने उसके साथ बलात्कार किया। उसी के पास वह बंधुआ मजदूर थी। बलात्कार से गर्भ ठहर गया था। वह चाहती थी कि मालिक उसे अपना नाम दे। मालिक ने इनकार कर दिया। उसने गुहार लगाई। पंचायत बैठी। फ़ैसला हुआ कि बसमतिया पतित हो गई है।

देखा जाए तो यहाँ अकेली भँवरीबाई या बसमतिया नहीं है। गाँव-गाँव में न जाने कितनी भँवरीबाई व बसमतिया हैं। [20]

कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा :

'कौशल्या, मेरे उच्च शिक्षित पति, लेखक, भारत सरकार में उच्च पद पर सेवारत रहे और स्वतंत्रता सेनानी की पेंशन भी मिली। उस घर में, मैं चालीस वर्ष रही। पति ने कभी कदर नहीं की, बल्कि रोज़-रोज़ के झगड़े, गालियाँ और मारता भी बहुत क्रूर तरीक़े से था। इसलिए मुझे मजबूर होकर घर छोड़ना पड़ा। उसकी बहनों ने बताया था कि वह माँ-बाप तथा पहली पत्नी को भी पीटता था। देवेंद्रकुमार को पत्नी सिर्फ़ खाना बनाने और उसकी शारीरिक भूख मिटाने के लिए चाहिए थी। [21]

पुरुषप्रधान समाज औरतों का खुलापन बर्दाश्त नहीं करता। पति तो इस ताक में रहता है कि पत्नी पर अपने पक्ष को उजागर करने के लिए चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दे। पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज़ हो सकते हैं, परंतु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं को हुए होंगे, परंतु वे समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के समाने उजागर करने से डरती हैं और जीवन-भर घुटन में जीती हैं। समाज की आँखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने आने की ज़रूरत है। [22]

इसके अलावा कुछ दलित महिला लेखिकाओं की रचनाधर्मिता सकारात्मक रूप में भी रही। उन्होंने बाबा साहेब अंबेडकर के संदेश को आम महिलाओं तक पहुँचाने के साथ बच्चों की अच्छी परवरिश तथा शिक्षा की तरफ़ ध्यान दिया। अपने लेखन से भले ही उन्हें प्रसिद्धि प्राप्त न हुई हो, पर दलित समाज में चेतना जगाने के हरसंभव प्रयास उनकी तरफ़ से हुए। उनमें कुसुम मेघवाल (राजस्थान), मीनाक्षी मून (महाराष्ट्र), वीणा हजारिया (कानपुर), जमना बारूपाल (राजस्थान से सांसद), सुलेखा कुमारे (नागपुर से विधायक तथा महाराष्ट्र सरकार में मंत्री), रजनी और हीरा निमगड़े (दिल्ली) मधुमाया जयंत (आगरा) आदि रही हैं।

दलित कवयित्रियों को यह शिकायत है कि, 'उच्च जातियों की स्त्रियों द्वारा चलाए जानेवाला आंदोलन को मिलनेवाली प्रसिद्धि में और दलित स्त्रियों द्वारा चलाए जानेवाले आंदोलन को मिलनेवाली प्रसिद्धि में अंतर हैं। जो प्रसिद्धि मेधा पाटकर द्वारा चलाए गए पर्यावरण आंदोलन को मिली वैसी प्रसिद्धि आंध्र में साधारण स्त्रियों द्वारा चलाए गए शराब-विरोधी आंदोलन को नहीं मिली। [23]

सच कहा जाए तो दलित साहित्य ने उन्हें अपनी आपबीती कहने तथा लिखने की ताक़त दी है। यही नहीं, वे साहित्यिक और सामाजिक आंदोलन की शृंखला से जुड़ने लगी हैं। दलित साहित्य में स्वयं दलित महिलाओं ने दस्तक दी है। दलित समाज के ताने-बाने के बीच उसे अपने वजूद की तलाश रही। उसकी कोशिश में वह लेखिका के साथ समाज-सेविका और राजनीतिज्ञ भी बनीं।

शहरों में दलित औरतें असंगठित क्षेत्रों में जुटी हैं, जैसे अख़बार, धूपबत्ती, कपड़े-लत्ते की फेरी कर बिक्री करना, कबाड़ चुनना, काग़ज़ बीनना, कोयला, लोहा बीनना, चौका-बर्तन करना जैसे असंगठित और उत्पादनक्षेत्र हैं, जो अस्वच्छ और न्यूनतम मूल्य तथा कठोर परिश्रम पर आधारित हैं। दूसरा निर्माण-कार्य, सड़क बनाना, ईंट-भट्टों पर कार्य करना, बीड़ी या खिलौने बनाना सभी कड़ी मेहनत के कार्य हैं। वहाँ भी मशीनीकरण होने से छँटनी होती है। इसलिए दलित महिलाओं को अधिक भागदौड़, अधिक मेहनत करनी पड़ती है। उनके लिए रोटी-रोज़ी जुटाना पहाड़ खोदने से कम नहीं है। ऊपर से यौन-शोषण की समस्या अलग। ऐसी विपरीत परिस्थितियों में वे आंदोलन से जुड़ नहीं पातीं। [24]

संदर्भ

1. डॉ॰ अंबेडकर जन्म शताब्दी स्मारिका, 1992 झाँसी, पृ॰ 77
2. स्मारिका, उपर्युक्त, पृ॰ 79
3. बाबा साहेब ने कहा था, पृ॰ 62
4. दस स्पोक अंबेडकर, खंड-3, संपादन : भगवानदास (1979), नई दिल्ली
5. स्मारिका, 1992, पृ॰ 79
6. अभयकुमार दुबे, आधुनिकता के आईने में दलित, पृ॰ 223
7. नेटिव लाइफ़ इन ट्रावनकोर, पृ॰ 36
8. दलित मूवमेंट इन इंडिया एंड इट्स लीडर्स, पृ॰ 170
9. ट्रावनकोर डिस्ट्रिक्ट गजट, अप्रैल 1992
10. एम॰एन॰ श्रीनिवास, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1996, पृ॰ 28
11. उपर्युक्त, पृ॰ 29
12. अभयकुमार दुबे, आधुनिकता के आईने में दलित, पृ॰ 233
13. मुहंता नैरासी दी ख्यात, भाग-1, पृ॰ 80
14. मारवाड़ के ताऊसर गाँव के माली ने ढेड़ जाति की स्त्री को अपने घर में डाल लिया, इस कारण न्याय (पंचायत) द्वारा उस पर जुर्माना लगाया गया। (जोधपुर सनद परवाना बही नं. 3 वि॰सं॰ 1822, पृ॰ 32, रा॰रा॰अभि॰, बीकानेर, भेरूंदा गाँव के बढ़ाई ने जब ढेड़ जाति की स्त्री को अपने घर डाला तो जातीय पंचायत द्वारा उस पर न्यात-भोजन का दंड लगाया गया। जोधपुर सनद परवाना बही नं॰ 13 वि॰स॰ 1830, पृ॰ 36, रा॰रा॰अ॰ बीकानेर)
15. अभयकुमार दुबे, आधुनिकता के आईने में दलित, पृ॰ 233
16. प्रगति के अंतिम छोर पर खड़ी दलित महिला, आम्ही मैतरणी, मराठी मासिकी, बंबई, अप्रैल-सितंबर 1998, पृ॰ 40

17. राजस्थान के दलितों का मुक्ति संघर्ष, भारतीय सामाजिक संस्थान, नई दिल्ली 2001, पृ॰ 162
18. दलितों को मालूम नहीं कि उनके अधिकार क्या हैं?' हम दलित, नवंबर 1999, नई दिल्ली
19. अभयकुमार दुबे, आधुनिकता के आईने में दलित, पृ॰ 236
20. मणिमाला, एक सफ़र : बसमतिया से भँवरीमाई तक, हंस, नई दिल्ली, नवंबर-दिसंबर, 1994, पृ॰ 174
21. उपर्युक्त, पृ॰ 8
22. दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली 1999, पृ॰ 7
23. तेलुगु साहित्य में दलित दस्तक, उपर्युक्त, पृ॰ 168
24. रजनी, नई आर्थिक नीति और दलित महिला, दलित साहित्य 2001, नई दिल्ली, पृ॰ 235

अस्पृश्यता उन्मूलन के क्रांतिदूत : डॉ० भीमराव अंबेडकर

ललितकुमार, शोधकर्त्ता
डॉ० राजेश कुमार
अध्यक्ष इतिहास विभाग
धर्मसमाज महाविद्यालय, अलीगढ़ (उ०प्र०)

भारतीय समाज में अस्पृश्यता एक ऐसा कलंक है, जिसे विधिक तथा संविधानिक रूप में मिटा तो दिया गया है, किंतु व्यवहार में वह आज भी अनेक रूपों में प्रदर्शित होता है। अस्पृश्यता की उत्पत्ति के अनेक कारण हैं, किंतु स्मृतिकाल में अत्यंत निकृष्ट काम करने वालों को अस्पृश्य कहा गया, जिनको देखना, छूना तथा उनका साया भी सवर्ण हिंदुओं को अपवित्र कर देता था। अस्पृश्यों का एक ऐसा वर्ग विकसित हो गया कि अन्य लोगों ने इसके साथ कोई संबंध नहीं रखा, उन्हें स्पर्श करने के अयोग्य माना गया। निस्संदेह, अस्पृश्यता हमारी समाज-व्यवस्था की एक निकृष्ट बुराई है।

विदेशों में प्राप्त उच्चशिक्षा ने संयमशील व गुणी डॉ० अंबेडकर को इस परंपरागत कुरीति का वैज्ञानिक विकल्प प्रस्तुत करने के लिए तैयार कर दिया था। उन्होंने इस बुराई को जड़ से नष्ट करने के लिए सुनियोजित रूप से संस्थागत आधार पर अभूतपूर्वक आंदोलनों की शुरुआत करके समाज में क्रांति का बिगुल बजा दिया। डॉ० अंबेडकर ने कहा कि 'ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो अस्पृश्यों की दयनीय स्थिति से दुखी हो यह चिल्लाकर अपना जी हलका करते फिरते हैं कि 'हमें अस्पृश्यों के लिए कुछ करना चाहिए।' लेकिन इस समस्या को जो लोग हल करना चाहते हैं, उनमें से शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जो यह कहता हो कि 'हमें अस्पृश्य हिंदुओं को बदलने के लिए भी कुछ करना चाहिए।' यह धारणा बनी हुई है कि अगर किसी का सुधार होना है तो वह अस्पृश्यों का ही होना है। अगर कुछ किया जाना है तो वह अस्पृश्यों के प्रति किया जाना है और अगर अस्पृश्यों को सुधार दिया जाए, तब अस्पृश्यता की भावना मिट जाएगी। सवर्णों के बारे में कुछ भी नहीं किया जाना है। उनकी भावनाएँ, आचार-विचार और आदर्श उच्च हैं, वे पूर्ण हैं, उनमें कहीं भी कोई खोट नहीं है। क्या यह धारणा उचित है? यह धारणा उचित हो या अनुचित, लेकिन हिंदू इसमें कोई परिवर्तन नहीं चाहते। उन्हें इस धारणा का सबसे बड़ा लाभ यह है कि वे इस बात से आश्वस्त हैं कि वे अस्पृश्यों की समस्या के लिए बिलकुल भी उत्तरदायी नहीं हैं। [1] उन्होंने आगे कहा कि–

'सवर्ण हिंदुओं ने अस्पृश्यों के साथ अपने व्यवहार के औचित्य को प्रमाणित करने की बात तो कभी सोची ही नहीं। सवर्ण हिंदुओं का दायित्व तो बहुत बड़ा है, क्योंकि उनके

पास कोई वास्तविक कारण है ही नहीं, जिसके अनुसार वे अस्पृश्यता को उचित ठहरा सकें। वे यह नहीं कह सकते कि कोई व्यक्ति समाज में इसलिए अस्पृश्य है, क्योंकि वह कोढ़ी है या वह घिनौना लगता है। जिसकी खाई को पाटा नहीं जा सकता। वे यह तर्क भी नहीं दे सकते कि अस्पृश्य स्वयं हिंदुओं में घुलना-मिलना नहीं चाहते। लेकिन अस्पृश्यों के संबंध में ऐसी बात नहीं है। अस्पृश्यों को इसलिए दंडित नहीं किया जाता कि वे घुलना-मिलना नहीं चाहते, बल्कि उन्हें इसलिए दंडित किया जाता है कि वे हिंदुओं में घुल-मिल जाना चाहते हैं। अस्पृश्यों की समस्या यह है कि उन्हें अनिवार्य रूप से अलग कर दिया गया है। अस्पृश्यता एक मजबूरी है, पसंद नहीं।' [2]

सन् 1911 की जनगणना के अनुसार, अस्पृश्यों की गणना बाक़ी लोगों से अलग करने के लिए दस मानदंड अपनाए गए। इन मानदंडों के अनुसार जनसंख्या अधीक्षकों ने उन जातियों और कबीलों की अलग-अलग गणना की, जो–

1. ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को नहीं मानते,
2. किसी ब्राह्मण या अन्य मान्यताप्राप्त हिंदू से गुरु-दीक्षा नहीं लेते,
3. वेदों की सत्ता स्वीकार नहीं करते,
4. बड़े-बड़े हिंदू देवी-देवताओं की पूजा नहीं करते,
5. ब्राह्मण जिनकी यजमानी नहीं करते,
6. जिनका कोई ब्राह्मण पुरोहित बिलकुल भी नहीं होता,
7. जो साधारण हिंदू मंदिरों के गर्भ-स्थान में प्रवेश नहीं कर सकते,
8. जिनसे छूत लगती है,
9. जो अपने मुर्दों को दफ़नाते हैं, और
10. जो गोमांस खाते हैं और गाय की पूजा नहीं करते। [3]

इस तरह यह कहा जा सकता है कि 1911 की जनगणना से अस्पृश्यों की संख्या के निर्धारण की शुरुआत हुई। [4]

डॉ॰ अंबेडकर ने कहा कि अस्पृश्यता पर लज्जित होने के बजाए, सवर्ण हिंदू उसे हमेशा उचित ठहराने की कोशिश करते हैं। इसके समर्थन में उनका यह कहना है कि अन्य देशों की तुलना में भारत में ग़ुलाम प्रथा कभी नहीं रही, और यह कि अस्पृश्यता किसी भी दशा में उतनी बुरी नहीं है, जितनी की ग़ुलाम-प्रथा है। इस तर्क का उत्तर तो यही है कि यह कहना सरासर झूठ बोलना है कि हिंदुओं में ग़ुलाम-प्रथा कभी थी ही नहीं। यह तो हिंदुओं की एक अति प्राचीन प्रथा है। इसे हिंदुओं के विधि निर्माता मनु ने मान्यता प्रदान की और उनके बाद उनका अनुसरण करनेवाले अन्य स्मृतिकारों ने इसे व्यापक बनाया और व्यवस्थित रूप दिया। हिंदुओं में ग़ुलाम-प्रथा केवल एक प्राचीन प्रथा के रूप में नहीं थी, जो केवल धुँधले अतीत में प्रचलित रही हो, बल्कि यह तो एक ऐसी संस्था थी, जो भारत के इतिहास में 1843 तक प्रचलित रही और अगर अँग्रेज़ी सरकार इसे उस वर्ष क़ानून बनाकर समाप्त न कर देती, तो शायद यह आज भी प्रचलित होती। [5] हिंदू, अस्पृश्यों को ग़ुलामों की स्थिति से भिन्न उन स्थितियों में अपना मानते हैं, जिनसे उनके स्वार्थ की पूर्ति होती है और जब उन्हें अपने साथ रखने में उनका स्वार्थ आड़े आ जाता है और वे बोझ लगने लगते हैं, तब वे उनको अपना कहने

और अपने बराबर रखने से इंकार कर देते हैं। अस्पृश्य, परतंत्र समाज-व्यवस्था के किसी लाभ के अधिकारी होने का दावा नहीं कर सकते, उन्हें स्वतंत्र समाज-व्यवस्था की सभी मुसीबतों को स्वयं ढोने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है। [6]

हिंदू समाज-व्यवस्था में अस्पृश्यों की सामाजिक स्थिति क्या है? अस्पृश्य किस प्रकार इस समाज-व्यवस्था में रहते हैं या उन्हें किस प्रकार रहने के लिए मजबूर किया जाता है? इसका प्रमाणित उल्लेख डॉ॰ अंबेडकर ने इस प्रकार दिया–प्रत्येक गाँव में अस्पृश्य लोगों की एक अचार-संहिता होती है, जिसका अस्पृश्यों को पालन करना होता है। यह संहिता उन कार्यों को निश्चित करती है, जिनको करने या न करने पर अस्पृश्य लोगों का अपराध माना जाता है। इन अपराधों की सूची निम्नलिखित है–

1. अस्पृश्यों को चाहिए कि वे अपने घर हिंदुओं की बस्तियों से दूर बनाएँ। अगर अस्पृश्य अपने घर दूर बनाने के इस नियम को तोड़ते हैं या उनक अनदेखी करते हैं, तब यह उनका अपराध माना जाएगा।
2. अस्पृश्य लोगों के घर गाँव के दक्षिण में होने चाहिए, क्योंकि चारों दिशाओं में दक्षिण दिशा ही सबसे अधिक अशुभ होती है। इस नियम का उल्लंघन अपराध समझा जाएगा।
3. अस्पृश्य को चाहिए कि वह इस बात का ध्यान रखें कि उसके छू जाने या उसकी छाया से भी पाप लगता है। अगर वह इस नियम को तोड़ता है, तब वह अपराध समझा जाएगा।
4. अगर कोई अस्पृश्य अपने पास किसी भी प्रकार की कोई संपत्ति, जैसे भूमि या पशु रखता है, तब वह अपराध करता है।
5. अगर कोई अस्पृश्य स्वच्छ कपड़े, जूते, घड़ी या सोने के जेवर पहनता है, तब वह अपराध करता है।
6. अगर कोई अस्पृश्य अपने बच्चों के अच्छे नाम रखता है, तब वह अपराध करता है। उनके नाम ऐसे होने चाहिए, जो हीनता-सूचक हों।
7. अगर कोई अस्पृश्य सभ्य लोगों की भाषा बोलता है, तब वह अपराध करता है।
8. अगर कोई अस्पृश्य व्यक्तियों के जैसे चिह्न धारण करता है और अपने को स्पृश्य जैसा प्रदर्शित करता घूमता है, तब वह अपराध करता है।
9. यदि कोई अस्पृश्य किसी हिंदू को प्रणाम आदि नहीं करता, तब वह अपराध करता है। [7]

उपर्युक्त किसी भी नियम का उल्लंघन करना अपराध है। इसके बाद डॉ॰ अंबेडकर ने उन कर्त्तव्यों को उजागर किया, जो इस संहिता के अनुसार अस्पृश्यों को स्पृश्यों के प्रति करने अपेक्षित हैं। ये कार्य निम्नवत् हैं–

1. अस्पृश्य जाति के व्यक्ति को चाहिए कि वह किसी भी हिंदू के घर की घटना, जैसे मृत्यु या विवाह की सूचना दूसरे गाँव में रहनेवाले उसके सगे-संबंधियों तक पहुँचाए, चाहे वह गाँव कितनी ही दूर क्यों न हो।
2. अस्पृश्यों को चाहिए कि हिंदू के घर में विवाह के अवसर पर ऐसे कार्य, जैसे

लकड़ी चीरना या आने-जाने का कार्य करे।

3. अस्पृश्य को चाहिए कि वह हिंदू लड़की के साथ जाए, जब वह अपने पिता के घर से पति के गाँव जा रही हो, चाहे वह गाँव कितनी ही दूर क्यों न हो।
4. सब सारा गाँव बड़े-बड़े त्योहार, जैसे होली और दशहरे के त्योहार की तैयारी कर रहा हो, तब अस्पृश्यों को चाहिए कि वे नौकरों द्वारा किए जानेवाले काम करें जो मुख्य कार्य के पहले किए जाने ज़रूरी होते हैं।
5. अस्पृश्यों को चाहिए कि वे कुछ त्योहारों पर अपनी स्त्रियों को गाँव के बाक़ी लोगों के हवाले कर दें, जिससे वे उनके साथ फूहड़ मज़ाक वग़ैरह कर सकें। [8]

ये काम बिना मजदूरी लिए किए जाने होते हैं। अँग्रेज़ सरकार ने जब दंड-संहिता बनाई, तब उसमें इन अपराधों को शामिल नहीं किया गया। लेकिन जहाँ तक अस्पृश्यों का सवाल है, अपराध अभी भी वास्तविक हैं। [9]

अस्पृश्य अपनी रोजी-रोटी किस प्रकार कमाते हैं, जब तक यह नहीं पता चलता है, तब तक हिंदू-समाज में उनकी हैसियत का स्पष्ट पता लगाना संभव नहीं। एक कृषि-प्रधान देश में जीविका का प्रमुख साधन कृषि हो सकती है, परंतु रोज़ी-रोटी का यह साधन आमतौर से अस्पृश्यों के लिए उपलब्ध नहीं है। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि ज़मीन ख़रीदना उनके वश की बात नहीं, और दूसरी यह कि यदि अस्पृश्य ज़मीन ख़रीदने की स्थिति में है, तो भी वह ऐसा नहीं कर सकता। देश के अधिकांश भागों में हिंदू इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकते कि अस्पृश्य जाति का कोई व्यक्ति ज़मीन ख़रीदकर स्पृश्य जाति की बराबरी का प्रयत्न करे। इसके परिणामस्वरूप अधिकांश भागों में अस्पृश्य भूमिहीन मजदूर रहने के लिए विवश हैं और मजदूर के रूप में वे वाजिब मजदूरी की माँग नहीं कर सकते। वे हिंदू किसानों के लिए उसी मजदूरी पर काम करने को मजबूर हैं, जो उन्हें मालिक देना चाहे। [10]

अस्पृश्यों को उनकी मजदूरी नक़द या अनाज के रूप में दी जाती थी। उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में मजदूरी के रूप में दिया जानेवाले अनाज को 'गोबरहा' कहा जाता था। इसका अर्थ है, जानवरों के गोबर से निकलने वाला अनाज। मार्च या अप्रैल के महीने में जब फ़सल पूरी तरह पक जाती है, तो उसे काटकर खलिहान में फैला दिया जाता है। उस पर बैलों की जोड़ी को चलवाया जाता है ताकि उनके चलने से भूसा अनाज से अलग हो जाए। अनाज पर चलते हुए बैल बहुत सा अनाज खाते जाते थे। जब वे ज़रूरत से ज़्यादा खा लेते थे, तो अनाज को पचाना मुश्किल हो जाता था। अगले दिन वही अनाज गोबर के साथ निकल जाता था और गोबर को इकट्ठा कर लिया जाता था एवं उसमें से अनाज को अलग कर लिया जाता था, यही अनाज मजदूरी के रूप में अस्पृश्य मजदूरों को दे दिया जाता था, जिसे पीसकर वे रोटी बना लेते थे। [11]

सवर्ण हिंदुओं के लिए अस्पृश्य कितना गंदा और साथ में रहने के अयोग्य समझ जाता है, निम्नांकित घटना से स्पष्ट होता है–

'मद्रास होल्म्स कंपनी का एक कर्मचारी हाल ही में मर गया, जो अपने आपको ऊँची जाति का कहता था। जब उसकी चिता को अग्नि दी गई, तो उसके परिवार वालों और वहाँ खड़े लोगों ने उसकी चिता पर चावल फेंके। दुर्भाग्य से उसके दोस्तों में से एक अस्पृश्य भी

था, जो मद्रास का आदि-द्रविड़ था। उसने भी दूसरे लोगों की तरह चिता पर चावल फेंके। इस पर सवर्ण हिंदुओं ने उसे भला-बुरा कहा कि उसने चिता को अपवित्र कर दिया। इस बात पर काफ़ी गरमा-गरमी हुई और बात यहाँ तक पहुँच गई कि दो आदमियों के पेट में चाकू घोंप दिया गया, जो कि अस्पृश्य थे। एक आदमी तो अस्पताल जाते-जाते मर गया और दूसरे की हालत नाज़ुक बताई जाती है।' [12]

अस्पृश्यों के प्रति हिंदुओं के सामाजिक दृष्टिकोण का एक और उदाहरण डॉ॰ अंबेडकर ने दिया, जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती–

नासिक से पहली सितंबर को यह ख़बर मिली कि गाँव के सवर्ण हिंदुओं ने एक अछूत परिवार पर धावा बोल दिया है। एक बुढ़िया के हाथ-पाँव बाँध दिए, उसे लकड़ियों के ढेर पर डाल दिया और उसमें आग लगा दी। यह सब-कुछ इसलिए हुआ कि वे सोचते थे कि गाँव में हैजा इसी की वजह से फैला है।' [13]

सवर्ण हिंदू अस्पृश्यों के साथ ऐसा व्यवहार क्यों करते हैं? इसका उत्तर देते हुए श्री एच॰जे॰ पैटन कहते हैं–'अस्पृश्य लोग हिंदुओं के समाज के नहीं हैं और हिंदू भी यह नहीं समझते हैं कि वे और अस्पृश्य, दोनों एक ही समाज के लोग हैं। यही कारण है कि हिंदुओं में नैतिक दृष्टि से अस्पृश्यों के प्रति कोई चिंता या ममत्व नहीं होता। चूँकि हिंदुओं में इस प्रकार के विवेक का अभाव होता है, इसलिए उनके हृदय में हठधर्मिता और अन्याय के विरुद्ध, जिनसे अस्पृश्य लोग पीड़ित हैं, न्यायोचित रोष उत्पन्न नहीं होता। वे इस हठधर्मिता और अन्याय को ग़लत नहीं समझते और कुछ भी मानने के लिए तैयार नहीं हैं। हिंदुओं में विवेक का अभाव अस्पृश्यता के निवारण के रास्ते में एक बड़ी बाधा है। [14]

अस्पृश्यता अपराध विधेयक पर जोर देते हुए डॉ॰ अंबेडकर ने कहा, 'जो लोग जनजीवन में किसी भी प्रकार की अस्पृश्यता का व्यवहार करते हैं, उनका सामाजिक बहिष्कार भी होना चाहिए, क्योंकि ऐसे असामाजिक तत्त्व अपनी आर्थिक समृद्धि के सहारे गाँवों में अनुसूचित जाति के लोगों को अपने संवैधानिक अधिकारों का उपयोग नहीं करने देते और तरह-तरह के व्यवधान उत्पन्न कर उनका जीवन इतना दूभर कर देते हैं कि वे आज भी अपने स्थाई आवास नहीं बना पाते।' [15]

डॉ॰ अंबेडकर ने अस्पृश्यता का जो अध्ययन, निरीक्षण तथा विश्लेषण किया, वह अत्यंत सारगर्भित समाजशास्त्रीय महत्त्व का है। उन्होंने न केवल संबंधित तथ्यों की खोज की, बल्कि उनके अर्थ एवं प्रयोजन का भी विवेचन किया। डॉ॰ अंबेडकर ने निष्कर्ष निकालते हुए कहा कि, 'अस्पृश्यता तभी दूर हो सकेगी, जब संपूर्ण हिंदू सामाजिक व्यवस्था, विशेष रूप से जाति-प्रथा विलीन हो जाए। यदि जाति-प्रथा विलीन नहीं हो सकती, तब यह आशा किस प्रकार की जाए कि अस्पृश्यता विलीन हो जाएगी।' [16]

संदर्भ

1. डॉ॰ बाबा साहेब अंबेडकर, रायटिग्स एंड स्पीचेज, खंड 5, सं॰ वसंत मून, एजुकेशन डिपार्टमेंट गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र, 1981, पृ॰ 3
2. वही, पृ॰ 5

3. सेंस ऑफ इंडिया, 1911, खंड 1, पृ॰ 117
4. बाबा साहेब डॉ॰ अंबेडकर, संपूर्ण वाङ्मय, खंड 9, पृ॰ 23
5. वही, पृ॰ 26
6. डॉ॰ बाबा साहेब अंबेडकर, रायटिग्स एंड स्पीचेज, खंड 5, पृ॰ 18
7. वही, पृ॰ 21
8. डॉ॰ बाबा साहेब अंबेडकर, रायटिग्स एंड स्पीचेज, खंड 5, पृ॰ 29
9. बाबा साहेब डॉ॰ अंबेडकर, संपूर्ण वाङ्मय, खंड 9, पृ॰ 45
10. वही, पृ॰ 46
11. वही, पृ॰ 46
12. लखनऊ से प्रकाशित 'आदि हिंदू' नामक पत्र में प्रकाशित, दिनांक 19 जुलाई, 1937
13. अलफजल नामक पत्र से उद्धृत, दिनांक 8 सितंबर 1943
14. एच॰जे॰ पैटन, दि गुड विल, पृ॰ 281
15. डॉ॰ अंबेडकर का भाषण, अस्पृश्यता अपराध विधेयक पर सदन में चर्चा, 16 सितंबर, 1954
16. बाबा साहेब डॉ॰ अंबेडकर, संपूर्ण वाङ्मय, खंड 9, पृ॰ 160

भारतीय अर्थव्यवस्था की मूलाधार श्रमिक शक्ति पर डॉ॰ भीमराव अंबेडकर के विचार

रीता सोनकर, शोधकर्त्ता
डॉ॰ राजेश कुमार
अध्यक्ष इतिहास विभाग
धर्मसमाज महाविद्यालय, अलीगढ़ (उ॰प्र॰)

डॉ॰ अंबेडकर भारत के गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी के रूप में जब श्रममंत्री (1942-46) थे, तब वही प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने श्रमिक वर्ग की अनेक समस्याओं की ओर ब्रिटिश सरकार तथा भारतीय जनता का ध्यान आकर्षित किया। भारत सरकार की ओर से आयोजित एक श्रम सम्मेलन में बोलते हुए, डॉ॰ अंबेडकर ने तीन मुख्य उद्देश्यों की ओर सरकार का ध्यान केंद्रित किया–

1. श्रम-क़ानूनों के निर्माण में एकरूपता की अभिवृद्धि
2. औद्योगिक झगड़ों के समाधान-हेतु प्रक्रिया का निर्धारण और
3. अखिल भारतीय महत्त्व के उन तमाम विषयों पर विचार-विमर्श, जो कर्मचारी एवं मालिक के बीच उभरते हैं। [1]

श्रमिक वर्ग के हितैषी होने के नाते, उन्होंने सर्वप्रथम 'श्रम-क़ानूनों की निर्माण-प्रक्रिया में एकरूपता की आवश्यकता' पर अधिक बल दिया ताकि भारत जैसे बड़े देश की प्रादेशिक विधानसभाएँ स्वायत्तता की आड़ में सामान्य तथा राष्ट्रीय महत्त्व के मुद्दों की अनदेखी न कर सकें। जहाँ तक औद्योगिक झगड़ों का संबंध है, इस विषय पर डॉ॰ अंबेडकर ने कहा था कि 'श्रम और पूँजी' कभी परस्पर युद्धरत रहे हों, पर अब समय आ गया है, जब दोनों उत्तरदायित्व की भावना से काम करने लगे हैं। [2] वह चाहते थे कि मजदूर एवं मालिक के बीच झगड़ों का निपटारा ऐसे ढंग से हो कि श्रम अथवा पूँजी किसी की भी हानि नहीं हो, क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र में दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। [3]

डॉ॰ अंबेडकर के अनुसार, श्रम-क़ानूनों से निस्संदेह श्रमिकों की सुरक्षा तथा लाभों में वृद्धि हुई है, किंतु श्रमिकों को यहीं तक संतुष्ट नहीं होना है; उन्हें 'जीवन की न्यायसंगत स्थितियों' की ज़रूरत है। जीवन की न्यायसंगत स्थितियों से क्या तात्पर्य था? इसका उत्तर स्वयं डॉ॰ अंबेडकर ने इस प्रकार किदया है–'श्रमिक वर्ग स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व चाहता है।' [4]

डॉ॰ अंबेडकर ने बहुत ही सकारात्मक ढंग से कहा कि, 'श्रमिक वर्ग के ये ही आदर्श

हैं, वे नई व्यवस्था का निर्माण करते हैं, जिसकी स्थापना ही केवल मानवता को विनाश से बचा सकती है।' [5]

सन् 1942-43 की विद्यमान स्थिति में उन्होंने हिटलर की विचारधारा पर आधारित 'नाज़ी व्यवस्था' का कड़ा विरोध किया, क्योंकि वह भारतीय लोगों की सभ्यता, संस्कृति और अन्य मानवमूल्यों की विरोधी थी। उन्होंने स्पष्ट कहा कि नाज़ीवाद भारतीयों की स्वतंत्रता का सीधा दुश्मन है। उन्होंने नाज़ीवाद को भारतीयों के लिए 'एक सीधा ख़तरा' बताया और कहा कि ऐसी शक्तियों से, जो जनतंत्र, स्वतंत्रता, समता तथा भ्रातृत्व के आदर्शों के कट्टर दुश्मन हों, निरंतर सावधान रहना चाहिए। [6]

नई व्यवस्था के अंतर्गत डॉ॰ अंबेडकर ने 'फ्रांस की क्रांति' को उचित स्थान दिया और कहा कि नए युग तथा व्यवसाय की जड़ें इसी क्रांति में निहित हैं।[7] डॉ॰ अंबेडकर ने श्रमिक वर्ग को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से देखा। उन्होंने श्रमिक वर्ग के लिए 'महँगाई भत्ता' की पुरज़ोर सिफ़ारिश की, जिसे सरकार ने सहर्ष स्वीकार किया। उन्होंने 'युद्धकालीन चोटें' (क्षतिपूर्ति बीमा) बिल' पास करवाया ताकि मालिकों पर यह उत्तरदायित्व आए कि युद्ध के समय श्रमिकों को होनेवाली शारीरिक चोटों के बदले क्षतिपूर्ति मिले और उनका बीमा भी हो ताकि संकटकाल में मुआवजा मिल सके। चूँकि सरकार समस्त श्रमिक वर्ग की देखभाल नहीं कर सकती, इसलिए मालिकों पर भी विशेष उत्तरदायित्व डाला जाए। अत: बीमा-व्यवस्था का सुचारू ढंग से संचालन करने के लिए उन मालिकों को पहचाना जाए, जो उनकी बीमा किश्तों को देते रहें अथवा उन्हें वसूल किया जा सके। इस व्यवस्था की स्थापना के लिए सभी पक्षों से भारी समर्थन मिला। [8] श्रमिक वर्ग के कल्याण की ही शृंखला में अंबेडकर ने कुशल एवं अर्द्धकुशल श्रमिकों के रजिस्ट्रेशन लिए 'रोज़गार कार्यालय' खोलने की व्यवस्था करवाई और खानों में काम करनेवाली महिलाओं को 'मेटरनिटी लाभ' भी सुलभ करवाए।[9]

सितंबर, 1943 के एक सम्मेलन में डॉ॰ साहेब ने 'सामाजिक सुरक्षा' को अत्यधिक महत्त्व दिया। सामाजिक सुरक्षा नीति का उन्होंने निर्धारण करवाया और कहा–'बहुत लंबे समय से यह विश्वास ठोस होता आया है कि औद्योगिक समस्याओं और श्रम-कल्याण की समस्याओं का समाधान उस समय तक नहीं हो सकता, जब तक तीनों पक्ष–सरकार, मालिक और मजदूर एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायित्व की भावना विकसित न कर लें।' [10]

डॉ॰ अंबेडकर ने सामाजिक सुरक्षा और श्रम प्रतिनिधित्व के बीच अपृथक संबंध बतलाया और कहा कि इन अधिकारों को इस प्रकार व्यावहारिक बनाया जाए ताकि आम आदमी समझ सके अर्थात् श्रमिक को 'शांति, एक मकान, पर्याप्त वस्त्र, शिक्षा, अच्छा स्वास्थ्य, और इन सबसे ऊपर संसार के महान मार्गों पर, पतन के भय से मुक्त होकर, गरिमा-सहित चलने का अधिकार मिले।' [11]

डॉ॰ साहेब चाहते थे कि श्रमिकों का सामाजिक स्तर एक सम्मानजनक अस्तित्व में परिवर्तित हो, मात्र भोजन, वस्त्र तथा आवास की पर्याप्तता से ही काम न चलाएँ। उन्हें एक इंसानियत का जीवन प्राप्त होना चाहिए।[12]

डॉ॰ अंबेडकर ने श्रमिकवर्ग द्वारा 'ट्रेड यूनियन' बनाने का भारी समर्थन किया। वह

न केवल ट्रेड यूनियनवाद, बल्कि संपूर्ण भारत में ठोस सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन के लिए एक व्यापक श्रम-आंदोलन चलाने के पक्ष में थे, जो मजदूरों को इकट्ठा करके राज्यसत्ता पर काबिज हो ताकि निर्धन, निरक्षर तथा कमज़ोर मजदूरों का कल्याण हो। डॉ॰ अंबेडकर ने खेतिहर श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी पर भी बल दिया। लेकिन उनका कहना था कि श्रमिकवर्ग को स्वतंत्र पूँजीवाद से सावधान रहकर, सरकारी तंत्र का संचालन-नियंत्रण व्यवस्था द्वारा करवाना चाहिए। [13]

डॉ॰ अंबेडकर न केवल पुरुष श्रमिकों, अपितु महिला श्रमिकों की समस्याओं के प्रति भी बड़े जागरूक थे। वह एक ऐसे श्रमिक नेता थे, जिन्होंने महिलाओं को सम्मानजनक स्थान दिया और कहा कि, 'महिलाओं को भी वही मजदूरी मिलेगी, जो पुरुषों को मिलती है।' कोयला खानों में अंदर काम करनेवाली महिलाओं को उन्होंने बराबरी का हक दिलवाया और कहा कि 'मैं सोचता हूँ कि ऐसा सर्वप्रथम हुआ है कि किसी उद्योग में उस सिद्धांत को मान्यता मिली है कि किसी लिंग-भेद के बिना समान काम के लिए समान वेतन मिले।' [14] डॉ॰ अंबेडकर ने श्रमिकों के स्वास्थ्य, बीमा, प्रावधायी फंड, श्रम-कल्याण समितियों आदि का समुचित प्रबंध करवाया।

श्रमिक वर्ग के कल्याण एवं संगठन की दृष्टि से, डॉ॰ अंबेडकर ने श्रमिक हड़ताल का समर्थन भी किया। डॉ॰ अंबेडकर के अनुसार, श्रम के संदर्भ में इसका अर्थ मात्र 'सेवा अनुबंध का उल्लंघन' है, जो एक अपराध नहीं, मात्र एक 'नागरिक दोष' है। डॉ॰ अंबेडकर की दृष्टि से, हड़ताल गैरक़ानूनी नहीं है, बल्कि श्रमिक वर्ग की दयनीय स्थितियों को सुधारने और ध्यानाकर्षण करने का एक प्रभावशाली ढंग है। [15] उन्होंने स्पष्ट किया—'ध्यान में यह बिंदु रखना है कि यह सब-कुछ उन मुद्दों तक सीमित रहे, जो सार्वजनिक सुरक्षा और समुदाय के जीवन के लिए अति आवश्यक हैं। यही दृष्टिकोण सदैव रहा है कि यदि आप हड़ताल के अधिकार पर प्रतिबंध लगाना और उसे गैरक़ानूनी बनाना चाहते हैं, तो आपको उन्हीं सेवा के संदर्भ में ऐसा करना है, जिन पर समाज का जीवन आश्रित है।'[16] किसी भी जनतांत्रिक व्यवस्था में यदि श्रमिकवर्ग के हितों को नज़रअंदाज किया जाता है तो निश्चय ही श्रमिकों को संघर्ष करना चाहिए। [17]

डॉ॰ अंबेडकर ने श्रमिकों के ट्रेड यूनियन अधिकार, संगठन एवं शर्तों का पूर्णत: समर्थन किया और सरकार के सभी स्तरों पर उनके प्रतिनिधित्व को आवश्यक बतलाया।

डॉ॰ अंबेडकर ने अपने समस्त आर्थिक सुधारों में, चाहे वह औद्योगीकरण हो, राष्ट्रीयकरण या फिर कृषि फार्मिंग, उन पददलित, निर्धन एवं कमज़ोर वर्गों को केंद्रबिंदु बनाया, जो सदियों से दरिद्रता तथा विकट अभावग्रस्त जीवन जी रहे थे। वह नहीं चाहते थे कि श्रमिकवर्ग अपने मालिकों की क्रूर शर्तों पर और अस्वस्थ स्थितियों में काम करें अथवा सम्मानजनक जीवन न जीएँ। इसलिए डॉ॰ अंबेडकर ने श्रम-संघ तथा हड़ताल के अधिकार दिलाए। वह श्रमिकवर्ग के लिए न केवल भारत में ही एक ऐसा सम्मानजनक सामाजिक जीवन चाहते थे, जो आर्थिक तंगी एवं भय से मुक्त हों, और जिसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, संगठन, वस्त्र, आवास, सांस्कृतिक, आमोद-प्रमोद तथा संबंधित सुख-सुविधाएँ हों, अपितु संसार-भर में वह ऐसा चाहते थे ताकि श्रमिकों की विश्व-सत्ता में भागीदारी बने। ये सभी विचार आज भी इतने

महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक हैं कि उन्हें किसी अर्थव्यवस्था में उपेक्षित करना न्यायसंगत नहीं होगा।

संदर्भ

1. डॉ॰ बाबा साहेब अंबेडकर, रायटिंग्स एंड स्पीचेज, खंड 10, पृ॰ 13-14
2. वही,
3. वही,
4. वही, पृ॰ 36
5. वही, पृ॰ 37
6. वही, पृ॰ 38
7. वही, पृ॰ 36
8. वही, पृ॰ 69
9. वही, पृ॰ 78
10. वही, पृ॰ 101
11. वही, पृ॰ 105
12. वही
13. वही, पृ॰ 112
14. वही, पृ॰ 143
15. डॉ॰ बाबा साहेब अंबेडकर, रायटिंग्स एंड स्पीचेज, खंड 10, पृ॰ 201-214
16. वही, पृ॰ 215
17. वही, पृ॰ 216

संस्मरण

अनन्य हिंदीसेवी : डॉ॰ प्रतीक मिश्र

डॉ॰ नीरू रस्तोगी
रीडर हिंदी विभाग
डी॰ए॰वी॰ कालेज, कानपुर (उ॰प्र॰)

धामपुर की धरा में 15 अगस्त 1949 को जन्म लेकर शिखरों की ऊँचाइयों को नापकर घाटी में भ्रमण करनेवाले गीत यायावर, कानपुर ही नहीं देश की समकालीन गेय कविता के प्रमुख हस्ताक्षर डॉ॰ प्रतीक मिश्र की वाणी की श्रीकृष्ण 'शलभ' जी की पुस्तक का विमोचन करने सहारनपुर जाते हुए मार्ग में ही मौन हो गई। कानपुरवासियों ने जब यह समाचार सुना तो पूरा शहर शोकमग्न हो गया। दैव दुर्विपाक से ऐसी अमांगलिक सूचना सुनकर कई दिनों तक विश्वास ही नहीं हो पा रहा था कि भाई प्रतीक मिश्र जी का भौतिक शरीर अब हमारे बीच नहीं है। उनके असमय निधन से कानपुर की सृजन-परंपरा को बहुत बड़ी क्षति पहुँची है। इस समय वे अपने रचनाकर्म के शिखर पर थे। पूरे देश में उनकी कविता की निजी पहचान बन रही थी। मंचीय कविता के पुरोधा साहित्यकार के रूप में वे स्थापित हो चुके थे। विभिन्न साहित्यिक, सामाजिक सरोकारों से गहरा जुड़ाव होने के कारण तमाम साहित्यिक व सामाजिक संगोष्ठियाँ उनकी संचालन-क्षमता व विषय-संयोजन की अभूतपूर्व प्रस्तुति से अत्यंत शोभनीय बन जाती थीं। ऐसे अद्‌भुत प्रतिभासंपन्न डॉ॰ प्रतीक मिश्र जी थे। साहित्य व समाज से जुड़े कार्यक्रमों में वे ऐसी रस-सृष्टि करते थे कि श्रोता अंत तक उससे बँधा रहता था। सामाजिक जीवन से अंतरंग जुड़ाव के कारण कानपुर महानगर के अधिकांश कार्यक्रमों में उनकी सक्रिय भागीदारी रहती थी। इसीलिए उनके न रहने पर लगातार आठ दिनों तक पूरे शहर की साहित्यिक, सामाजिक, संस्थाओं द्वारा शोकसभाओं का सिलसिला चलता रहा। पूरे महानगर की शायद ही कोई ऐसी संस्था हो, जिसने उनके न रहने पर अपनी शोक-संवेदना अभिव्यक्त न की हों।

यूँ तो अपनी सर्जनात्मक शक्ति के माध्यम से डॉ॰ प्रतीक मिश्र जी ने काव्य, समीक्षा, बाल-साहित्य, चित्रकला, पत्रकारिता व संगीत आदि सभी विधाओं व कलारूपों को सजाया, सँवारा और निखारा, किंतु कानपुर की साहित्यिक परंपरा की वे ऐसी मशाल थे, जिसकी रोशनी में न जाने कितने चिराग़ रोशन हुए। नवोदित कवियों की रचनाएँ पूरे मनोयोग से सुनना, ठीक करना और छपवाना जैसे उनके लिए शगल था। अपने संपर्क में आनेवालों को वे बराबर लिखने-पढ़ने के लिए प्रेरित करते रहते थे और किसी भी प्रकार का कोई सहयोग माँगे और उनकी सामर्थ्य में है तो वे तुरंत चल देते थे। इसीलिए उनका हम सबके बीच से अचानक चले जाना बहुत पीड़ादायक लगा। जो जितना सर्वप्रिय होता है, उसका न रहना उतना ही कष्टदायक लगता है। कानपुर की क्या पूरे साहित्य-जगत के लिए प्रतीक जी का न रहना एक अपूरणीय क्षति है।

विभिन्न साहित्यिक, सामाजिक संस्थाओं के निर्माण में, उनको आगे बढ़ाने में उनकी

सक्रिय भागीदारी रहती थी। अनेक प्राचीन संस्थाएँ जो कोष व कार्यकर्ताओं के अभाव में दम तोड़ रही थीं, उनको प्रतीक जी ने अपनी सूझबूझ व संगठन-क्षमता से जीवन प्रदान किया और उनके तत्त्वावधान में अनेक साहित्यिक कार्यक्रम कराए। ऐसी दो संस्थाओं की साक्षी मैं स्वयं हूँ। वर्ष 1923 में स्थापित हिंदी साहित्य मंडल को प्रतीक जी ने जीवनदान दिया। उसके कई वर्ष महामंत्री रहे और अनेक आयोजन किए। तुलसी जयंती व प्रतापनारायण मिश्र जयंती प्रति वर्ष मनाई गई। इसी प्रकार 'अनुरंजिका' संस्था 1959 में स्थापित हुई थी, इसको जीवनदान देकर अमरेश महोत्सव मनाया और बैसवाड़े के पूरे क्षेत्र के 52 साहित्यकारों को सम्मानित किया तथा 9 गोष्ठियों का संचालन व संयोजन किया। अत्यंत कम साधनों में किया गया यह बहुत अभूतपूर्व व ऐतिहासिक आयोजन था और भाई प्रतीक जी की संगठन व आयोजन-क्षमता की अद्‌भुत मिसाल था। पूरे कानपुर महानगर के लोग लगातार तीन दिन तक चलने वाले कविसम्मेलन का आनंद लेते रहे। इसी प्रकार 'कानपुर के कवि' पुस्तक के लोकार्पण-समारोह में 60 वर्ष से अधिक आयु के 11 साहित्यकारों को सम्मानित किया था, झंडागान के रचयिता पद्‌मश्री श्यामलाल गुप्त पार्षद जी की जन्म शताब्दी पर भी प्रतीक जी ने सप्त दिवसीय समारोह का संयोजन व संचालन किया। कानपुर की ललित कला संस्था 'चिकितुषी' के कला-मेलों के आयोजनों में भी उनकी सक्रिय भागीदारी रहती थी।

कानपुर की विभिन्न सामाजिक, साहित्यिक व कला-संस्कृति से संबंधित संस्थाओं में उनका जुड़ाव बराबर बना रहा, जो कि उनकी समाज-सेवा की भावना के द्योतक हैं। कानपुर की 'माध्यम' संस्था के वे 12 वर्ष तक अध्यक्ष रहे। इसके अतिरिक्त 'कुल हिंदी-उर्दू समिति' के अध्यक्ष रहे। 'उपनिषद' संस्था के प्रतीक जी संस्थापक व अध्यक्ष रहे हैं। इनके अतिरिक्त 'समवाय', 'साहित्यायन', 'सांगीतिका', 'विकासिका', 'बृहस्पति' आदि संस्थाओं में उनकी बराबर सक्रियता बनी रहती थी। देश की बालसेवी संस्था 'भारतीय बाल कल्याण संस्थान' के भी वे 12 वर्षों तक महामंत्री रहे, जो कि उनके बालक प्रेम का परिचायक है। समाज-सेवा की भावना के कारण ही उन्होंने 'भारत सेवक समाज' की अगुआयी में दहेज विरोधी जुलूस निकाला और संगोष्ठियाँ कीं। कई वर्षों तक प्रतीक जी ने अँग्रेज़ी हटाओ आंदोलन की भी अगुआकारी की। 1 जनवरी 1990 को भारतीय विक्रम नव संवत्सर की ओर ध्यानाकर्षण करके उससे संबंधित कार्यक्रमों को प्रारंभ करवाया और कानपुर महानगर के निगम में हुए चुनावों में सभासदों की ख़रीद-फरोख़्त का पुरज़ोर विरोध करते हुए 'थू-थू' अभियान चलाया तथा लोकतंत्र के प्रहरी की भी भूमिका अदा की। आचार्य कुल के माध्यम से आचार्य शक्ति को जाग्रत करने का भी प्रयास किया। गांधी जी की संस्था 'सर्वोदय' के द्वारा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के विरुद्ध धन को विदेश ले जाने की भावना के प्रवाह में मोर्चा खोला। जनता के बीच रहकर कार्य करने के कारण उनको अपने प्रत्येक अभियान में जनसहयोग व सफलता प्राप्त होती थी। इसका एकमात्र कारण उनका सामाजिक सरोकारों से गहरा जुड़ाव था। उनके समाजनिष्ठ कार्यक्रमों को देखकर अनेक लोग उससे स्वयं जुड़ते चले जाते थे। इसलिए अपने प्रत्येक अभियान में उनको सदा सफलता प्राप्त होती थी। खाद्य पदार्थों में मिलावट के विरुद्ध समय-समय पर धरने और प्रदर्शन का भी वे अकसर नेतृत्व करते थे।

रचनाकर्मी के रूप में प्रतीक जी की कृतियों की लंबी फेहरिस्त है। कविता, समीक्षा,

पत्रकारिता, बालसाहित्य आदि विविध विधाओं में उनकी सर्जना-शक्ति को देखा जा सकता है। उनकी प्रकाशित कृतियाँ हैं– पोर-पोर टूटन (गीत); काँटे और गोखरू (सामाजिक यथार्थबोध की कविताएँ); ख़ुशबुओं के घर में (ग़ज़ल-संग्रह); शब्दों की वल्गाएँ (गीत); विरहवीथी (उद्धव-गोपी प्रसंग विषय सवैया काव्य); मन गोकुल ह्न्वै जाय (भक्तिविषयक पद); दमक उठे संसार (बालगीत); हौलू जी (शिक्षाप्रद व्यंग्य-प्रधान बाल-कविताएँ); हिंदी-पत्रकारिता : सिद्धांत और प्रयोग; अनुरंजिका : एक सर्जनात्मक संज्ञा (संस्था का इतिहास); विद्यापति; कबीर; जायसी; सूरदास; तुलसीदास; काव्यशास्त्र एवं साहित्यालोचन; पृथ्वीराजरासो पद्मावती समय; सुभद्राकुमारी चौहान; कक्का किक्की कुक्कू (शिशुगीत); अन्त्याक्षरी (शिशुगीत); गीत सुधियों के; शिखर-शिखर घाटी-घाटी (गीत); धम्म धमाका का भाग 1; आग; आग नई (बालगीत); नन्ही कलियाँ नन्हे गीत; जय-जय-जय गोपाल।

लगभग एक दर्जन से भी अधिक कवियों की पुस्तकों का संपादन करके उन्हें प्रकाशित करवाया और इतनी ही कृतियों का स्वयं परिश्रम करके कृतिकारों की पुस्तकों में प्रकाशन सहयोग किया और 6 अभिनंदन-ग्रंथों का स्वयं संपादन किया। इस प्रकार साहित्य- संपादन से लेकर उसके प्रकाशन तक का पूरा कार्य कर आपने हिंदी के प्रति समर्पण-भाव को आजीवन मूर्त रूप प्रदान किया। प्रतीक जी के प्रतिदिन के क्रियाकलापों से प्रत्यक्ष रूप से परिचित होने के कारण हम सभी विभागीय सदस्य उनसे थोड़ा विश्राम करने की सलाह आत्मीयतावश देते थे, किंतु उनको तो कम समय में बहुत अधिक कार्य करने थे और जितना अधिक परिश्रम उन्होंने साहित्य के लिए किया, वह सदा स्मरणीय रहेगा। उनकी साहित्यिक व समाजसेवा के लिए कानपुर ही नहीं, प्रदेश के विभिन्न नगरों व उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा उनको पुरस्कृत किया। सम्मान देने की शृंखला, सर्वप्रथम 1973 में 'मानस संगम' से प्रारंभ होती है। 1975 में 'श्रमभारती' कानपुर; 1976 में 'बासंती' कानपुर; 1987 में 'भारतीय संगीत तथा ललित कला विद्यापीठ' से काव्य-शिरोमणि की उपाधि; 1990 में बृहस्पति कानपुर से ध्रुवाक्ष पुरस्कार; 1990 में करवाती परमार्थ परिषद; 1990 में श्री बालकृष्ण प्रभु शुद्धाद्वैत महासभा षष्ठपीठ सूरत से स्वर्ण चंद्रक; 1990 में कन्हैयालाल प्रागदास स्मारक समिति लखनऊ से साहित्यश्री; 1990 में सुभाष चिल्ड्रेन सोसाइटी से सम्मानित; 1991 में ज्योतिष योग पालिका सम्मान; 1992 में सांगीतिका कानपुर से श्रीपदक; 1993 में भारतीय बालकल्याण संस्थान द्वारा पुरस्कृत; 1994 में दुर्गाप्रसाद दुबे हिंदीसेवा पुरस्कार; 1994 में श्री साईंदास बालूजा साहित्यकला अकादमी सम्मान; 1995 में पंडित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' स्मारक संस्थान सम्मान; 1995 में जीवन विकास संस्थान में सम्मान; रोटरी क्लब कानपुर से 1997-98 का विशिष्ट सेवा सम्मान; 1998 में बालसाहित्य संस्कृति कला विकास संस्थान नगर बाज़ार बस्ती से सम्मानित; 1998 में साहित्यिक-सांस्कृतिक कला संगम अकादमी परियावां प्रतापगढ़ से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी सम्मान; 1998 में 'हस्ताक्षर' कानपुर से पाँच हज़ार रुपए का चमेलीदेवी महेंद्र पुस्कार; 1998 में जिगर एकेडमी से पाँच हज़ार रुपए का हिंदी-उर्दू सद्भावना पुरस्कार; 1998 में लायंस क्लब इंटरनेशनल से उत्कृष्ट शिक्षा सेवा सम्मान; उ॰प्र॰ हिंदी संस्थान से 1999 में 20 हज़ार रुपए का श्रीधर पाठक पुरस्कार; 2001 में दाऊ जी मेला हाथरस में अमरचंद बाँठिया ब्रजभाषा पुरस्कार; 2001 में पंडित बेनीमाधव माना स्मृति संस्थान से सहस्राब्दि कला निधि अलंकरण; 2003 में मनीषिका कोलकाता से सम्मानित; नारायणदत्त तिवारी हिंदी भवन

गंगपुर कानपुर द्वारा 2005 में 'साहित्य रत्नाकर' की उपाधि; सांस्कृतिक संसद कानपुर द्वारा 2005 में महामहोपाध्याय उपाधि; 2005 में पंडित गोरेलाल त्रिपाठी कलानिधि सम्मान; 2003 के लिए 2005 में उ॰प्र॰ हिंदी संस्थान से 25000 रूपए का विश्वविद्यालय स्तरीय सम्मान; 2006 में इंडियन आलटरनेटिव मेडिकल एसोसिएशन सम्मान; 2006 में भारतीय स्टेट बैंक स्थापना दिवस साहित्यकार सम्मान; 2007 साहित्यमंडल श्रीनाथद्वारा में 'ब्रजभाषा विभूषण' उपाधि; 2007 में डा॰ ब्रजकिशोरी दुबे हिंदीसेवा सम्मान; 2007 में मैमूना खातून स्मृति बालसाहित्य पुरस्कार; गजेंद्रनाथ चतुर्वेदी स्मृति ब्रजभाषा साहित्य साधना सम्मान; 2008 में बाल-प्रहरी द्वारा सुमित्रानंदन पंत स्मृति सम्मान। ये सभी सम्मान डॉ प्रतीक मिश्र की निर्हेतुक भाव से हिंदी व साहित्य और समाज के प्रति प्रतिबद्धता के परिचायक हैं। वे सच्चे कर्मनिष्ठ, लगनशील और अनन्य सेवाभावी थे। उन्होंने जिस विधा का स्पर्श किया, उसको अपनी संवेदनशीलता और गहरी अंतर्दृष्टि से रूपाकार प्रदान कर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। 'पोर-पोर टूटन' नामक काव्य-संग्रह में 'अँधेरे से लड़ा हूँ' कविता की पंक्तियाँ उनकी मनःस्थिति की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करती हैं–

आज क्या? मैं हमेशा गहरे अँधेरे से लड़ा हूँ,
युगों से इंसानियत के लिए हिम्मत से खड़ा हूँ,
मुझे इतिहास भूले और चाहे याद रक्खे–
जानता हूँ मैं कि औसत आदमी से मैं बड़ा हूँ। (पृ॰ 36)

उनकी रचनाओं में प्रस्तुत मानवतावादी दृष्टि ने उनकी कविताओं के फलक को व्यापकता प्रदान की है। उन्होंने जो जीवन जिया, उसी को अपनी कृतियों में उतारा! सच्चे रचनाकर्मी का दायित्वबोध उनकी कृतियों में बराबर प्रकट होता रहा है। 'काँटे और गोखरू' की 'सुई-धागा' कविता में 'दैनन्दिन जीवन के अत्यंत देशज बिंब के माध्यम से बड़ी बात कहने की सामर्थ्य उनकी रचना शक्ति की परिचायक है–

'खुशबू को/हिस्सों में/मैंने कभी बाँटा नहीं,/अपनों को/अपने से/मैंने कभी काटा नहीं/हर बँटवारे से/दूर-दूर/भागा हूँ/कैंची नहीं हूँ मैं/सिर्फ़ सुई-धागा हूँ/ (पृ॰ 79)

डॉ॰ प्रतीक मिश्र ने मुक्तिबोध व नागार्जुन की परंपरा को यदि एक ओर अपनी कविता में जीवित रखा और समकालीनता से जुड़े रहे तो दूसरी ओर विस्मृत होती 'रत्नाकर' की ब्रजभाषा-परंपरा को भी पुनर्जीवन प्रदान किया। उनकी सृजनशक्ति अद्‌भुत थी। 'शब्दों की बाल्गाएँ' नामक गीत-संग्रह में अपनी रचनाधर्मिता के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है–

गीत हमारे जाग रहे हैं
गीत हमारे बोल रहे हैं
क्या है झूठ और क्या सच है
गीत भेद सब खोल रहे हैं।
कौन भला है, कौन बुरा है,
अपने गीतों से न छिपी है
शोषण की चक्की की घर-घर। (पृ॰ 39)

जिस प्रकार समकालीन यथार्थबोध से उनकी रचनाएँ लबालब भरी हुई हैं, उसी प्रकार कानपुर स्कूल की कविता-परंपरा की विभिन्न धाराओं का संस्पर्श उनकी रचना-सामर्थ्य का

द्योतक है। सृजन के प्रति अनन्य समर्पण होने के कारण उनकी कविता बहुरंगी है। 'विरहवीथी' में एक ओर ब्रजभाषा का नया रंग देखने को मिलता है तो दूसरी ओर राधा जी के विरह-संतप्त हृदय का कारुणिक दृश्य उनकी सृजन-सामर्थ्य का द्योतक है—

जेती बरैगी बियोग की आग जे,
नेह की बल्लरी और हु फूलिहै।
मोहन की वह मोहनी मूरति,
औरहु नैनन सामुहै झूलिहै।
बात बिसारिबे की? यह बातहि,
प्रानन में धँसि औरहु हूलिहै।
ऊधौ! सुनौ कबौं भूलिहू तै वह,
साँवरो स्याम भुलाए न भूलिहै। (पृ॰ 45)

इसी प्रकार स्मृति संचारीभाव को लेकर 51 गीतों की रचना 'सुधियों के गीत' हैं, जिसमें सुधियों से सुरभित असंख्य भाव-निर्झर प्रवाहित हो रहे हैं और कानपुर नगर की गीत-परंपरा को अक्षुण्ण बनाने के लिए कृतसंकल्प-से प्रतीत होते हैं। गीत-रचना की दृष्टि से और रागात्मिका वृत्तियों के उन्मेष की दृष्टि से यह कृति डॉ॰ प्रतीक मिश्र के अंतर्तम में सहेजे हुए एकांतिक और निर्वैयक्तिक मन की अभूतपूर्व अभिव्यक्ति है। पाठकों को रससागर की अतल गहराइयों में डुबोकर गोते लगाने को मजबूर करनेवाली ये कृति है—

जीने को तो जीता ही हूँ, खंडित सुरभि कथाएँ,
सुधि के आवरणों में लिपटीं अनगिन मूक व्यथाए।
यदि वह पल फिर जी सकता तो कितना अच्छा होता।
समय खींचता आगे पर मन पीछे-पीछे खींचे,
कोई कोमल भाव प्राण-विरवा मधु-रस से सींचे
यदि वह मधु-रस पी सकता तो कितना अच्छा होता।
यदि वह पल फिर जी सकता तो कितना अच्छा होता। (पृ॰ 49)

नि:संदेह इस लघु लेख में डॉ॰ प्रतीक मिश्र की बहुआयामी और बहुमुखी प्रतिमा का आकलन करना अत्यंत असंभव सा प्रतीत हो रहा है। उनके साथ विभाग में कार्य करते हुए लगभग 21 वर्षों का समय व्यतीत हुआ है और बीते हुए हर पल में उनके सृजनशील मन की निरंतर अनुभूति हुई है। वे सबके बहुत अंतरंगी होते हुए भी सदा निस्संगता का जीवन जीते थे। अपने चित्रों में भी कूँची के माध्यम से उन्होंने जो रंग भरे, वह उनके रागी और विरागी दोनों तरह के मन की अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रतिक्षण नित्य-नवीन सृजन के लिए आकुल-व्याकुल मन अति व्याप्ति का स्पर्श करने के लिए अचानक आकाशगामी हो गया और हम सबको छोड़ गया उनके अति छोर को पकड़ने के लिए जो कि बहुत निकट होकर भी अति दूर है और हाथों में आते-आते छूट जाता है।

❐ 22, **न्यू चंद्रविहार**
132 **के॰वी॰ सब स्टेशन के सामने**
आज़ादनगर, कानपुर (उ॰प्र॰)

समीक्षा

बालसाहित्य के प्रतिमान : एक श्रेष्ठ संदर्भ ग्रंथ

विनोदचंद्र पांडेय 'विनोद'

संप्रति हिंदी बालसाहित्य की विविध विधाओं का व्यापक, सर्वांगीण एवं श्रेष्ठ विकास हो रहा है। बाल-रचनाकार बाल-कविता, बाल-कहानी, बाल-नाटक, बाल-उपन्यास, बाल-जीवनी, बाल-पहेली आदि विविध विधाओं में सृजन कर बाल-साहित्य की निरंतर सम्यक् समृद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। बाल-साहित्य-समीक्षा हिंदी बालसाहित्य की एक प्रमुख विधा है। इस क्षेत्र में भी समीक्षकों का योगदान प्रशंसनीय है। बाल-साहित्य-समीक्षा-संबंधी अनेक ग्रंथों का लेखन और प्रकाशन हो चुका है। इसी शृंखला में सुधी समीक्षक, सुयोग्य प्रवक्ता और सफल बाल-साहित्यकार की कृति 'बालसाहित्य के प्रतिमान' को एक सुदृढ़ कड़ी के रूप में मान्यता प्राप्त होगी।

पुस्तक को तीन खंडों में विभक्त किया गया है 1. अभिज्ञान, 2. प्रतिमान, 3. अनुमान। अभिज्ञान के अंतर्गत बालसाहित्य मतलब, बालसाहित्य समीक्षा का स्वरूप, बालसाहित्य समीक्षा की विकास-यात्रा, बालसाहित्य समीक्षा के प्रमुख स्तंभ शीर्षक अध्याय सम्मिलित किए गए हैं। प्रतिमान के अंतर्गत बाल-काव्य के प्रतिमान, बाल कथा-साहित्य के प्रतिमान, बाल-नाटक के प्रतिमान तथा अन्य विधाओं के प्रतिमान शीर्षक अध्यायों का समावेश है। अनुमान खंड के अंतर्गत बाल-साहित्य का भविष्य शीर्षक अध्याय समाविष्ट है।

खंडों और अध्यायों के शीर्षकों से बाल-साहित्य समीक्षा के व्यापक और विस्तृत विषय वैविध्य का आभास मिलता है। स्वयं लेखक का निम्नलिखित कथन पूर्णतया समीचीन और सारगर्भित प्रतीत होता है–

'ऐसी पुस्तक की एक लंबे समय से आवश्यकता उद्घाटित की जा रही थी, जिसमें विस्तारपूर्वक बाल-साहित्य के प्रतिमानों का सोदाहरण विवेचन हो। प्रस्तुत पुस्तक की रचना इसी दिशा में एक विनम्र और अनंतिम प्रयास है। मैंने बिना किसी पूर्वाग्रह के समय-समय पर बालसाहित्य के विद्वानों, लेखकों, समीक्षकों, संपादकों, अनुसंधित्सुओं द्वारा व्यक्त महत्त्वपूर्ण मंतव्यों तथा प्रणीत मानकों का आश्रय लेते हुए बाल-साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित प्राय: सभी विधाओं के प्रतिमान प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।'

निस्संदेह डॉ॰ नागेश पांडेय 'संजय' को बाल-साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित प्राय: सभी विधाओं के प्रतिमान प्रस्तुत करने में वांछित सफलता प्राप्त हुई है।

संजय जी ने सभी विचारणीय विषयों का विवेचन कुशलतापूर्वक किया है। उन्हें बाल-साहित्य के विविध पक्षों का विशेष ज्ञान है। वह बाल-मनोविज्ञान, बाल-प्रकृति, बाल-स्वभाव और बालरुचि के भी मर्मज्ञ हैं। बाल-साहित्य का उन्होंने गहन अध्ययन

गंभीरतापूर्वक किया है तथा वह स्वयं भी बाल-साहित्य की विविध विधाओं के समर्थ और सक्षम रचनाकार हैं। अत: इन विशेषताओं का अनुपम प्रभाव उनके श्रेष्ठ लेखन में परिलक्षित होता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण की कला में उन्हें कौशल प्राप्त है।

डॉ॰ नागेश पांडेय ने सरल, सुबोध, परिष्कृत, प्रांजल एवं परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग किया है। भाषा विचारानुकूल एवं विषयानुकूल होने के कारण सहज संप्रेषणीय हो गई है। उनकी लेखनशैली तो आकर्षक है ही, उनके प्रस्तुतीकरण का ढंग भी उत्तम है।

उनके समीक्षा-ग्रंथ के संबंध में लब्धप्रतिष्ठ बाल-साहित्यकार प्रकाश 'मनु' का अभिमत यथार्थ एवं तथ्यपरक है–'ख़ुशी की बात यह है कि डॉ॰ नागेश पांडेय 'संजय' की दृष्टि खुली है तथा बाल-साहित्य के विविध विवेचकों, विश्लेषकों और आलोचकों में से किसी एक के प्रति झुकाव प्रदर्शित किए बिना, उन्होंने उपलब्ध सामग्री और तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालने और उन्हें संयत, निरपेक्ष ढंग से कहने में दिलचस्पी ली है। इस लिहाज से उनके इस ग्रंथ की सफलता असंदिग्ध है। बाल-साहित्य के प्रतिमानों पर चूँकि काम अभी हुआ ही नहीं है और डॉ॰ 'नागेश' ने अपने शोध के ज़रिए इस क्षेत्र में पहलक़दमी की है, इसलिए उनका काम महत्त्वपूर्ण है। बाल-साहित्य के पुरोधा डॉ॰ राष्ट्रबंधु का विचार भी सत्य पर आधारित है–'डॉ॰ नागेश पांडेय 'संजय' ने ... सालों जुटे रहकर बाल-साहित्य का अनुशीलन किया, उन्होंने प्रतिमान तैयार किए, क्योंकि साहित्य के प्रतिमानों से काम नहीं चल रहा था। ... उन्होंने बाल-साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की है।'

डॉ॰ नागेश पांडेय 'संजय' द्वारा लिखित 'बालसाहित्य के प्रतिमान' बालसाहित्य के प्रणेताओं, जिज्ञासुओं, इतिहासकारों, विद्यार्थियों, शोद्यार्थियों और समीक्षार्थियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। ऐसा श्रेष्ठ संदर्भ-ग्रंथ साहित्य-जगत को भेंट करने के लिए 'संजय' जी हार्दिक बधाई के पात्र हैं। आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि इस कृति का यत्र-तत्र-सर्वत्र सहर्ष स्वागत होगा। ग्रंथ की उपयोगिता निर्विवाद है।

बाल-साहित्य के प्रतिमान; डॉ॰ नागेश पांडेय 'संजय'; प्रथम संस्करण 2009; मूल्य 300.00 रुपए; प्रकाशक: बुनियादी साहित्य प्रकाशन, रामकृष्ण पार्क अमीनाबाद, लखनऊ (उ॰प्र॰)

❒ **सी** 10, **सेक्टर जे, जागृति विहार**
अलीगंज, लखनऊ 226024 **(उ॰प्र॰)**

समीक्षा

‘बातें कुछ अनकही’ की कुछ अनकही बातें

डॉ॰ जगदीश चंद्र ‘इंदु’

कवि विश्व का अद्‌भुत प्राणी है। उसका जीवन उपकार का जीवन है। वह गिरे हुए को उठाता है, रोती हुई आँखों के आँसू पोंछता है और निराशावादियों के लिए आशा का दिव्य दीपक जलाता है। प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद ने कहा है, ‘कवि वह सपेरा है, जिसकी पिटारी में सर्पों के स्थान पर हृदय बंद होते हैं।’ कवि की कृति सृष्टि का सौंदर्य है, कविता ही सृष्टि का सुख है और कविता ही सृष्टि का जीवन-प्राण है। कविता का बाना पहनकर सत्य और भी चमक उठता है। कविता सुखी और उत्तम मनुष्यों के और सुखमय क्षणों का उद्‌गार है। कविता देवलोक के मधुर संगीत की गूँज है। वास्तव में कवि सत्येंद्र गुप्ता जी की कविता जीवन रूपी सागर के मंथन से उपलब्ध एक ऐसा रत्न है, जिसकी आभा जीवन के सत्य को सर्वत्र उजागर कर रही है।

गुप्ता जी की लेखनी का फलक बड़ा ही व्यापक है, उसमें विविध भावों की सुरम्य घाटी के दर्शन होते हैं। कवि की संवेदनशीलता, साफ़गोई और सूक्ष्म दृष्टि की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जाता। उनकी कविताएँ किसी वाद या निश्चित विचारधारा की मुहताज नहीं हैं। यह कहने में संकोच नहीं है कि उनकी कविताओं में नई कविता की झलक देखने को मिलती है। इस संग्रह की कविताएँ छंदमुक्त हैं। यही कारण है कि कवि की लेखनी पर किसी प्रकार का बंधन नहीं है। उन्होंने जो भी कहा है, वह ईमानदारी से कहा है। कवि ने अपनी लेखनी चलाते समय किसी प्रकार का कोई छली चेहरा या लबादा नहीं ओढ़ रखा है।

‘बातें कुछ अनकही’ अवश्य हैं, परंतु कवि ने उन्हें भोगा है और अनुभव किया है। शब्द जब तक कविता का रूप धारण नहीं करते, तब तक कवि उन्हें अपने हृदय की सरिता में डुबकी नहीं लगवाता है। गुप्ता जी ने शब्दों के साथ खिलवाड़ नहीं की है, वरन् कुशल शिल्पी की तरह उन्हें अपने हृदय का वाहन बना लिया है।

शाश्वत प्रतिभा के धनी कविवर सत्येंद्र गुप्ता जी ने ‘बातें कुछ अनकही’ काव्य-संग्रह के माध्यम से जनमानस में ऐसी सुगंधि फैलाई है कि उससे जीवन को नई परिभाषा मिली है। आशु कवि सत्येंद्र जी का यह काव्य-संग्रह जीवन के विविध पक्षों को अभिव्यक्त करता है। सत्येंद्र जी की कविता में इस उम्र के पड़ाव पर भी ताज़गी है। कारण, उनकी पवित्र और मोहक सृजनशीलता है। इस विषय में उन्होंने माली के शब्दों में संग्रह के आरंभ में ही अपने मन की बात कह दी है–

आज मैं स्वयं को युवा महसूस करता हूँ, क्योंकि मैं सृजनशील हूँ।
नए-नए बीज रोपित कर, नए पौधे लगाकर

इस बगीचे की पहचान और शान बनाए रखता हूँ।
बसंत आने पर मैं नई पंक्तियों, नए फूलों को खिलते देखता हूँ।
तो भूल जाता हूँ–मैं बूढ़ा हो गया हूँ।

गुप्ता जी ने सृजनशीलता को विशेष अहमियत दी है। आप सृजन को प्रेम, सुंदरता और निर्माण का माध्यम मानते हैं। आपने स्पष्ट शब्दों में कहा है–

जीवन को प्रेम करने का यही एकमात्र तरीक़ा है
कि अधिक-से-अधिक सृजन किया जाए
सच तो यही है कि सृजन से ही दुनिया सुंदर है
जो सृजन की क्षमता लिए हैं उनकी अलग ही पहचान होती है
क्योंकि वे निर्माण कर सकते हैं।

कवि सत्येंद्र जी के इस संग्रह की प्रथम कविता ममतामयी माँ को समर्पित है। तभी तो कवि ने कहा है–

प्रथम स्वर्ण रश्मियों के/ रथ पर बैठकर
माँ, तुम धीरे से आती हो
मेरे सिरहाने बैठ/ मेरे नर्म बालों को
अपनी कोमल अंगुलियों
से सहलाती हो।

कवि ने इस संग्रह की 'आस्था' कविता में भी माँ के प्रति श्रद्धा सुमन अर्पित किए हैं। कवि के इस संग्रह की कविताओं की एक विशिष्टता यह है कि इसमें जीवन के तीनों पड़ाव मुखरित हुए हैं–बचपन, युवावस्था और वृद्धावस्था।

सत्येंद्र जी ने इस काव्य-संग्रह की 'खिलौना कार चाबी वाली', 'बचपन', 'बच्चों के मुख से' आदि अनेक कविताओं में बच्चा बनकर बाल्यावस्था के विविध चित्र अंकित किए हैं–

उत्सुकता लिए नन्हे-नन्हे बच्चे
प्यारे-प्यारे अनोखे से प्रश्न पूछते हैं
उत्तर पाने की प्रतीक्षा में
उनके चेहरे का कौतूहल
देखने लायक़ होता है।

गुप्ता जी ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को अपनी कविता में अंकित किया है। आपकी 'मुसाफ़िर' कविता में जीवन का शाश्वत सत्य उजागर हो उठा है। हम सभी इस संसार की राह में एक मुसाफ़िर के अलावा कुछ नहीं हैं। कवि ने कहा है–

सब मुसाफ़िर हैं यहाँ/ मैं हूँ ... या आप
सफ़र पूर हुआ/ चलो ख़त्म हुआ
अपना भी मेल-मिलाप।

इंसान अपने को बहुत-कुछ समझता है, परंतु जब समय उसे आईना दिखाता है तो उसे अपनी असली औक़ात का पता चलता है। 'असलियत' कविता में कवि ने इसी सत्य का

उद्घाटन किया है–

वह जो/ ऊँचाइयों पर ऊँचाइयाँ चढ़ता रहा
ख़ुद को/ बेहतरीन समझने का ग़म
उसे खा गया।
बदलते वक़्त ने/ असलियत का आईना दिखाया
तो एक बहुत/ अदना-सा इंसान बनकर रह गया।

'सिलवटें' कविता में गुप्ता जी ने जीवन का यथार्थ प्रतीकों के माध्यम से बड़ी ख़ूबी के साथ व्यक्त किया है–

चेहरे पर पड़ी सिलवटें
तो अच्छी लगने लगती हैं
उम्र-भर समेटते-समेटते
उनसे मोहब्बत होने लगती है
वह पल-पल कटती
उम्र के अनुभव को बयाँ कर जाती हैं
देखने वालों की आँखों में नहीं चुभतीं।

कवि के मन में प्रेम की टीस, दर्द और पीड़ा अपना डेरा डाले हुए है। तभी तो वह कराहट के साथ कहता है–

आँखें जलने लगीं
तड़पकर रह गया/ मेरा वजूद जो आँसुओं में भीगा था
मैंने तो
तेरे दामन से आँसू पोंछे थे
नहीं मालूम था/ वह शराब में गीला था।

यही भावना कवि की 'चाय मीठी-मीठी-सी' कविता में भी प्राप्त हुई है। कविवर सत्येंद्र जी ने अपनी 'अंतिम पड़ाव' कविता में जीवन की विवशता, कराहट, निरीहता और सच्चाई को शब्द दिए हैं–

जिन हाथों को पकड़कर
कभी चलना सिखाया था
आज उन्हीं हाथों का सहारा
ढूँढ़ते हैं बेसहारा रहकर।
जीवन की साँझ में
इससे बड़ा दर्द और क्या होगा
अंतिम पड़ाव काट रहे हैं
ग़ैरों के सहारे रहकर।

'बातें कुछ अनकही' काव्य-संग्रह की कविताओं से यह पता चलता है कि कवि अपने युग के प्रति सजग है। इसीलिए उसकी कविताओं में युगबोध के साकार दर्शन होते हैं।

आज 'नेत्रदान' महादान माना जाता है। गुप्ता जी भी इसी भावना से प्रेरित होकर अपनी

कविता 'ख़ूबसूरत आँखें' में एक चौदह वर्षीय लड़की के माध्यम से एक आशावादी संदेश देते हुए नेत्रदान की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं–

यदि कैंसर
मेरी आँखों की नसों में नहीं फैला
तो मैं नेत्रदान अवश्य करूँगी।
मेरा जीवन किसी काम न आ सका
पर किसी नेत्रहीन को ज्योति
अवश्य दे जाऊँगी।

कवि ने 'इंसाफ़' कविता में आज की ज्वलंत समस्या भ्रष्टाचार पर तीखा व्यंग्य किया है–

भ्रष्टाचार ने सारी हदें लाँघते हुए
मुझे फिर से शर्मसार किया है
अब तो न्यायपालिका भी अछूती नहीं रही
सरेआम, द्रोपदी की इज़्ज़त लूटनेवाले
भारी रिश्वत देकर
बरी हुए घूम रहे हैं।
फिर किसी द्रोपदी को
दाँव पर लगाने की सोच रहे हैं।

आज सब-कुछ बदल गया है। नवीनता के नाम पर प्राचीन संस्कृति की होली जला दी गई है। कवि ने इस सत्य को अपनी 'आधुनिकता' कविता में चित्रित किया है–

सादगी नग्नता की बगलें झाँकने लगी,
बदलाव हर स्तर पर आता चला गया
पहनावे में, सोच में
निजी ज़िंदगी के नज़रिए में भी।

कवि ने 'बहू चाहिए, बेटी नहीं' कविता में 'भ्रूण हत्या' जैसी चर्चित समस्या का चित्रण किया है। 'मुक्ति पार्टी' कविता में तलाक की समस्या देखने को मिलती है।

'मानवता' कविता में कवि ने बेबसी का मानवीकरण करते हुए, यह बात कह दी है, जो शासनतंत्र की बिगड़ी दशा की पोल खोलती है। जो राजनेता देश को चलाते हैं, वे विश्वास करनेयोग्य नहीं हैं। वे अपनी स्वार्थी, लालची और निकृष्ट कुचालों से जातिवाद, संप्रदायवाद तथा दुर्भावनाओं का ज़हर फैला रहे हैं। जब वे लंबे-चौड़े भाषण झाड़ते हैं तो यूँ लगता है कि कोई नगरवधू पतिव्रता का उपदेश दे रही है। यही कारण है कि देश की जनता आज नेताओं को नफ़रत और हिकारत की नज़र से देखती है।

'ज़िंदगी मौत' कविता में दार्शनिक की तरह मौत ज़िंदगी से कहती है–

एक अहसान भी है
मेरा तुझ पर
यदि मैं न आती रहती

तो पृथ्वी पर
आज इतनी जगह भी नहीं मिल पाती
कि तू एक साँस भी ले पाती।

'रिश्ते' कविता में कवि ने आज के टूटते रिश्तों की सच्चाई बयान की है–

सहजकर रखने की कला
भूल चुके हैं
अब तो डर है कि तीसरी पीढ़ी
कुछ दिनों तक
आज रिश्तों को याद तो कर लेती है
आनेवाले समय में
मैगी-सूप रेडीमेड खाने की तरह
रेडीमेड बच्चे अपनाने वाली संस्कृति
जब प्रचलन में आ जाएगी
तो क्या रेडीमेड बच्चों वाली पीढ़ी
रिश्तों को कभी पहचान भी पाएगी।

सत्येंद्र जी के इस काव्य-संग्रह की कविताओं में अनुभूति या भाव की दृष्टि से प्रेम, मानवता, प्रगतिशीलता, संवेदना, यथार्थता, आशावाद, व्यंग्यात्मकता, युगबोध, वर्तमान त्रासदी, अपूर्व जिजीविषा आदि अनेक विशिष्टताओं के दर्शन होते हैं।

गुप्ता जी के इस काव्य-संग्रह की कविताओं का अनुभूति पक्ष जैसा उत्कृष्ट बन पड़ा है, वैसा ही अभिव्यक्ति-पक्ष भी सबल और प्रौढ़ है। यदि यह कहें कि कवि ने इसे नई भंगिमा प्रदान की है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। कवि का भावपक्ष बिना किसी आडंबर और चमत्कार के साकार हुआ है।

कवि की भाषा सरल, सहज, सपाट, रोज़मर्रा के जीवन में बोली जाने वाली उर्दू प्रधान खड़ीबोली है।

अंत में मैं स्वयं महसूस करता हूँ कि गुप्ता जी का 'बातें कुछ अनकही' कविता-संग्रह अनकही बातों को कहने में पूर्ण समर्थ है। इस काव्य-संग्रह का आस्वादन करने के पश्चात ऐसा नहीं लगता है कि कवि का यह प्रथम काव्य-संग्रह है। कवि ने इसमें जो कुछ कहा है, वह अभी तक के उसके जीवन का सार है। कवि की इस कृति को पढ़कर पाठक अवाक् रह जाता है। इस रचना के लिए गुप्ता जी साधुवाद के पात्र हैं। आशा है, कवि की यह अनुपम कृति हिंदी-साहित्य में मील का पत्थर सिद्ध होगी।

बातें कुछ अनकही; सत्येंद्र गुप्ता; प्रथम संस्करण 2009; मूल्य 200.00 रुपए; प्रकाशक: हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰)

❐ कल्लूगंज
नजीबाबाद (उ॰प्र॰)

शोध संदर्भ-5

संपादक

डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

डॉ॰ मीना अग्रवाल

'शोध-संदर्भ' के अब तक प्रकाशित चार खंडों में उपाधिपरक हिंदी-शोध के आरंभ से सन् 2003 तक स्वीकृत शोधप्रबंधों का वर्गीकृत विवरण दिया गया था। अब शोध-संदर्भ-5 भी प्रकाशित हो गया है, जिसमें सन् 2003 के बाद स्वीकृत शोधप्रबंधों का वर्गीकृत विवरण सम्मिलित किया गया है।

ग्रंथ में विवरण निम्नलिखित क्रम में प्रकाशित किए गए हैं–

1. शोधकर्ता का नाम
2. जन्मतिथि
3. शोध का विषय
4. विश्वविद्यालय का नाम
5. उपाधि वर्ष
6. निदेशक का नाम व पता
7. प्रकाशन का विवरण
8. पता

इस विशिष्ट ग्रंथ का मूल्य 895 रुपए है, किंतु शोध-निदेशकों, हिंदी-प्राध्यापकों तथा शोध-छात्रों को यह ग्रंथ मात्र 450 रुपए में दिया जा रहा है।

ग्रंथ की प्रतियाँ सीमित संख्या में प्रकाशित की गई हैं। अत: निराशा से बचने के लिए अपना आदेश तथा धनराशि का बैंक ड्राफ्ट हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर के नाम यथाशीघ्र निम्न पते पर भेजिए। सी॰बी॰एस॰ शाखाओं के चैक स्वीकार्य होंगे।

हिंदी साहित्य निकेतन
16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ.प्र.)
01342-263232, 09368141411